

दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा





निबन्धा—मुकुन्दशर्म्मोपाध्यायो मोतीलालशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
जयपुरनाभिजनः

स्थ 

खण्डचतुष्टयात्मक "भारतीय-हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" निबन्धान्तर्गत

"दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा"

नामक

चतुर्थखण्ड

४



निबन्धा-मोतीलालशर्म्मोपाह्वो-यः कश्चिदपि

मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः

वेदवीथी-पथिकः, जयपत्तनाभिजनः

★ ★ ★

(पुनःप्रकाशनाधिकार एकमात्र निबन्धा से ही अनुप्राणित)

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा प्रकाशित

एवं

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा-जयपुर के द्वारा मुद्रित

★ ★ ★

प्रथमवार ५०० प्रति



श्रीः

संस्थान की ओर से प्रकाशित-ग्रन्थसूची—

(ले० मोतीलालशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः)

१—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पञ्चम-खण्ड २०)

२—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड .... १५)

३—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड ... . १५)

४—भा० हि० निबन्धान्तर्गत-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड १२)

५—वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम् (संस्कृत-निबन्ध) .... १॥)

६—भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... . १॥)

७—वेद का स्वरूप-विचार ... . २)

८—क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रण) .... २॥)

९—दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... २५)

१०—शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथमखण्ड .... २५)

११—राष्ट्रपतिभवनानुगत-व्याख्यानपञ्चक ★ ... ... ६)

(१)—सम्वत्सरमूला अग्नीषोमविद्या (प्रथमव्याख्यान)

(२)—पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या (द्वितीय „)

(३)—'मानव' का स्वरूप-परिचय (तृतीय „)

(४)—'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ „)

(५)—वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम „)

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक-राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान

(दुर्गापुरा जयपुर-राजस्थान)

★ राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से अनुगत

श्रीः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के

प्रधान-संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मानपूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

श्रीमान् की सशक्ता संरक्षता से समन्वित तत्त्वशोधसंस्थानने अपने प्रक्रान्त वर्षत्रयात्मक स्वल्पकाल में राष्ट्र के जनतन्त्र, एवं सत्तातन्त्र के सहयोग से भारतराष्ट्र की ज्ञान–विज्ञानसमन्विता, श्रुति–स्मृति–पुराणमूला प्राच्य–सांस्कृतिक–तत्त्वानुसंधान-की दिशा में अनुमानतः ५००० (पाँच हजार) पृष्ठों का जो मौलिक-साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया है, उसका प्रमुख श्रेय श्रीमान् की सांस्कृतिक–प्रेरणा से ही अनुप्राणित है। यद्यपि अपनी आर्थिक–सीमाओं के अनुबन्ध से निर्म्मित-साहित्य के अनुपात से अभी कार्य्य 'नहीं' के समान ही होपाया है। तथापि संस्थान की ऐसी आस्था है कि, महामहिम की अव्यर्था प्रेरणा से शीघ्र ही संस्थान अपने इस 'प्राच्य--साहित्यिकयज्ञ' में पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा, इसी आशा–प्रतीक्षा के साथ 'दिग्देश–कालस्वरूपमीमांसा' नामक प्रस्तुत सहस्रपृष्ठात्मक प्रकाशन कृतज्ञता–पूर्वक संस्थान की ओर से महामहिम राष्ट्रपति की सेवा में अत्यन्त विनय–पूर्वक समर्पित होरहा है अपने राष्ट्रपति की शतायुः--कामना के साथ।

समर्पकः—नम्रः

मोतीलालशर्म्मोपाह्वः–यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
(संस्थानाध्यक्षः)

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर)
द्वितीय–श्रावणशुक्ल–तृतीया, रविवासर
वि० २०१५

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग-द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है—



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
दिनांक 30 अगस्त 1958

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
यदुनाथसिंह
(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–नुगत–'किञ्चिदिव–प्रास्ताविकम्'

की

संक्षिप्ता–विषयसूची–परिच्छेदात्मिका

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'नुगत-"किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्"

की

संक्षिप्ता-विषयसूची

१–ब्रह्म, संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार–आयोजन, शास्त्र, धर्म्म, आदि निष्ठ भी भारतीय मानव की त्रिसहस्रवर्षानुगता दिग्देशकालनिबन्धना उत्पीड़न–परम्परा ३

२–आत्मचिन्तननिष्ठ भी भारतीय हिन्दूमानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक अधःपतन, एवं .... तत्सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान के लिए आतुर इस धर्म्म- .... भीरु भारतीय मानव का कलियुगानुगत युगधर्म्म के प्रति सर्वस्वार्पण ४

३–युगधर्म्मविमूढ, अतएव दिग्देशकालपीड़ित भारतीय मानव ५

४–दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक लाभों से वञ्चित, अतएव पीड़ित भारतीय मानव, एवं तात्कालिक लाभों से समन्वित, अतएव समुत्पीड़ित विश्वमानव .... ,,

५–मानवानुबन्धिनी-प्रश्न–सम्प्रश्न–परम्पराओं की सनातना, एवं तत्समाधानमूला अन्तर्वेदना ,,

६–भारतीय हिन्दू मानव के सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों के समाधान से ही विश्वमानव के दिग्देशकाल-निबन्धन प्रश्नों का भी सम्भावित समाधान ६

७–आत्मयोगनिष्ठा से पराङ्मुखा क्षणिकं–शून्यं–दुःखं–लक्षणा अनात्मभावना से अनुप्राणिता दिग्देशकालनिबन्धना दुःखपरम्परा से आर्त्त भारतीय मानव .... ,,

८–त्रिसहस्रवर्षावधि में समुद्भूत–आविर्भूत नवग्रह–ग्राहात्मक एतद्देशीय नवविध उद्बोधक–विवेचक महाभागों का नाम--संस्मरण ७

९--परदर्शनमूला दिग्देशकालनिबन्धना प्रत्यक्षप्रभावात्मिका 'भावुकता' से उत्पीड़ित त्रिसहस्रवर्षात्मक भारतीय भावुक-हिन्दू-मानव .... ,,

१०--सत्तातन्त्रसापेक्षतामूलक दिग्देशकालव्यामोहन से व्यामुग्ध भारतीय मानव का सांस्कृतिक--निष्ठाओं से पारम्परिक पतन .... ,,

११--भावुकतानुगता आचारस्खलनात्मिका 'कर्त्तव्यकर्म्मविस्मृति' से ही भारतीय मानव का त्रिसहस्र-वर्षात्मक पतन ८

१२--वेदशास्त्रसिद्ध, सत्तानिरपेक्षतामूलक महान् उद्बोधनसूत्र ९

१३--ज्ञान-क्रिया--अर्थमय, मनःप्राणवाग्रूप ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मब्रह्म, एवं नामरूप–कर्म्ममय पाञ्चभौतिक विश्व का तदाश्रितत्त्व .... ,,

१४–अकारात्मका मन, उकारात्मक प्राण, एवं मकारात्मिका वाक् की समष्टिरूप आत्मब्रह्म, तथा तद्वाचक--'प्रणवोङ्कार' १०

१५--मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' की उ-अ-अच् लक्षणा सर्वरूपता, एवं वागब्रह्म की सर्वव्यापकता···· १०
१६--मनःप्राणवाङ्मय वागब्रह्म का निःश्वासरूप यत्--जू--ऋक्-सामात्मक--अपौरुपेय--तत्त्ववेद, एवं तत्स्वरूप--विश्लेषक शब्दात्मक वेदशास्त्र ११
१७--सद्घन, अतएव असद्रूप 'ऋषि' नामक मनोगर्भित--वाङ्मय प्राणतत्त्व का सृष्टिकर्तृत्त्व, तथा मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी प्रजापति, एवं आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी प्रजापति का संस्मरण १२
१८--मनोमय-ब्रह्म-मित्र, तथा प्राणमय क्षत्र-वरुण की क्रतु, दक्षता, तन्निबन्धन अध्यात्म, और अधिदैवत--विवर्त्त, एवं ब्रह्म--मित्र--विश्वेदेव--निबन्धना ब्राह्मण--क्षत्रिय--वैश्यमूला प्रकृतिसिद्धा चातुर्वर्ण्यव्यवस्था ... ... ,,
१९--सृष्ट्यारम्भदशानुगत ब्रह्मात्मक मित्र--क्रतु, तथा क्षत्रात्मक वरुण--दक्ष का पार्थक्य, एवं सृष्टि--कर्म्मनिरोध १३
२०--क्षत्र--वरुणात्मक दक्ष से पृथग्भूत ब्रह्म--मित्रात्मक क्रतु की स्वरूप--स्थिति का, एवं ब्रह्म--मित्रा--त्मक--क्रतु से पृथग्भूत क्षत्र-वरुणात्मक दक्ष की असमृद्धि, तथा स्वरूपरक्षा--विच्युति का दिग्दर्शन ... . ,,
२१--ब्रह्म, और क्षत्र का पार्थक्य, तन्निबन्धन सृष्टिकर्म्मव्यवस्थाओं का विरोध एवं, तन्निराकरण के लिए क्षत्र की ब्रह्म के प्रति शरणागति ... . ,,
२२--क्षत्र के द्वारा प्रणतभाव से ब्रह्म का आमन्त्रण १५
२३--ब्रह्म की अनुग्रहात्मिका स्वीकृति से ब्रह्म--क्षत्र का समन्वय, तद्द्वारा तत्र ब्रह्म--मित्र की प्रमुखता, एवं 'मैत्रावरुणग्रह' का आविर्भाव ... ... ,,
२४--प्रकृतिसिद्धा ईश्वरकृता वर्णचतुष्टयी, एवं संस्कारसिद्धा ऋषिकृता 'वर्णव्यवस्था' .... ,,
२५--अभिगन्ता--पथप्रदर्शक ब्रह्ममित्र से समन्वित कर्त्ता--पथानुवर्त्मा क्षत्रवरुण की स्वरूप-स्थिति, एवं समृद्धि, तथा तदनुबन्धी उद्बोधनात्मक आदेश (ब्रह्म के प्रति) १६
२६--तत्त्वमीमांसानुगत आदर्शवाद, तथा आचारमीमांसानुगत यथार्थवाद, एवं--तत्त्वानुगत 'दर्शन', और आचारानुगत 'धर्म्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र १७
२७--धर्म्म और दर्शन का महान् मौलिकभेद, दार्शनिकवाद के निग्रह से धर्म्म का अभिभव, तत्स्थाने च काल्पनिक मतवादों का आविर्भाव, एवं भारतराष्ट्र के पारम्परिक अधःपतन के ... प्रमुख कारण .... ,,
२८--सौर--चान्द्र--पार्थिव--भावत्रयानुबन्धी--सत्यं--शिवं--सुन्दरं--लक्षण प्रजापत्य--विश्व--सौन्दर्य्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद, एवं तदनुगता आचारशून्या दार्शनिक--प्रज्ञा १८
२९--काल्पनिक अध्यात्मवाद के महान् विमोहन के द्वारा विश्वसौन्दर्य्य की पराङ्मुखता .... ,,
३०--ब्राह्मणग्रन्थों की तत्त्वविज्ञान, तथा तदनुगत--आचार--भाव--निबन्धना सहजशैली, एवं--'उपनिषत्' शब्द का रहस्यार्थ--समन्वय .... ,,
३१--तत्त्वमीमांसात्मिका 'उपनिषत्' से समन्विता आचारमीमांसा, एवं तदनुप्राणित दश कण्डिकात्मक मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण १९

३२- 'गुहानिहित' ब्राह्मण, 'सौर्य्यमारुतिक' क्षत्रिय, तथा 'वातातपिक' वैश्य, एवं तन्निबन्धना स्वतन्त्र-निष्ठाओं का स्वरूप--दिग्दर्शन १६
३३--गुहानिहित ब्राह्मण की अराजन्यता से अनुप्राणित श्रौत--उद्बोधनसूत्र का तत्त्वार्थसमन्वय, एवं राजन्य की ब्राह्मण--सापेक्षता का दिग्दर्शन २०
३४--श्रौत उद्बोधनसूत्र के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक सम्प्रश्न २१
३५--'राजा कालस्य कारणम्' मूला परिवर्त्तनशीला युगव्यवस्था, एवं प्रकृतिसिद्धा नित्या युगचतुष्टयी का स्वरूप--दिग्दर्शन ... . ,,
३६--प्रति--मानवानुगता अवस्था--भेदभिन्ना चतुर्युगव्यवस्था का स्वरूप--दिग्दर्शन २२
३७--स्वनिष्ठा से पराङ्मुख भावुक भारतीय मानव की 'दुग्धधौतन्याय' मूला परत्र दोषस्थापन--प्रवृत्ति का मलीमस इतिवृत्त .. .. ,,
३८--परदोषारोपणप्रवृत्ति से अनुप्राणित भारतीय मानव की व्यावहारिकी लोकभाषा का भावुकतापूर्ण स्खलन २३
३९--भाषास्खलन के कतिपय उदाहरण, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी नैष्ठिक उदाहरण ... ,,
४०--युगधर्म्मानुगत कालिक परिवर्त्तनों की सहजगति .... ,,
४१--ब्राह्म--अहोरात्रानुबन्धी कलियुग का मापदण्ड, एवं तन्निबन्धना युगभोगव्यवस्था के सम्बन्ध में भावुक मानव से प्रश्न २४
४२--त्रिंशत् (३०) चत्वारिंशत् (४०) वर्ष-पूर्वानुगत सत्य-धर्म्मा युग के, एवं तदुत्तरभावी वर्त्तमान युग के आत्यन्तिक परिवर्त्तन के माध्यम से तथोक्त प्रश्न की दुरधिगम्यता .. ,,
४३--त्रिंशद्वर्षात्मक वर्त्तमानयुग से अनुप्राणिता दानवता का नग्न चित्रण, एवं तद्द्वारा कलियुग का उपहास ... . ,,
४४--भावुकता से आक्रान्त भारतीय ब्राह्मण का अधःपतन, एवं तत्प्रज्ञास्खलन से ही राष्ट्र की अभिभूति २५
४५--भावुकतोत्पत्ति का मूलकारणान्वेषण-प्रयास, एवं तदनुबन्धिनी 'मैत्रावरुणग्रहश्रुति' ... ,,
४६--'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों से अनुप्राणिता प्रजापति की दो विभिन्ना सृष्टियों का स्वरूप--दिग्दर्शन २६
४७--प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजाति का संस्मरण, एवं उस के अमृत--मर्त्य--भावों का स्वरूप--दिग्दर्शन .. .. ,,
४८--पुरुषप्रजापति की रस--बला--नुबन्धिनी सोलह कलाएँ .... ,,
४९--षोडशकला--समन्वित षोडशी का संस्मरण २७
५०--'नासदासीन्नो सदासीत्' मूलक सदसद्विलक्षण प्रजापति, और अनुगमवचन .... ,,
५१--प्रजापति की 'समब्रह्मता', तदनुबन्धी 'सम्' उपसर्ग, एवं तन्निबन्धन--समता--समत्त्व--साम्य--एकभाव--आदि समत्त्वप्रतिपादक शब्द २८
५२--षोडशीपुरुषप्रजापति की अव्यय-अक्षर-क्षर-मूला भाव-गुण-विकार-निबन्धना त्रिविधा सृष्टि का तात्त्विक स्वरूप--दिग्दर्शन २९

५३--भावसृष्टि का असृष्टित्त्व, एवं गुण--विकार--सृष्टियों का सृष्टित्त्व, तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ ३०

५४--समब्रह्मानुगता देवभावात्मिका अक्षरप्रकृतिनिबन्धना--अधिदैवतभावापन्ना 'संस्कृति', एवं वाग्--ब्रह्मानुगता--भूतभावात्मिका--क्षरविकृतिनिबन्धना अधिभूतभावापन्ना--'सभ्यता' शब्दों का तत्त्वार्थ .... ,,

५५--अक्षरानुबन्धी--दैवभावानुगत--प्राणात्मक सूक्ष्म विश्व का संस्कृतित्त्व, क्षरानुबन्धी--भूतभावा--नुगत--वागात्मक स्थूल विश्व का सभ्यतात्त्व, एवं मित्र--ब्रह्म--प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति' का, तथा क्षत्र--वरुण--प्रतिरूप सत्तातन्त्र के द्वारा 'सभ्यता' का सम्भावित-संरक्षण ३१

५६--सत्तानिरपेक्षा 'संस्कृति', एवं सत्तासापेक्षा 'सभ्यता', तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रति--ष्ठिता--व्यवस्थिता सभ्यता के प्रति ही सत्तातन्त्र के व्यवस्था--सञ्चालन--मात्र उत्तर--दायित्त्व .... ,,

५७--संस्कृति-स्वरूप-विश्लेषक शास्त्र, तन्निष्ठ सांस्कृतिक ब्राह्मण, तद्द्वारा श्रुति-स्मृति--पुराण--माध्यम से संस्कृति--तदाचार--तदायोजन--त्रयी का व्यवस्थापन, एवं तत्प्रति सत्तातन्त्र के हस्त-क्षेप का निरोध ३२

५८--संस्कृतिमूलक--'धर्म्म' की स्वरूप--परिभाषा, एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र), तथा धर्म्म--तन्त्रों की अभिन्नार्थकता का स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,

५९--'नीति' की स्वरूप--परिभाषा, धर्म्मानुगता 'नीति' का 'नीतिपथत्त्व', धर्म्मनिरपेक्षा 'नीति' का 'अनीतित्त्व', तद्द्वारा राष्ट्रस्वरूपप्रतिष्ठोच्छेद, एवं धर्म्म की परमता ३३

६०--सत्तारिपेक्ष ब्राह्मणवत् धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्ररूपा महती समस्या का आविर्भाव, एवं तन्निरा--करण-प्रयास ... . ,,

६१--संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की निरपेक्षता के सम्बन्ध में भावुक-विद्वानों की महती भ्रान्ति, एवं तन्मूला आपातरमणीया 'राजभक्ति' ३४

६२--ज्ञानविज्ञानसिद्ध, प्रकृतिसम्मत, सनातन-ईश्वरीय-'धर्म्म', तथा मानसिक-मान्यतानुबन्धी युग-धर्म्मात्मक 'मत', एवं दोनों का आत्यन्तिक पार्थक्य ... . ,,

६३--वर्त्तमानयुगीय--'सनातनधर्म्म'--'हिन्दूधर्म्म' आदि धर्म्मों-की 'धर्म्म' से पराङ्मुखता, एवं इन का विशुद्ध मतवादत्त्व .... ,,

६४--ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तात्त्विक-समन्वय, एवं निरपेक्षतामूलक साक्षित्त्व से ही संस्कृति-निष्ठा का सम्भावित-संरक्षण ३५

६५--ब्राह्मण की सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता का, तथा सत्तातन्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण .... ,,

६६--ब्राह्मण की 'अराजन्यता' का दिग्देशकालानुबन्धी-समन्वय, एवं तदभावे संस्कृतिनिष्ठात्मिका स्वाध्यायनिष्ठा की अन्तर्म्मुखता ५६

६७–चिन्तनमूला 'संस्कृति', स्वाध्यायमूलक 'साहित्य', एवं आचारमूलक 'धर्म्म' का समन्वय, तथा मतवादात्मक-काल्पनिक 'धर्म्मप्रचार' के व्यामोहन से ही सत्ताश्रय की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त ३६
६८–सत्तासापेक्ष विद्वानों के द्वारा आचारशून्य, अतएव जीवनसौन्दर्य से असंस्पृष्ट, सत्तामान्यता–समर्थक काल्पनिक साहित्य का सर्ज्जन ३७
६९–'पर' सभ्यता के वारुणपाश में आबद्ध वर्त्तमान भारतराष्ट्र की 'पर'-तन्त्रा-सक्तिमूला काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' का दुःखपूर्ण इतिवृत्त .... ,,
७०–'समय' शब्द–व्यामोहनानुगत–'वर्त्तमान' की भ्रान्ति, भूत-भविष्यत् की उपेक्षा, एवं वर्त्तमान-कालात्मक पशुजगत् से तत्समतुलन ३८
७१–भारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण .... ,,
७२–संस्कृति-संरक्षणानुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रतिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतानुगता भ्रान्ति–परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव .... ,,
७३–सत्ताश्रयता, तथा शिष्यपरम्परानिमृद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षता का स्वरूप--दिग्दर्शन ३९
७४–सांस्कृतिक नित्यधर्म्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एवं चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र .... ,,
७५–सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तातन्त्रों का प्रणतभाव से आत्मार्पण, तत्प्रति संस्कृतिनिष्ठा का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशुभावनिबन्धना-'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय .... ,,
७६–सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अराजन्य' शब्द का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं–'सर्वान् परित्यजेदर्थान्' इत्यादि मानवीय--वचन का स्वरूप--दिग्दर्शन ४०
७७–युगधर्म्मानुगता भावुकतान्विता 'असहयोग' भावना के प्रति सांस्कृतिक–प्रज्ञा का उद्बोधन, एवं वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति राष्ट्रप्रजा का निष्ठार्पण ४१
७८–सांस्कृतिक–निरपेक्षता–मूला–'धर्म्मनिरपेक्षता' के मूलकारण का अन्वेषण–प्रयास, एवं तदनुगता वर्त्तमाना धर्म्मनिरपेक्षता की दोष–असंस्पृष्टता .... ,,
७९–धर्म्मनिरपेक्ष भी वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा मतवादों के प्रति प्रक्रान्ता 'सापेक्षता' का दुःखपूर्ण आपातरमणीय इतिवृत्त .... ,,
८०–सांस्कृतिक-संकटकालीना वर्त्तमानावस्था, तत्परित्राणोपाय, एवं सत्तानिरपेक्षतामूलक चिन्तन–स्वाध्याय-आचरण-से ही सम्भाविता राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–निधि की स्वरूपाभिव्यक्ति ... ४२
८१–दिग्देशकाल-व्यमोहनासंस्पृष्टा, गुहानिहितवृत्युनुगता निरपेक्षता, तन्मूला सांस्कृतिक-निष्ठा, एवं तत्स्वरूपोपबृंहिका 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' .... ,,
८२–'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यमत कारण दिग्देशकाल–निबन्धना भावुकता ४३
८३–सर्वसाधन–परिग्रह–सम्पन्न, संस्कृति–साहित्यधर्म्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परित्राणोपाय–दिग्दर्शन .... ,,

८४–स्वस्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सत्तासापेक्षता–मूला महती भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्वजनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय–संघटनोच्छेद, और आततायीवर्ग के द्वारा राष्ट्र का अभिभव ४३
८५–लोकानुबन्धी 'व्यामुग्धसूत्र' से हमारा आत्मविमोहन ४४
८६–आचार्य्यचरणानुग्रह से व्यामोहन से आत्मपरित्राण, एवं उपास्य 'शतपथ' के द्वारा महती समस्या का निराकरण .... ,,
८७–चतुर्विधा 'मणिजा' जाति, एवं देवयुगीय भौमत्रैलोक्य का स्वरूप–संस्मरण ... ,,
८८–देवयुगीय भारतीय–मानव के संस्कृति के प्रति भावुकतापूर्ण उद्गार ... ४५
८९–देवयुगीया स्थिति से समतुलित वर्त्तमान भारतीय–मानव के अश्रद्धापूर्ण उद्गार .... ,,
९०–देशप्रेरणया भौमस्वर्ग से देवगुरु बृहस्पति का भारत आगमन, एवं यज्ञरहस्य-स्वरूप-विश्लेषण के द्वारा भारतीय मानवों की अश्रद्धा का निराकरण ४६
९१–मानसिक-कल्पनाओं से समन्विता व्याख्याओं से सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी कर्त्तव्यकर्म्मात्मक धर्म्म की 'मतवादरूप' में परिणति, एवं धर्म्मव्याजात्मक आज के ये 'यज्ञसमारोह' ४७
९२–सामयिक उद्बोधनानुबन्धी एक सामयिक 'लेख' का प्रकाशन, एवं तत्सम्बन्ध में प्रज्ञाबन्धुओं की बलवती प्रेरणा ४८
९३–प्रेरणाकर्षण से ही श्रुति–स्मृति–पुराण–सिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तथ्यों के आधार पर खण्डचतुष्ट्यात्मक स्वतन्त्र निबन्ध की स्वरूपनिष्पत्ति ... . ,,
९४–निबन्ध-अभिधा से अनुप्राणित-'हिन्दू' शब्द से आज के अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध, अतएव नितान्त भावुक भारतीय मानव का उत्तेजन, और उस की काल्पनिक-'विश्वमानवता' .... ,,
९५–'हिन्दूमानव' का सुप्रसिद्ध उदात्त-उद्घोष, एवं तद्द्वारा इसी की नैष्ठिकी विश्वमानवता का स्वरूप–दिग्दर्शन ४९
९६–'भारत'–'विश्वबन्धुत्त्व'–'मानव'–'मानवधर्म्म'–'सत्य'–'अहिंसा'-'त्याग'-आदि शब्दों की भी 'हिन्दू' शब्दानुप्राणिता निर्वचनानुगता साम्प्रदायिकता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण महान् व्यामोहन .... ,,
९७–गङ्गा-यमुना-वन्देमातरम्-सौराष्ट्र-विदर्भ-जयहिन्द-आदि यच्चयावत् शब्दों की तथाविधैव साम्प्रदायिकता, एवं तत्समतुलित 'हिन्दू' शब्द के प्रति राष्ट्रीय मानव का निरर्थक आक्रोश ५०
९८–'हिन्दू-मानव'-रूपा पवित्र–अभिधा से अनुप्राणित 'विश्वमानव' के शान्ति–स्वस्ति भाव, एवं हिन्दूमानव के ही–'वसुधैव कुटुम्बकम्' इत्यादि लक्षण उदात्त-उद्घोष .... ,,
९९–निबन्ध के प्रथमखण्ड के सम्बन्ध में (१) ५१
१००–निबन्ध के द्वितीय–खण्ड के सम्बन्ध में (२) ५३
१०१–निबन्ध के तृतीय–खण्ड के सम्बन्ध से (३) ५४
१०२–निबन्ध के चतुर्थखण्ड के सम्बन्ध में (४) ५६
१०३–शास्त्रतत्त्वमात्रभक्त विद्वानों का सामयिक परितोष, तत्त्वचिन्तनमूला सर्वनिरपेक्षा चिन्तननिष्ठा की महती उपयोगिता, एवं सर्वनिरपेक्षता ही तच्चिन्तन में सम्भाविता सफलता ६१

१०४–पराश्रयमूला भावुकता से ही सांस्कृतिक–निष्ठा से पराङ्मुखता, एवं तत्स्वरूप-विश्लेषण ६१
१०५–जरामर्य्यसत्रानुगता हमारी निरपेक्षा साहित्याराधना के सम्बन्ध में विद्वानों से किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन ·· ६२
१०६–'उद्बोधनात्मक सामयिक–निबन्धों' के सम्बन्ध में सापेक्षता की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण ''
१०७–सांस्कृतिक–अधःपतन के सम्बन्ध में विद्वानों से कतिपय सामयिक-प्रश्न, एवं तदद्द्वारा हमारा निःसीम उत्पीड़न ६३
१०८–केवल तत्त्वभक्त विद्वानों की ही राजन्यवृत्ति, किंवा सत्ताश्रयता का नग्नचित्रण .... ''
१०९–शास्त्रतत्त्वमात्रासक्त इन भारतीय विद्वानों की निरपेक्षता का प्रच्छन्न रहस्य, निरपेक्षतानुगता इन की 'राजभक्ति', और ब्रिटिशराज्य के यशोगानकर्त्ता हमारे ये राष्ट्रीय-विद्वान् ... ''
११०–लोक–वित्तैषणा-समन्विता भावुकता से अनुप्राणित विद्वद्वर्ग, एवं केवल निरपेक्ष–तत्त्वचिन्तन के उद्घोषक भी इस वर्ग की तत्त्वनिष्ठा, तथा आचारनिष्ठा से आत्यन्तिक-पराङ्मुखता ६४
१११–तात्कालिक लाभ–प्रवर्त्तिका लोकमान्यताओं का महान् पण्डित यह संस्कृतिनिष्ठ ? विद्वद्वर्ग, और इस की अवसरवादिता से अनुप्राणिता-निरपेक्षता, सापेक्षता का ताण्डव .... ''
११२–आचारनिष्ठात्मक धर्म्म से पराङ्मुखा ज्ञानविज्ञान–चिन्तन–धारा की आत्यन्तिक निरर्थकता, एवं–'आचारः परमो धर्म्मः' का माङ्गलिक संस्मरण ६५
११३–कल्पनाप्रसूत अध्यात्मवाद की भित्ति पर प्रतिष्ठित विद्वद्वर्ग के काल्पनिक सिद्धान्त, एवं तदनुग्रहेणैव अष्टविध उपग्रहों का आविर्भाव .... ''
११४–तत्त्वानुगता आचारनिष्ठा का समर्थक–'दिग्देशकालमीमांसा' नामक सामयिक निबन्ध ६६
११५–ज्ञानविज्ञानप्रचारविजृम्भणात्मिका आचारशून्या हमारी प्रचारैषणा, एवं तद्द्वारा ही विगतयुगे स्वाध्यायनिष्ठा-विच्युति .... ''
११६–निष्ठाविच्युतिमूला अन्तर्वेदना, तदनुप्राणिता महती समस्या, एवं तदाधारेणैव निष्ठा-भावुकता–शब्दों के स्वरूपदर्शन से सान्निध्य ... . ''
११७–चिन्तनशील स्वाध्यायनिष्ठ वर्ग से अनुगत हमारा मूलसाहित्य, तथा युगधर्म्मानुगत वर्ग से अनुगत तूलसाहित्य ६७
११८–तूलसाहित्यात्मक उद्बोधनात्मक लोकसाहित्य की श्रुतिमूला तत्त्वप्रतिष्ठानुगति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-निष्ठा-संरक्षणोपायावलम्बन .... ''
११९–प्रस्तुत–"राष्ट्रीय-साहित्य' का द्विधा वर्गीकरण, और उसकी स्वरूपदिशा .... ''
१२०–वर्त्तमान मानव का 'उपयोगिता' मूलक महान् व्यामोहन, भारतीय–संस्कृति के सम्बन्ध में जनतन्त्रप्रेमी आज के मानव के भावुकतापूर्ण उद्गार, और हमारी स्तब्धता ६८
१२१–'उपयोगिता' के काल्पनिक विजृम्भण का स्वरूप-दिग्दर्शन, निष्कारणभाव–निबन्धना भारतीय-संस्कृति, एवं तन्मूलक स्वधर्म्मात्मक भारतीय कर्त्तव्यकर्म्म की निष्कारणता का दिग्दर्शन .... ''
१२२–मानव की-'मानव' उपाधि के सम्बन्ध में मानव की सहज जिज्ञासा, एवं बुद्धि-मनः-शरीर–अनुबन्धत्रयी के माध्यम से 'मानव' स्वरूपान्वेषण-प्रयास, तथा तन्निष्फलता ६९

१२३–दृष्टिमूला सृष्टिबिन्दु के माध्यम से मानवस्वरूपान्वेषण-प्रयास, एवं तद्द्वारा बुद्धि–मनः–शरीर-त्रयी से अतीत गुह्यब्रह्मात्मक 'मानव' स्वरूप के दर्शन ६९
१२४–बुद्धियनुगता 'विद्वत्ता', मनोऽनुगता 'प्राज्ञता', एवं शरीरानुगता 'स्वस्थता' से अतीता विलक्षणा 'मानवता', एवं तन्निबन्धन प्राणी का ही 'मानवत्त्व' ७०
१२५–बुद्धिप्रतिष्ठात्मक कालात्मक सूर्य्य, मनःप्रतिष्ठात्मक दिगात्मक चन्द्रमा, एवं शरीर--प्रतिष्ठात्मक देशात्मक भूपिण्ड, एवं तीनों विवर्त्तों का केवल 'प्रकृति' पर ही अवसान .... ,,
१२६–दिग्देश-कालातीत, सौरब्रह्माण्डातीत, महद्ब्रह्मगर्भित, मनुर्लक्षण अव्ययात्मब्रह्म, तदनुप्राणित 'मानव', और मानव का लोकोत्तर-स्वरूप .. .. ,,
१२७–पार्थिव शरीर, चान्द्र मन, सौरी बुद्धि, तथा दिग्–देश–कालातीत आत्मब्रह्म, एवं तन्निबन्धन सर्गों के सर्वथा विभिन्न चार श्रेणिविभाग, और तदनुगत मानवीय-वचन-समन्वय ७१
१२८–केवल शरीर-मनो–बुद्धि–धर्म्मा पश्वादि प्राणियों की प्राकृत–उपयोगिता के अनुबन्ध से मानव की उपयोगिता से समतुलित–'भाव' का चित्रण ७२
१२९–भूत–भविष्यत् के सदसत् परिणामों से तटस्थ-निरपेक्ष-मानवेतर प्राणीवर्ग की केवल वर्त्तमानोपयोगिता, एवं तद्विमोहनासक्त जनतन्त्रवादी वर्त्तमानोपयोगितावादी आज का मानव ... ,,
१३०--बुद्धि--मनः--शरीर–लक्षण सत्यं--शिवं--सुन्दरं--रूप आचारात्मक, दिग्देशकालात्मक विश्व--सौन्दर्य्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक आत्मवादी दार्शनिक मानव, और तन्निबन्धना क्षणिक--दुःख-शून्य--भावनिबन्धना--उपयोगिता ... . ,,
१३१--काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववादमूला काल्पनिकी आत्मभावना, तन्निग्रहेणैव भारतीय-आचारनिष्ठा-परम्परा का त्रिसहस्रवर्षात्मक अभिभव, एवं विद्या, तथा अविद्या से सम्बन्ध रखने वाले द्विविध तमोभावों का स्वरूप--दिग्दर्शन ७३
१३२--आत्मनिष्ठावञ्चित, दिग्देशकालविमूढ उपयोगितावादी मानवों की 'उपयोगिता' का पशुजगत्समतुलित सम्पूर्ण इतिवृत्त, एवं तत्प्रति--सांस्कृतिक--मानश्रेष्ठ की तटस्थता ७४
१३३--सहजसिद्ध मानव के आत्म--बुद्धि--मनः--शरीरा--त्मक चतुष्पर्वा स्वरूप का दिग्दर्शन, एवं तत्स्वरूप--माध्यम से ही मानव के उपयोगी--अनुपयोगी-भावों का सम्भावित-प्रयास .... ,,
१३४--आर्षभावनिबन्धना 'पुरुष' अभिधा, तदनुगत 'पुरुषार्थ', एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित त्रिविध-प्रकृत्यर्थ, और पुरुषार्थ--प्रकृत्यर्थ--निबन्धन--मानवीय कर्त्तव्य की स्वरूप–दिशा का सङ्केत ७५
१३५--मानव की पुरुषार्थचतुष्टयी, एवं मानवेतर प्राणियों की प्रकृत्यर्थत्रयी, एवं दोनों विभक्त तन्त्रों का स्वरूप दिग्दर्शन ... ... ,,
१३६--'पर' पुरुष से अनुप्राणित 'पुरुष' की स्वरूप--परिभाषा, एवं आत्म--बुद्धि-मनः-शरीर--पर्वानुगत मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–नामक–चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक दहरोत्तरसम्बन्ध ७७
१३७--आत्म-बुद्ध्यनुबन्धी मोक्ष–धर्म्मों से असंस्पृष्ट, मनः--शरीर--मात्रा--प्रधान कामार्थमात्रपरायण पशुजगत्, एवं तत्समतुलित मानववर्ग ... ... ,,

१३८--कामार्थप्रधाना, अतएव 'पशुजगत्' से समतुलिता 'उपयोगिता' का महान् व्यामोहन, एवं इत्थं-भूत पशुधर्म्मात्मक तात्कालिक उपयोगितावाद के व्यामोहन से ही मानव का सांस्कृतिक--अधः--पतन ७८
१३९--युगधर्म्मात्मक-भोजन, भाषण, पर्य्यटन, प्रतीच्य-भौतिक-विधि-विधानानुसरण, आदि आदि दिग्देशकालानुबन्धी कला-कौशलों के प्रति सर्वथा अनुपयुक्त भारतीय सांस्कृतिक--वाङ्मय, एवं तत्सम्बन्ध में उपयोगितावादियों की विप्रतिपत्ति का सर्वात्मना समादर .... ,,
१४०--युगधर्म्म-प्रवाहाक्रान्त, अतएव दिग्देशकालविमूढ संस्कृतज्ञ विद्वानों की, तथा मेधावी संस्कृत--छात्रों की भी उपयोगिता-कारणता-उन्नति-आदि वाक्छलों के व्याज से प्रवाहानुगति ७९
१४१--'योगः कर्म्मसु कौशलम्' मूलक-'योग' शब्द, एवं तदनुप्राणित प्रकृतिसिद्ध वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-नामक चतुर्विध 'सिद्धयोग' .... ,,
१४२--आत्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग, बुद्ध्यनुगत ज्ञानबुद्धियोग, मनोऽनुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, तथा शरीरानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,
१४३--समत्वयोगात्मक पुरुषार्थलक्षण चतुर्विध सिद्धयोगों के संसाधक क्रत्वर्थलक्षण चतुर्विध साध्ययोगों का 'उप' भाव, एवं तदनुगत-'उपयोग' भाव, और तन्निबन्धना 'उपयोगिता' ... ८०
१४४--'उपयोगिता' की व्यावहारिकता के मूलस्रोत का 'कोशत्त्व', एवं 'कोश' के सम्बन्ध में व्यावहारिक-उपयोगितावादियों से प्रश्न ८१
१४५--सर्वव्यवहाराधिष्ठाता सर्वाधार 'कोशब्रह्म' का स्वरूप--संस्मरण ... . ,,
१४६--मात्राभावानुबन्धी आनन्द--विज्ञान--ज्ञान--कर्म्म--अर्थ--नामक व्यावहारिक महिमाविवर्त्तों का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं इनका सर्वानुगतित्त्व ८२
१४७--व्यावहारिक--मात्राभावों के उपभोक्ता के सम्बन्ध में उपयोगितावादियों से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न ,,
१४८--उपभोक्ता-प्राणियों के असंख्य-विवर्त्त, एवं तदनुबन्धिनी असंख्य-संख्याता उपयोगिताएँ ,,
१४९--सम्पूर्ण मात्राभावों के मूलकोशात्मक, पञ्चकोशात्मक 'कोशब्रह्म' की सर्वानुस्यूतता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासा ८३
१५०--पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मब्रह्म, तदनुबन्धी मात्राभावों का सृष्टिभेद से वितान, एवं एकमात्र आत्म-निष्ठ 'मानव' का ही पूर्णरूपेण तत्सह-साम्य-समन्वय ... . ,,
१५१--स्वतन्त्र-'भोक्तृत्व' से वञ्चित मानवेतर वर्ग, तन्निबन्धना--'जायस्व-म्रियस्व' व्यवस्था, एवं भूतसर्गानुबन्धिनी आनन्दमात्रानुगता तारतम्य-व्यवस्था ८४
१५२--मात्राभावाधिष्ठाता कोशब्रह्म के पञ्चकोशों का संस्मरण, कोशविनिर्गता मात्राओं की उपयोगिता से अनुप्राणिता मौलिक--'उपयोगिता' का किञ्चिदिव निदर्शन ... ... ,,
१५३--आत्मभावनिबन्धना प्राणप्रधाना मौलिक--उपयोगिताओं के प्रति उपयोगितावादी की निरपेक्षता, एवं तन्निबन्धना लोकोपयोगान्विता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान ८५
१५४--आज का भौतिक-जनजीवन, तत्सञ्चालक उपयोगितावादी प्रमुखवर्ग, एवं-'सांस्कृतिक-उपयोगिता' के सम्बन्ध में वर्त्तमानानुबन्ध से अनुरञ्जन का आत्यन्तिक अभाव ... ,,

१५५–मौलिक-संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषक शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न-परम्परा, एवं दार्शनिक ज्ञान के वाग्विजृम्भण से प्रश्न की महती सम्प्रश्नात्मकता ८६
१५६–नवग्रहग्राहात्मक दार्शनिक वारुणपाश से आबद्ध भारतीय प्रज्ञातन्त्रों का शास्त्रीया लोकानुबन्धिनी आचारनिष्ठाओं से पारम्परिक स्खलन, एवं तत्परिमाण-स्वरूप ही लोकोपयोगिता से शास्त्र की पराङ् मुखता ... . ,,
१५७–सूक्ष्म, तथा स्थूल-भावों के माध्यम से ही सम्भावित उपयोगितावाद का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में एक तात्त्विक प्रश्न ८७
१५८–मूलसंस्कृति से निरपेक्ष जनतन्त्र की उपयोगिताओं का षड्विध-वर्गीकरण, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
१५९–उपनिषदों की सुप्रसिद्धा भार्गवी–वारुणी-विद्या से अनुप्राणित ६ प्रकार की लोकोपयोगिताओं का आत्यन्तिक-समर्थन ... ... ,,
१६०–षड्विध लौकिक-उपयोगिताओं के मूलाधिष्ठानरूप तीन प्राकृत-विवर्त्त ८८
१६१–'दैवतानि च भूतानि च' मूलक 'पदम्' और पुनःपदम्', एवं तन्निबन्धन स्पृश्यपिण्ड, दृश्य-मण्डल-भावों का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धी प्राकृत विवर्त्त .... ,,
१६२–काल-दिक्-देशात्मक सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-विवर्त्तों के पिण्ड-मण्डल-भाव, और 'उपयोगिता' ८९
१६३–कालात्मक सूर्य्य से अनुप्राणित ज्ञान, और यश, दिगात्मक-चन्द्रमा से अनुप्राणित पशु, और प्रजा, तथा देशात्मक भूपिण्ड से अनुप्राणित भोग्य, और भोक्ता, एवं षड्विध लौकिक उपयोगी-विवर्त्त .... ,,
१६४–मानवीय-बुद्धि, मनः, शरीर, के साथ तथोक्ता षड्विध–उपयोगिताओं का तालिकामाध्यमेन स्वरूप–समन्वय ९०
१६५–षड्विधा प्राकृत–उपयोगिताओं की मूलप्रतिष्ठारूप महान् उपयोगी अव्ययात्मब्रह्म ... ९१
१६६–अव्ययात्मनिबन्धन 'मानव' की 'मानवता' से अनुप्राणित भारतीय आचार–निष्ठापथ, और तन्निबन्धन मूल-तूल-भेदात्मक राष्ट्रीय-साहित्य का (त्रयीवेदमूर्त्ति भारताग्निरूप) राष्ट्रदेवताके पावन-चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पण ... . ,,
१६७–तत्त्वस्वरूपविश्लेषणात्मक 'मूलसाहित्य', एवं आचारस्वरूप–विश्लेषणात्मक 'तूलसाहित्य', तथा तदनुबन्धिनी उपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन .... ,,
१६८–सामयिक-उपयोगितावाद से अनुप्राणित तूलसाहित्य, एवं तदनुगत चिन्तन-स्वाध्याय, तथा आचारण से अनुगता निष्ठा से ही सम्भावित राष्ट्र-अभ्युदय ९२
१६९–पुनःप्रक्रान्ता प्रकाशनप्रवृत्ति से अनुप्राणित 'तत्त्वशोध-संस्थान' का दिग् देशकालानुबन्धी कृतज्ञता-ज्ञापन ... . ,,
१७०–संस्थान की भौतिक प्रवृत्ति के एकमात्र संवाहक संस्थान के सम्मान्य मन्त्रीमहाभाग, एवं तत्प्रे–रणयैव सांस्कृतिक–साहित्य–प्रकाशन की जागरूकता ९३
१७१–दिग् देशकालानुबन्धी प्रयासों का समादर, किन्तु सांस्कृतिक मौलिक-स्वरूप–संरक्षण के लिए अपेक्षिता सर्वनिरपेक्षा स्वाध्याय–निष्ठा का ही श्रुति के द्वारा समर्थन ... ९४

१७२--'राजा कालस्य कारणम्' मूला सापेक्षता का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना सांस्कृतिक-समृद्धि ९४
१७३--पारिशेष्यात् व्यक्तित्वनिबन्धना अभिव्यक्ति, एवं-तदनुबन्धिनी--'उक्थवैराजिक' अभिधा की स्वरूप दिशा का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन ... ... ,,
१७४--हिरण्यगर्भ, और सर्वज्ञ से समन्वित विराट्-प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, उस की 'उक्थ' रूपता, तदनुबन्धी 'उक्थविराट्', एवं तत्समतुलित 'मानव' ... ९५
१७५--मानवेतर प्राणियों की-'अर्कवैराजिक', तथा मानव की-'उक्थवैराजिक' अभिधाओं का तात्त्विक स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,
१७६--समदर्शी विराट्प्रजापति के विषम-सृष्टिसर्गों के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं तत्समाधाता 'ब्रह्मोद्य' शब्द ९६
१७७--'ब्रह्मोद्य' शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय ... . ,,
१७८--'ईश्वरोक्थवैराजिक' का प्रतिरूप-'मानवोक्थवैराजिक', एवं मानवानुबन्धी उक्थवैराजिक के सिद्ध, साध्य-रूप दो विवर्त्त ... . ,,
१७९--छन्दोभ्यस्तानुगता 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' अभिधा का संस्कृतभाषानुगत-'मानवाश्रम'-नाम-समन्वय ९७
१८०--'आश्रम' शब्द की लोकप्रचलिता भावुकतापूर्णा--स्वरूप--व्याख्या ... ,,
१८१--पारिभाषिक तथ्यों की विस्मृति के दुष्परिणाम, एवं भारतीय तात्त्विक शब्दों के 'अर्थ' के स्थान में अनर्थ-परम्पराओं का आविर्भाव .. .. ,,
१८२--सापेक्ष-'आश्रम' शब्द की मूलप्रतिष्ठारूप चतुर्ष्वा-षोडशकल-षोडशी-प्रजापति का पावन-संस्मरण ९८
१८३--सर्वाधार षोडशीप्रजापति के अधिष्ठान, निमित्त, उपादानात्मक 'अभृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्' विवर्त्तों का संस्मरण ९९
१८४-ईश्वरोक्थवैराजिकविराट् प्रजापति के कारण-सूक्ष्म, एवं स्थूल-शरीरों का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१८५--अंशी ईश्वरविराट् का साक्षी--सुपर्णत्व, अंश-मानवविराट् का भोक्ता-सुपर्णत्व, दोनों का सम-साम्य, एवं दोनों शरीरों के मापदण्ड का सम--समन्वय १००
१८६--सर्वभूतान्तरात्मा, हिरण्य, परिप्लव, इलान्द, पर्वों से समन्वित चतुष्पर्वा ईश्वरविराट्, एवं तत्स-मतुलित भूतात्मा, बुद्धि, मनः, शरीर, पर्वों से युक्त चतुष्पर्वा मानवविराट् १०१
१८७--ब्राह्मी-स्थिति के माध्यम से 'आश्रम'-'परिश्रम'-आदि-सापेक्ष-शब्दों का समन्वय-प्रयास १०३
१८८--सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्ध, तदनुबन्धी कामः-तपः-श्रम-भाव, एवं तन्निबन्धना-कर्म्मस्वरूप-निष्पत्ति ... . ,,
१८९--आसमन्ताद्भावापन्न 'आङ्' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'आश्रम' शब्द, एवं परितः--भावापन्न 'परि' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'परिश्रम' शब्द, एवं उपसर्गशून्य-'श्रम' शब्द १०४
१९०--बुद्धिप्रधान--'परिश्रम'--शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय .... ,,
१९१--चित्सोममय, प्रज्ञाप्राणात्मक, मनोमय, 'ओकःसारी' इन्द्र, तदनुगता भूतासक्ति, एवं तन्निबन्धन शरीरानुगत--'श्रम' का स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,

१६२–आत्मानुगत 'आश्रम', बुद्धयनुगत 'परिश्रम', मनोऽनुगत 'श्रम', एवं शरीरानुगता 'सेवा', तथा तदनुबन्धी प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य १०५
१६३–सदसन्मूर्त्ति, अमृत-मृत्यु-मय, ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मप्रजापति का स्वरूप-संस्मरण ... ,,
१६४–उभयात्मक आत्मप्रजापति से अनुप्राणित मानव के ब्रह्म तथा कर्म्म, नामक दो प्रमुख 'आश्रम', एवं तन्निबन्धन मानव के सुप्रसिद्ध चार आश्रम १०६
१६५–आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-दानमूला आश्रम-परिश्रम-श्रम-सेवा-दानात्मिका आश्रम-प्रधाना दानपद्धति, तदनुगता आश्रमसिद्धा 'आश्रमजीवनपद्धति', एवं तत्समन्विता 'मानवजीवनपद्धति ... ,,
१६६–'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' अभिधा के साथ 'मानवजीवनपद्धति' से अनुप्राणित 'मानवाश्रम' का स्वरूप–समन्वय १०७
१६७–लोक, तथा सत्तासापेक्ष गृहस्थाश्रम, एवं तन्निरपेक्ष वानप्रस्थ, तथा तन्निबन्धना हमारी सर्वनिरपेक्षता ... ... ,,
१६८–विगत युगानुगता हमारी 'प्रचारात्मिका एषणा', एवं तन्निग्रह से सांस्कृतिक–स्वाध्यायनिष्ठा का आत्यन्तिक अभिभव १०८
१६९–'सांस्कृतिक–प्रचारैषणा-साफल्या' नुगता हमारी दंद्रम्यमाणता, और तन्निबन्धना लोक, सत्ता–सापेक्षता .... ,,
२००–'भावुकता' स्वरूपदर्शनानुग्रह से ही दश वर्ष पूर्व तत्सापेक्षता से आंशिक-परित्राण, एवं–'आंशिक' भावानुबन्धी एक नूतन अभ्व का आविर्भाव ... ... ,,
२०१–आंशिक–निरपेक्षता–युगानुगता अमुक मानवश्रेष्ठ की निर्व्याजा संस्कृतिनिष्ठा, एवं तन्निबन्धन हमारा स्वाध्यायनिष्ठा–संरक्षण १०९
२०२–महद्भाग्यानुगता भारतराष्ट्र की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता, तन्निबन्धन सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारतीय–सत्तातन्त्र, एवं तथाविध सत्तायुग के सुशासन में भी भारतीय सांस्कृतिक-मूलनिधि की निरपेक्षता, और आंशिक-निरपेक्षता की 'सर्वनिरपेक्षता'-रूप में परिणति ११०
२०३–'सत्तानिरपेक्षता' रूप महान् पुरस्कार की पुण्यगाथा का संस्मरण .... ,,
२०४–सापेक्षता-निरपेक्षता-से अनुप्राणित उद्बोधनात्मक श्रौत-सूत्रों का माङ्गलिक-संस्मरण ... १११
२०५–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' की बाह्यप्रवृत्तियों के प्रति तटस्थ-साक्षित्व ... ,,
२०६–कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नुगत-'किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम्' का उपराम ,,

उपरता चेयं-'किञ्चिदिव–प्रास्ताविकस्य' संक्षिप्ता परिच्छेदात्मिका-विषयसूची

श्रीः

'भारतीय -हिन्दू-मानव-की भावुकता' नामक-उद्बोधनात्मक-सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-त्मक 'चतुर्थखण्ड' के सम्बन्ध में

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)







मोतीलालशर्म्मोपाह्वो-यः कश्चिदपि मुकरकशर्म्मा

आङ्गिरसो भारद्वाजः-वेदवीथी-पथिकः

मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्यस्य ब्रह्मौदनभोक्ता

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-युगतं

किञ्चिदिव-प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)

——*——

१- ब्रह्म, संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार-आयोजन, शास्त्र, धर्म्म, आदि आदि निष्ठ भी भारतीय मानव की त्रिसहस्रवर्षानुगता दिग्देशकालनिबन्धना उत्पीड़न-परम्परा—

(१) दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, अनन्त, चिन्मात्रमूर्त्ति, स्वानुभूत्यैकगम्य, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, इत्थंभूत दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वातीत, अद्वय, निरञ्जन, निर्गुण, विश्वातीत **'परात्परब्रह्म'** नामक **'आत्मतत्त्व'** को ही **'अपना स्वरूप'** मानने वाले, इत्थंभूता आत्मबोधनिष्ठा (२) को ही अपने जीवन का परम-पुरुषार्थ घोषित करने वाले, **'संस्कृति'** के स्वरूप-विश्लेषक **'श्रुतिशास्त्र'**,-**'सांस्कृतिक-आचार'** के व्यवस्थापक **'स्मृतिशास्त्र'**, तथा **'सांस्कृतिक-आयोजन'** के संस्थापक **'पुराणशास्त्र'** के प्रति श्रद्धा-समन्विता 'आस्था' रखने वाले, श्रुति-स्मृति-पुराण-द्वारा संसिद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक, वर्णाश्रमाचारलक्षण, कर्त्तव्यकर्म्म-रूप, **'शाश्वतधर्म्म'** से अभिन्न **'सनातनधर्म्म'** को ही मानव के ऐहलौकिक सुखरूप **'अभ्युदय'** का, तथा पारलौकिक-शान्तिरूप **'निःश्रेयस्'** का अन्यतम कारण मानने वाले (३) सन्निष्ठ, सद्भावुक आस्तिक भारतीय **'हिन्दू मानव'** की तथाविधा **'आस्था'** के सम्मुख, तथोपवर्णित **'आत्मचिन्तन'** के सम्मुख, एवं तथा-निर्दिष्टा श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी के सम्मुख विगत **तीन सहस्र** वर्षों से अनतिप्रश्नात्मिका जो **'प्रश्नावली'** समुपस्थित होती आरही है, जबतक उस महत्त्वपूर्ण 'प्रश्नावली' का आचारात्मक (व्यावहारिक), तथा बुद्धिगम्य समाधान प्रश्नकर्त्ता को नहीं मिल जाता, तबतक तथाविध-आस्था-श्रद्धा-परायण, शास्त्रभक्त, धर्म्माभिनिविष्ट भारतीय-हिन्दू-मानव की **'दिग्-देश-काला-नुबन्धिनी'**, **'युगधर्म्म'** से सम्बन्ध रखनें वालीं, इस की अवश्यं-

---

(१)-दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकभानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥
—भर्तृहरिः ।

(२) इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
विचार्य्यमाणे तु जगन्न किञ्चित्, स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित् ॥
—प्रसिद्धा वेदान्तसूक्तिः

(३)-यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः, स धर्म्मः ।
—वैशेषिकदर्शन

भाविनी **'यथार्थता'**–ओं से सम्बन्ध रखनें वालीं उन **'विषमा–समस्याओं'** का कदापि निराकरण सम्भव ही नहीं है, जिन विषमा–समस्याओंनें तथाविध हिन्दू–मानव को निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से आत्यन्तिक–रूपेण **आत्मना अशान्त, बुद्धया विभ्रान्त, मनसा क्लान्त**, तथा **शरीरेण च परिश्रान्त** ही प्रमाणित कर रक्खा है ।

२–आत्मचिन्तननिष्ठ भी भारतीय हिन्दूमानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक अधःपतन, एवं तत्सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान के लिए आतुर इस धर्म्मभीरु भारतीय मानव का कलियुगानुगत युगधर्म्म के प्रति सर्वस्वार्पण—

परःशत अवान्तर प्रश्नों में से प्रमुख प्रश्न यही है इस मानवश्रेष्ठ के सम्मुख कि, **"जिस इस भारतीय मानव के प्रज्ञाकोश में मानव की सुख–शान्ति के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण साधन–परिग्रह सदा से ही विद्यमान हैं, वह मानवश्रेष्ठ विगत तीन सहस्र–वर्षों से निरन्तर उत्तरोत्तर पतन-गर्त्त-परम्पराओं का ही अनुगामी क्यों, और कैसे बनता आरहा है ?"** ।

'आत्मचिन्तन' के माध्यम से, एवं तन्मूलक **'धर्म्म'** के माध्यम से बहुत सम्भव है–भारतीय मानव को वर्त्तमान जीवन में भी **'आत्मशान्ति'** मिल गई हो । और अपने प्रत्यक्षदृष्ट, दिग्देशकालात्मक भौतिक जीवन की परिसमाप्ति के अनन्तर इसने अपनी इसी आत्मचिन्तननिष्ठा से, तथा धर्म्मभावना से परलोक में भी **'निःश्रेयस्'** रूपा **'शान्ति'** प्राप्त करली हो । अवश्य ही प्रश्नकर्त्ता अनधिकृत है इन्द्रियातीता इत्थंभूता अदृष्टा दिग्देशकालातीता परोक्षा स्थिति की आलोचना–प्रत्यालोचना करने में । अवश्य ही अपनी तथाविधा सुसूक्ष्मा आत्मशान्ति, एवं परलोकानुगता चिरशान्ति (मोक्ष) की दृष्टि से भारतीय हिन्दू–मानव विश्व के उन अन्य समस्त मानवों के समतुलन में सर्वोच्चभूमिका का ही सत्पात्र बन रहा होगा, जो अन्य मानव श्रुति–स्मृति–पुराण–सिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म पर कोई आस्था–श्रद्धा नहीं रख रहे । किन्तु·········?

इस किन्तु ? का उत्तर स्पष्ट, स्पष्टतर, स्पष्टतम है । दिग्देशकालनिबन्धन-व्यक्त-मूर्त्त-प्रत्यक्ष-भौतिक-जीवन की दृष्टि से तो विगत तीन सहस्र–वर्षों से अपने मानवस्वरूपानुगत **आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर**, इन चारों हीं पर्वों से, तत्रापि विशेषतः मन, और शरीर–पर्वों से तो यह हिन्दू–मानव जैसा संत्रस्त रहा है, वैसा सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव अन्य कोई भी मानव तथारूपेण सन्त्रस्त नहीं हीं रहा होगा । **ऐसा क्यों ?** । अवश्य ही गतानुगतिकन्यायेन स्वयं **'हिन्दू–मानव'** के सम्मुख भी तथोक्ता कालावधि में यह महाभयावह **'क्यों ?'** (विशेष उत्पीड़नावसरों पर तो अवश्य ही) उपस्थित होता ही रहा है । परिचित हैं हम इस 'क्यों ?' के सुप्रसिद्ध उस उत्तर से भी, जो **'युगधर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध है । **'कलियुग'** जो प्रक्रान्त है विगत पाँच सहस्र–वर्षों से । **"कलियुग का धर्म्म ही ऐसा है कि, धर्म्मिष्ठ सुखी रहें, एवं···अलम्····"** । सचमुच महामहिमशाली 'कलियुगा'-त्मक 'युगधर्म्म' की घोषणा के व्याज से हिन्दू–मानव अपने उन सभी अभियोगों, एवं प्रश्नों से क्षणमात्र के लिए आत्मपरित्राण करता हुआ अपने मनोराज्य में ऐसी तुष्टि ही अनुभूत कर लेता है कि, **"उस की तथाविधा दयनीया पतनदशा में स्वयं उस का यत्किञ्चित् भी अपराध नहीं है । यह सबकुछ तो कलियुग की ही महिमा है । काल का ही दण्डविधान है । दिग्देशकाल के निग्रह से ही धर्म्मिष्ठ (धर्म्मभीरु), शास्त्रनिष्ठ (शास्त्रभीरु), कर्त्तव्यनिष्ठ (कर्म्मभीरु) भी इस मानव को**

उत्पीड़ित ही होना पड़ रहा है, जिस उत्पीड़न के लिए अपने युगधर्म्मात्मक भाग्य के अतिरिक्त और किसी को भी दोष नहीं दिया जासकता-'अयं तु युगधर्म्मो हि दीयते कस्य दूषणम्'' इत्यादि इत्यादि ।

३-युगधर्म्मविमूढ, अतएव दिग्देशकालपीड़ित भारतीय मानव

इसप्रकार दिग्देशकालात्मक 'युगधर्म्म' (कलियुगधर्म्म) को ही अपना आराध्यधर्म्म मान बैठने वाले भारतीय हिन्दू-मानवने उत्पीड़न-परम्पराओं के सम्मुख अपने आपको सर्वात्मना अवनतशिरस्क प्रमाणित करते हुए अपना जैसा जो कुछ दीन-हीन-मलीमस-पौरुषशून्य-अकर्म्मण्यात्मक जीवन प्रमाणित कर लिया है विगत अनेक शताब्दियों से, उसे देख-सुन कर यही मान लेना पड़ता है कि, सचमुच आज सम्पूर्ण विश्व में इस भारतीय हिन्दू-मानव से अधिक दिग्देशकालपीड़ित और कोई भी मानव नहीं है ।

४-दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक लाभों से वञ्चित, अतएव पीड़ित भारतीय मानव, एवं तात्कालिक लाभों से समन्वित, अतएव समुत्पीड़ित विश्वमानव—

अन्य मानववर्ग पीड़ित नहीं हैं, यह कहना तो दिग्देशकाल का अपमान हीं करना होगा । पीड़ित तो अन्य मानव भी हैं । किन्तु इस की पीड़ा में, तथा उन की पीड़ा में अहोरात्र का अन्तर है । यह जहाँ-दिग्देशकाल से अनुप्राणित तात्कालिक-भौतिक-लाभों से वञ्चित रहता हुआ पीड़ित है, वहाँ इतर मानव-श्रेष्ठ दिग्देशकाल से अनुप्राणित समसामयिक तथाविध लाभों से निरतिशयरूपेण अपने आप को लाभान्वित मानते हुए आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीड़ित हैं । इसे सभी लौकिक-क्षेत्रों में जहाँ 'अभावपरम्पराएँ' उत्पीड़ित करतीं आरहीं हैं, वहाँ उन्हें दिग्देशकालनिबन्धना, अतएव भातिसिद्धा (काल्पनिकी) 'भावपरम्पराएँ' समुत्पीड़ित करतीं जारहीं हैं । यह जहाँ कलियुगानुगत 'भाग्यवाद' के अनुग्रह से समुत्पन्ना 'अकर्म्मण्यता' से दिग्देशकालिक लाभों से वञ्चित रहता हुआ आद्यन्त का दुःखी बन रहा है, तो वे वहाँ दिग्देशकालानुगत-युगधर्म्मों से लाभ उठाने की कला के मर्म्म से सुपरिचित रहते हुए, इस कालिक-दैशिक-भातिसिद्ध कर्म्माभास को ही पुरुषार्थ मानते मनवाते हुए, इत्थंभूत काल्पनिक कर्म्माभास को ही मानव-जीवन का सर्वस्व मानते हुए, इन से समुत्पन्न भातिरूप फलों से समन्वित होते हुए आत्यन्तिकरूपेणैव समुत्पीड़ित प्रमा-होते जारहे हैं । और यों 'यह,' और 'वे,' ही क्या, ज्ञात-अज्ञात सभी मानव आज दृष्टिकोणभेद से किसी न किसी रूप से 'दिग्देशकाल' नामक महान्-यक्ष, महान् अभ्व से उत्पीड़ित-समुत्पीड़ित ही बनते आ रहे हैं अनेक शताब्दियों से ।

५-मानवानुबन्धिनी-प्रश्न-सम्प्रश्न-परम्पराओं की सनातना, एवं तत्समाधानमूला अन्तर्वेदना—

स्थावर-जङ्गमात्मक-भूत-भौतिक-प्रपञ्च के समतुलन में अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों से सर्व-श्रेष्ठ प्रमाणित मानव, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे आदर्श की उच्चघोषणा का प्रथमाविष्कारक 'विश्वमानव' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय मानव इसप्रकार आद्यन्त का दुःखी, तथा समुत्पीड़ित क्यों ?, प्रश्न कोई नवीन प्रश्न नहीं है । यदि मानव 'सनातन' है, तो उस की 'दिग्देशकालानुबन्धिनी' समस्याओं से सम्ब-न्ध रखने वाला तथाविध प्रश्न भी 'सनातन' ही है । और इत्थंभूत दिग्देशकालिक 'प्रश्न' को दिग्देश-

कालातीतत्त्व के समन्वय से '**सम्प्रश्न**' का स्वरूप प्रदान करने वाले **अप्राकृत-सनातन-ऋषिमानवों** के द्वारा निर्द्धारित तत् '**समाधान**' भी 'सनातन' ही हैं। आज से पाँच सहस्र-वर्ष पूर्व भी इसी प्रश्न ने मानव के सम्मुख एक महती समस्या समुपस्थित कर दी थी, जिस इस महान् प्रश्न के समाधन के लिए ही अन्ततोगत्त्वा '**महाभारत**' नाम से प्रसिद्ध वह अकाण्ड-ताण्डव-विघटित हो ही तो पड़ा था, जिस के प्रचण्डाघात से समुत्पन्ना मर्म्मवेधिनी निरतिशया अन्तर्वेदना को आजतक भी मानव की 'मानवता' विस्मृत नहीं करसकी है।

६-भारतीय हिन्दू मानव के सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों के समाधान से ही विश्वमानव के दिग्-देशकालनिबन्धन प्रश्नों का भी सम्भावित समाधान--

प्रश्न ही नहीं, अपितु यह तो '**सम्प्रश्न**' है कि, वह ऐसा कौनसा महाभयावह, अचिन्त्य-अप्रत्यक्र्य-'दोष' है, जिस के निग्रहात्मक अनुग्रह से **शक्ति-सामर्थ्य-योग्यता-ज्ञान-विज्ञान-पौरुष-कला-कौशलादि**-यच्चयावत् साधन-परिग्रहों से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः समन्वित रहने वाला सर्वमूर्द्धन्य भी मानव तथोक्तरूपेण पीड़ित, तथा समुत्पीड़ित बन जाता है ?। भारतेतर देशों के मानव भी 'मानव' हैं, मानवश्रेष्ठ हैं, अतएव सर्वसाधन-परिग्रह-शक्ति-योग्यता-आदि से सर्वात्मना सम्पन्न हैं। किन्तु हम अपनी स्वल्पतमा प्रज्ञा के निग्रह से उन के दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरभावों से अपरिचित नहीं, तो सुपरिचित भी नहीं हैं। अतएव उन से सम्बन्ध रखने वाले समुत्पीड़नात्मक तथाविध '**प्रश्नों**' के समाधान का महान् उत्तर-दायित्त्व हमनें दिग्देशकालमर्म्मज्ञा उनकी लोकप्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान लिया है। अतएव अब सम्प्र-श्नात्मक प्रश्न एकमात्र भारतीय मानव के सम्बन्ध में हीं, तत्रापि भारतीय उस हिन्दू-मानव के सम्बन्ध में हीं हमारे सम्मुख शेष रह जाता है, जिस का त्रिसहस्रवर्षात्मक भौतिक इतिहास अत्यन्त ही मलीमस प्रमाणित होता आ रहा है। अतएव एकमात्र इसी मानव के सम्बन्ध में सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न हमारी प्रच्छन्ना वेदना का समुत्तेजक बन रहा है। और हमारी ऐसी न केवल '**मान्यता**' ही है, अपितु श्रद्धा-परिपूर्णा ऐसी 'आस्था' ही है कि, भारतीय-हिन्दू-मानव-के सम्प्रश्न से सम्बन्ध रखने वालीं समस्याएँ हीं अधिकांश में विश्व-मानव की भी समस्याएँ प्रमाणित होंगीं। एवमेव इस की समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों का जो समाधान होगा, अधिकांश में वही समाधान '**विश्वमानव**' के कालिक 'प्रश्नों' का भी होगा। अत-एव कह दिया जायगा कि, '**हिन्दू--मानव**' के माध्यम से संकल्पित यह प्रयास अन्ततोगत्त्वा तत्त्वदृष्ट्या '**विश्व-मानवता**' पर ही विश्रान्त होगा।

७-आत्मयोगनिष्ठा से पराङ्मुखा क्षणिकं--शून्यं--दुःखं--लक्षणा अनात्मभावना से अनु-प्राणिता दिग्देशकालनिबन्धना दुःखपरम्परा से आर्त्त भारतीय मानव—

'**तीन सहस्र--वर्षों**' की अवधि इसलिए प्रमुख मान ली गई है कि, इसी अवधि के उपक्रम में भारतीय मानव की बुद्धि '**आत्मयोग**' से वञ्चित हो कर मानसिक-कल्पनाओं के साथ विशेषरूपेण समन्वित होपड़ी, जिस काल्पनिक-संयोगोपक्रम से ही यह भारतीय-मानव आत्मानुगता '**पूर्णता**' से उत्तरोत्तर सर्वा-त्मना पराङ्मुख होता हुआ मानसिक-कल्पनानुगत '**शून्यं-शून्यम्**' का ही अनुगामी बन गया, जिस से सहसख्य रखने वाली क्षणिकता ने, तदभिन्न 'दुःखं--दुखं' ने इसे उसी उपक्रम-काल से उत्तरोत्तर दुःखी ही

प्रमाणित किया, जिस इत्थंभूता शून्यभावनैकसारा, क्षणभावानुबन्धिनी, दिग्देशकालात्मिका दुःखपरम्परा से आजतक भी तो इस भारतीय–हिन्दू–मानव का परित्राण नहीं होसका है ।

८–त्रिसहस्रवर्षावधि में समुद्भूत–आविर्भूत नवग्रह–ग्राहात्मक एतद्देशीय नवविध उद्बोधक–विवेचक महाभागों का नाम–संस्मरण—

अवश्य ही विगत–भुक्त–प्रक्रान्ता–त्रिसहस्रवर्षात्मिका अवधि में इस मानव को '**उद्बोधन**' प्रदान करने वालीं अनेक विशिष्ट भारतीय-प्रज्ञाएँ भारतराष्ट्र में यथासमय अभिव्यक्त भी होतीं रहीं, जिन अभिव्यक्तियों को यह 'सत्तासिद्ध' मानव (१)--सृष्टितत्त्वविमर्शपरायण–तत्त्वमीमांसक–'**दार्शनिक विवेचक**,'–(२)–**धर्म्मतत्त्वविमर्शपरायण--धर्म्ममीमांसक--'स्मार्त्त विवेचक',--(३)--विधि–निषेध-- विमर्शपरायण--धर्म्माभिनिविष्ट–'नैबन्धिक विवेचक,'–(४)–भक्तितत्त्वविमर्शपरायण--भक्तिनिविष्ट--'साम्प्रदायिक–विवेचक,'–(६)–शास्त्रपठन–पाठन–विमर्शपरायण--शास्त्रभक्त--'विद्वद्विवेचक', (६)–सर्वविमर्शपरायण--सर्ववादी--'–उपदेशक–महामहोपदेशकविवेचक',–(७)–सर्वविमर्शशून्य---विसंवादी--'कल्याण--भावविवेचक',–(८]--लोकशिक्षणपटु–नीतिकुशल–प्रतीच्यपथोच्छिष्टभोगी–'नीतिविवेचक (नेतारः)' –(६)--सर्वशिक्षणपटु–मर्य्यादाकुशल–नैतिकबलसमर्थक--'समाजसुधारक'**, इन सुप्रसिद्ध **नवग्रह--ग्राहात्मक** उद्बोधकों विवेचकों–के '**भातिसिद्ध' स्वरूपों को** साक्षात्, अथवा तो कर्णाकर्णिपरम्परया जान, और पहिचान रहा है ।

९–परदर्शनमूला दिग्देशकालनिबन्धना प्रत्यक्षप्रभावात्मिका 'भावुकता' से उत्पीड़ित त्रिसहस्रवर्षात्मक भारतीय भावुक-हिन्दू-मानव—

तथाविध नवग्रहग्राहों के सन्तति–परम्परारूप असंख्य–संख्यात उन विभिन्न मतवादों के तन्तुवितानात्मक इन्द्रजाल से जालान्वित बन जाने वाला यह भारतीय हिन्दूमानव सचमुच उस सीमा पर्य्यन्त दिग्देश–कालविमूढ ही बनता चला आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से, जिस सीमात्मक वारुण-पाश से आबद्धा सुबद्धा हो जाने वाली मानवप्रज्ञा के स्वस्वरूपबोधानुगत सभी नैष्ठिक द्वार सर्वात्मना लौहकपाटाबद्ध ही प्रमाणित हो-जाया करते हैं। जिस प्रज्ञापराधात्मक, दिग्देशकालात्मक महान् दोष से मानव की स्वदर्शननिष्ठा का पारम्परिक स्रोत अवरुद्ध होजाया करता है, जिस अवरोध से ही मानवप्रज्ञा प्रत्यक्ष से प्रभावित होती हुई दिग्देशकालविमूढ-रूपेण दिग्–देश–काल–भ्रान्ता ही बन जाया करती है, जिस दैशिक–कालिक–भ्रान्ति से ही जो मानवप्रज्ञा झटिति गन्धर्वनगरलेखावत् स्वस्वरूप–विमुग्धा बन जाया करती है, तद्भ्रान्ति के मूल स्रष्ट–विधाता उसी महान् दोष का नाम है—'**भावुकता**' । एकमात्र इसी महतोमहीयान् दोष (भावुकता) से सन्निष्ठ भी भारतीय हिन्दूमानव दिग्देशकालानुबन्धी भातिसिद्ध–तात्कालिक–प्रत्यक्ष–प्रभावों से प्रभावित होता हुआ विगत तीन सहस्र वर्षों से अपने नैष्ठिक स्वरूप-बोध से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है ।

१०–सत्तातन्त्रसापेक्षतामूलक दिग्देशकालव्यामोहन से व्यामुग्ध भारतीय मानव का सांस्कृतिक–निष्ठाओं से पारम्परिक पतन —

प्रत्यक्षप्रभावमूला सर्वनाशकारिणी '**भावुकता**' ने सर्वप्रथम इस भावुक–भारतीय मानव को उस '**सत्तातन्त्र**' के प्रति ही सर्वात्मना प्रणतभाव से समर्पित कर ही तो दिया, जिस 'सत्तातन्त्र' (शासनतन्त्र)

को ही व्यक्त–मूर्त्त, अतएव सादि–सान्त, वर्त्तमानभावानुबन्धी, दिग्देश से समन्वित 'काल' की तात्कालिकी मूर्त्ता–व्यक्ता–भूत–भौतकी कालिक–व्यवस्थाओं के सञ्चालन के प्रति उत्तरदायी माना गया है, एवं जिस तात्कालिक वर्त्तमान–उत्तरदायित्व की दृष्टि से ही—**'राजा कालस्य कारणम्'** (१) यह सिद्धान्त जागरूक बना है। **राजा**, अर्थात् **शासक**, अर्थात् शासक का लोकविधि–विधानात्मक **'राजन्यतन्त्र'**, अर्थात् **'शासनतन्त्र'** (**सत्तातन्त्र**) ही कालिक–व्यवस्थाओं का कारण माना गया है। जब भी राष्ट्र की सांस्कृतिकप्रज्ञा (ब्राह्मण) भावुकतावश अपनी सांस्कृतिक-निष्ठाएँ दिग्देशकाल–व्यवस्थापक **'राजन्य'** के प्रति समर्पित कर देती है, सहज-भाषानुसार जब भी ब्राह्मण 'राजन्य' बन जाता है, सत्ताश्रित होजाता है, तो निश्चयेन इसकी दिग्देशकालातीता आत्मनिष्ठानुगता **'श्रुतिशास्त्रसंसिद्धा शाश्वत-संस्कृति (अप्राकृत-शाश्वत-धर्म्म)**, तन्मूलक-**स्मृतिशास्त्र-संसिद्ध सनातन-सांस्कृतिक-आचार (प्राकृत-सनातनधर्म्म)**, एवं तन्मूलक पुराणशास्त्रसिद्ध **नित्य सांस्कृतिक–आयोजन**, (मानवीय [1]**आत्मभाग** से अनुप्राणित [1]**पर्वायोजन**, [2]**बुद्धि** से अनुप्राणित [2]**उत्सवायोजन**, [3]**मन** से अनुप्राणित [3]**सम्मेलनायोजन**, एवं [4]**शरीर** से अनुप्राणित [4]**समारोहायोजन**, नामक चतुर्विध सुप्रसिद्ध भारतीय **'सांस्कृतिक–आयोजन'** (२) आदि आदि यच्चयावत् आर्ष–सांस्कृतिक–विभूतियाँ दिग्कालव्यवस्थापक राजन्यबन्धु के दिग्देशकालवात्याहित तात्कालिक–प्रावाहिक–वातावरणों से आत्यन्तिकरूपेण अभिभूत ही बन जाया करतीं हैं। और इस अभिभवदशा, किंवा दुर्द्दशा में आत्म-बुद्धिनिष्ठ भी मानवश्रेष्ठ की सांस्कृतिक–प्रज्ञा दिग्देशकालानुगता तात्कालिकी आपातरमणीया प्रातिभासिकी मान्यताओं की भावुकता में ही अभिनिविष्टा प्रमाणित होजाती है, जिस भावुकतापूर्ण इत्थंभूत अभिनिवेश के दुष्परिणाम-स्वरूप ही विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव स्व स्वरूप से, स्व निष्ठा से, स्व-संस्कृति–सभ्यता–आदर्श, आचार–आदि से उत्तरोत्तर पराःपरावत (अत्यन्त विदूर) ही होता आ रहा है।

११--भावुकतानुगता आचारस्खलनात्मिका 'कर्त्तव्यकर्म्मविस्मृति' से ही भारतीय मानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक पतन—

तथाकथिता सत्ताश्रयमूला 'भावुकता' ने हीं भारतराष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका, प्रकृतिसिद्धा उस सहज–आत्मबुद्धिनिष्ठा को ही सर्वप्रथम अभिभूत कर लिया, जिस आत्मबुद्धिनिष्ठा के बल पर इस राष्ट्र की नैष्ठिकी प्रज्ञा ने **'काल से काल को उत्पीड़ित करते हुए'** (३), दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्मप्रतिष्ठा के आधार पर ही अनन्त अव्यक्त–अमूर्त्त–काल के माध्यम से सादिसान्त व्यक्त-मूर्त्त-काल से अनुप्राणिता दिग्देशकालव्यवस्थाएँ व्यवस्थित कीं थीं, एवं जिन इन व्यवस्थासूत्रों के **तत्त्वात्मक**, तथा **आचारात्मक** नियमन के लिए

---

(१) इति ते संशयो मा भूत्–'राजा कालस्य कारणम्'।

—महाभारते भीष्मोक्तिः

(२) इन चारों भारतीय **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** का सुविशद वैज्ञानिक विवेचन एतन्नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है।

(३) एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यान्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन् ॥

—मनुः

ही प्रकृतिसिद्ध अपौरुषेय, तत्त्वात्मक, **छन्दो–वितान–रस**–लक्षण, **विष्कम्भ (व्यास)–परिणाह** (मण्डल) हृदय (केन्द्र) रूप, 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक, महाकालात्मक वेद के आधार पर (१) शब्दात्मक पौरुषेय वेदशास्त्र का साक्षात्कार कर तन्मूलक **'सांस्कृतिक-आचार'** व्यवस्थित हुआ था, जोकि राजन्याश्रयमूला भावुकता के वारुणपाश से आबद्ध होता हुआ सर्वथा ही तिरोहित होगया। एवं तत्स्थान में युगधर्म्म-व्यवस्थापक राजन्य की मान्यताओं के अनुपात से ही इस शाश्वत-सनातन-ज्ञानविज्ञानात्मक **वेदशास्त्र** की, तदनुगत **स्मृतिशास्त्र** की, एवं तन्मूलक **पुराणशास्त्र** की व्याख्याएँ उपनिबद्ध होपड़ीं, जिन इन कल्पित व्याख्याग्रन्थों के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र का ज्ञानविज्ञानात्मक, सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध मौलिक दृष्टिकोण एकान्ततः ही अभिभूत होगया। और सम्पूर्ण साधन-परिग्रह-आदि आदि की विद्यमानता में भारतीय मानव इत्थंभूता अशास्त्रीया भावुकता से ही, दूसरे शब्दों में शास्त्राभासरूपा मान्यता से ही प्रकृतिसिद्ध, अतएव शास्त्रसिद्ध सनातन आचारमार्ग (कर्त्तव्यकर्म्म) से स्खलित ही तो होगया। **एवं निश्चयेन आचारस्खलनात्मक यह 'कर्त्तव्यस्खलन' ही, किंवा 'कर्त्तव्यविस्मृति' ही भारतीय-मानव के त्रिसहस्रवार्षिक पतन का प्रमुख कारण प्रमाणित होगई।**

१२–वेदशास्त्रसिद्ध, सत्तानिरपेक्षतामूलक महान् उद्बोधनसूत्र—

स्वयं वेदशास्त्रने एक स्थान पर बड़े ही मार्मिक शब्दों में सत्ताश्रयमूला तथोक्ता भावुकता का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए अन्त में राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानोपासिका 'ब्राह्मणप्रज्ञा' को यही उद्बोधनसूत्र प्रदान किया है कि, **"इसे कदापि राजन्य, अर्थात् सत्तानुगत नहीं बनना चाहिए"**। सृष्टिस्वरूप–व्यवस्थापक तात्त्विक **ऋक्-यजुः–साम–अथर्व**–वेद के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध **'शतपथब्राह्मण'** नामक वेदग्रन्थ के **'मैत्रावरुणग्रह'** नाम के ग्रहप्रकरण में विस्तार से तथाकथित तथ्य का स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, इस भौतिक विश्व में **ज्ञान**, और **कर्म्म**, ये दो ही ब्रह्मविभूतियाँ प्रमुखरूप से सम्पूर्ण भौतिक–व्यवस्थाओं की मूलप्रतिष्ठा हैं। **अर्थात्मक** भौतिक विश्व की स्वरूप-स्थिति **ज्ञान**, तथा **कर्म्म** (क्रिया) पर ही अवलम्बित है।

१३–ज्ञान–क्रिया–अर्थमय, मनःप्राणवाग्रूप ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मब्रह्म, एवं नामरूप–कर्म्ममय पाञ्चभौतिक विश्व का तदाश्रितत्त्व—

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, अर्थशक्ति, इन तीन विभिन्न शक्तियों की समन्वितावस्था से ही विश्व की स्वरूपस्थिति है, जिन इन तीनों शक्तियों का मूलाधिष्ठान 'ब्रह्म', किंवा-**'आत्मा'** नाम से ही प्रसिद्ध है। **'स वा एष आत्मा–वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'** इत्यादि शातपथी (बृहदारण्यक, शतपथ–चतुर्दशकाण्ड) श्रुति के अनुसार विश्वाधिष्ठानरूप आत्मब्रह्म **'मनःप्राणवाङ्मय'** है। **ज्ञानशक्ति का 'उक्थ'** (प्रभव),

---

(१) प्राकृतिक विश्व का मूल आरम्भक (उपादान) नित्य वेदतत्त्व ही है, जिससे सम्पूर्ण विश्व अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के विलुप्त होजाने से तथाविध तात्त्विक वेद का स्वरूप उसी भावुकता से तीन सहस्र वर्षों से अभिभूत होता आरहा है। अठारहसौ पृष्ठात्मक **'उपनिषद्भाष्य–भूमिका'** नामक खण्डत्रयात्मक निबन्ध में इसी तत्त्ववेद का स्वरूपोपबृंहण हुआ है।

ब्रह्म (प्रतिष्ठा), साम (परायण) स्थान आत्मब्रह्म का **'मनस्तन्त्र'** है। क्रियाशक्ति का उक्थ-ब्रह्म-साम-**'प्राणतन्त्र'** है। एवं अर्थशक्ति का उक्थ-ब्रह्म-साम-**'वाक्तन्त्र'** है। ज्ञानशक्तिमय मनस्तन्त्र से विश्वपदार्थों के **'रूपविवर्त्तों'** की अभिव्यक्ति हुई है, क्रियाशक्तिमय प्राण से पदार्थों का **'कर्म्मविवर्त्त'** व्यक्त हुआ है, एवं अर्थशक्तिमयी वाक् से पदार्थों का **'नामविवर्त्त'** प्रस्फुटित हुआ है। रूप-कर्म्म-नाम-समष्टिरूप पाञ्चभौतिक महाविश्व का **उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण** ज्ञानक्रियार्थमय मनःप्राणवाग्रूप आत्मब्रह्म हीं सर्वस्व प्रमाणित होरहा है। इसी आधार पर-**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'**--**'आत्मैवेदं सर्वम्'** इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं।

१४-अकारात्मक मन, उकारात्मक प्राण, एवं मकारात्मिका वाक् की समष्टिरूप आत्म-ब्रह्म, तथा तद्वाचक-'प्रणवोङ्कार' —

तत्त्वात्मक **'परब्रह्म'** (**आत्मब्रह्म**) की समानधारा से समतुलित **'शब्दब्रह्म'** के **'अ-उ-म्'** ये तीन वर्ण हीं क्रमशः आत्मब्रह्म के **मनः-प्राण-वाक्**-भावों के वाचक बने हुए हैं। **अकारवाच्य मन, उकार-वाच्य प्राण, एवं मकारवाच्या वाक्, तीनों की समन्वितावस्था ही 'ओङ्कार' (अ-उ-म्-ओम्) है, यही 'प्रणवोङ्कार' है,** यही 'ओङ्कार' विश्वेश्वर विश्वात्मा आत्मब्रह्म का वाचक है, जैसाकि-**'तस्य वाचकः प्रणवः'** (पातञ्जलयोगसूत्र) इस सूत्र से भी प्रमाणित है।

१५-मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' की उ-अ-अच् लक्षणा सर्वरूपता, एवं वाग्ब्रह्म की सर्व-व्यापकता—

स्वयं 'वाक्' शब्द भी इसी उक्ता शक्तित्रयी का संग्राहक बन रहा है। मनोरूप 'अकार', तथा प्राणरूप 'उकार', इन दोनों की याञ्चा करने वाला तत्त्व ही 'वाक्' है, जिसका सहजक्रम जहाँ **'अ-उ-अच्'** है, वहाँ प्राणात्मक क्रम **'उ-अ-अच्'** है। ज्ञानशक्तिमय मन भी निष्क्रिय है, एवं अर्थशक्तिमयी वाक् भी जड़भावात्मिका है। सक्रिय है मध्यस्थ क्रियाशक्तिमय प्राण। सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया में क्रियाशक्तिमय प्राण हीं सर्वप्रथम अग्रणी बनता है। 'प्रैति' मूलक इसी प्राथम्य के कारण इस क्रियाशील गतिधर्म्मा तत्त्व को 'प्राण' कहा गया है। इस प्राथम्य के कारण हीं **'मनः-प्राण-वाक् (अ-उ-अच्)'**-इस प्रकृतिसिद्धा स्थिति का-**'प्राण-मनः-वाक्-(उ-अ-अच्)'** यह क्रम सम्पन्न होजाता है। और इसी क्रमसमष्टि का यणादेश (वकार), तथा दीर्घ के कारण **'वाक्'** (**उ-अ-अच्-वाच्-वाक्**) यह स्वरूप सम्पन्न होजाता है। इसप्रकार केवल 'वाक्' शब्द भी **उ-अ-अच्** रूप से मनःप्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म का संग्राहक बन रहा है। इसी आधार पर **'आत्मैवेदं सर्वम्'** की भाँति-**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता** (१)-**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** (ऐ० ब्रा०) इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं।

---

(१)-वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥
—तैत्तिरीयब्राह्मणे

१६–मनःप्राणवाङ्मय वागब्रह्म का निःश्वासरूप यत्–जू–ऋक्–सामात्मक–अपौरुषेय–तत्त्ववेद, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक शब्दात्मक वेदशास्त्र—

पाञ्चभौतिक, चराचर विश्व 'वाङ्मय' है, इस तथ्य का समन्वयार्थ है–'विश्व मनःप्राणवाङ्मय है, अर्थात् ज्ञान–क्रिया–अर्थमय है'। यही विश्व की संक्षिप्ततमा स्वरूप–व्याख्या है, जिसके माध्यम से प्रस्तुत प्रास्ताविक में यही निवेदनीय है कि, चक्षुरिन्द्रिय से दृष्ट पाञ्चभौतिक पयार्थों की मूलप्रतिष्ठा, मौलिक उपादानद्रव्य मनः–प्राण–गर्भित यह 'वाक्' तत्त्व ही है, जिसे तात्त्विकवेद की अपेक्षा से–'जूः' कहा जाता है, एवं व्यवहारभाषा में जो वाग्रूप 'जूः' तत्त्व ही 'आकाश' नाम से प्रसिद्ध है (१)। 'आकाश' नामक, 'जू' रूप यह 'वाक्' तत्त्व ही 'अर्थशक्ति' का मूलस्रोत है, जो कि 'क्रियाशक्ति' घन 'प्राण' तत्त्व से नित्य संश्लिष्ट माना गया है। जिसप्रकार वाक् का साङ्केतिक नाम 'जूः' है, तथैव प्राण का साङ्केतिक नाम (इस के सहज गतिधर्म्म के कारण) 'यत्' कहलाया है। वाग्रूप 'जूः' यदि 'आकाश' है, तो तत्र आसमन्तात् परिव्याप्त प्राणरूप 'यत्' 'वायु' (प्राणात्मक तत्त्व वायु) है। प्राण–वाक्, किंवा यत्–जूः, किंवा वायु–आकाश, तीनों युग्म विज्ञानभाषा में अंशतः समानार्थक ही बने हुए हैं। 'यत्–जूः' की समष्टि ही 'यज्जूः' है, (२) यही परोक्षप्रिय वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि प्राण–वाक्–रूप 'यजुः' वयोनाधात्मक छन्दोलक्षण ऋक्–साम–तत्त्वों से आसमन्तात् परिवेष्टित रहता हुआ 'त्रयीमूर्त्ति' ही बन रहा है। त्रिगुणात्मक (३), त्रयीमूर्त्ति (ऋक्–साम–यजुर्मूर्त्ति) यही 'त्रयीवेद' रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–नाम से प्रसिद्धा, पाञ्चभौतिक-स्थूलविश्व की आरम्भणभूता (उपादानकारणभृता) सुप्रसिद्धा 'पञ्चतन्मात्राओं' का अभिव्यञ्जक (४) बनता हुआ विश्व का मूलाधार बन रहा है, जिस इस तात्त्विक त्रयीवेद को ही 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक 'अपौरुषेय' वेद कहा गया है, जिस इस नित्यवाङ्मय (मनःप्राणवाङ्मय) स्वायम्भुव तत्त्ववेद के ज्ञानविज्ञानात्मक प्रकृतिसिद्ध नित्य रहस्य के स्वरूपोद्घाटन के लिए ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा 'शब्दात्मक वेदशास्त्र' का आविर्भाव हुआ है।

---

(१)–जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।

—हैमः

(२)–अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो 'जूः', यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतत् यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च, तस्मात् 'यजुः'।

शतपथब्राह्मण १०।३।५।१,२,।

(३)–त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!

—गीता

(४) शब्दः, स्पर्शश्च, रूपञ्च, रसो, गन्धश्च, पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुण–कर्म्मतः॥

—मनुः

१७–सद्घन, अतएव असद्रूप 'ऋषि' नामक मनोगर्भित-वाङ्मय प्राणतत्त्व का सृष्टि-कर्तृत्व, तथा मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षीप्रजापति, एवं आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी प्रजापति का संस्मरण—

ऋक्-साम-लक्षण वयोनाधात्मक छन्दोभाव से छन्दित, सीमित, मर्य्यादित बना रहने वाला वयोरूप 'यजुर्वाक्तत्त्व' ही पाञ्चभौतिक विश्व का तात्त्विक स्वरूपेतिवृत्त है। 'सद्घन' (सद्रूप), अतएव–'सामान्ये सामान्याभावः' न्यायानुसार 'असत्' नाम से प्रसिद्ध, गतिधर्म्मसम्बन्ध से 'ऋषि' अभिधा से व्यवहृत, क्रियाशक्तिमय 'प्राणतत्त्व' (१) ही तथोक्त अर्थशक्तिमय वाङ्मय विश्व का मूलाधार है। क्रियाशक्तिमय, ऋषिमूर्त्ति इस स्वायम्भुव प्राण का मूलाधार 'श्वोवसीयस्'–किंवा 'श्वोवस्यस्' नाम से प्रसिद्ध 'अव्ययात्ममन' है, जिस इस ज्ञानशक्तिमय श्वोवसीयस्मनोरूप आलम्बन पर प्रतिष्ठित होकर ही गतिशील प्राण हीं तपोरूप अन्तर्व्यापार से वाग्रूप 'श्रम' नामक बहिर्व्यापार के द्वारा भौतिकसर्ग का स्वरूप–सम्पादन करता है। सर्वाधार, अतएव निराधार, इस अव्ययमन के काममय (इच्छामय) रेत (२) (शुक्र) के माध्यम से कामयमान बन कर ही प्राण के 'तप' से, तथा वाक् के 'श्रम' से प्रजापति सृष्टि के प्रवर्त्तक बन रहे हैं (३)। मनः-प्राण–वाङ्मय इसी विवर्त्त का नाम 'सृष्टिसाक्षीप्रजापति' है, जब कि 'आनन्दविज्ञानमनोमय' यही तत्त्व–'मुक्तिसाक्षीब्रह्म' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है।

१८–मनोमय-ब्रह्म-मित्र, तथा प्राणमय क्षत्र-वरुण की क्रतु, दक्षता, तन्निबन्धन अध्यात्म, और अधिदैवत–विवर्त्त, एवं ब्रह्म-मित्र–विश्वेदेव-निबन्धना ब्राह्मण-क्षत्रिय–वैश्यमूला प्रकृतिसिद्धा चातुर्वर्ण्यव्यवस्था—

याज्ञिक–परिभाषा में (अध्यात्मजगत् की दृष्टि से) तथोक्त मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी प्रजापति का ज्ञानशक्तिमय मनस्तन्त्र ही 'क्रतु' कहलाया है, एवं क्रियाशक्तिमय प्राणतन्त्र ही 'दक्ष' कहलाया है। संकल्पा–

---

(१) असद्वाऽइदमग्र आसीत् (तत् 'सदा' सीत्। कथमसतः सज्जायेत)। तदाहुः–किं तत्–असत्–आसीत् ?, इति। 'ऋषयो' वाव तदग्रे–'असत्' आसीत्। तदाहुः–के ते 'ऋषयः' ?, इति। 'प्राणा वा ऋषयः'। ते यत्–पुरा अस्मात् सर्वस्मात् (वाङ्मय-विश्वात्) इदं, (व्यक्तरूपं) इच्छन्तः श्रमेण, तपसा, 'अरिषन्', तस्मात्–'ऋषयः'।

—शतपथब्राह्मण ६।१।१।१।

(२)–कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋक्संहिता १०।१२६।४।

(३) सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत (प्राणेन), सोऽश्राम्यत् (वाचा)। इति काम–तपः–श्रम–समन्वयादेव सृष्टिभावाः समुत्पद्यन्ते।

त्मक काममय मन, किंवा काममय मन का संकल्प ही–'क्रतु' है, एवं इस कामात्मक क्रतुरूप संकल्प की प्राण के माध्यम से कर्म्मरूप में परिणति का नाम हीं–'दक्ष' है। अधिदैवतभाषा में संकल्पात्मक मनोमय 'क्रतु' ही **'मित्र'** कहलाया है, एवं प्राणमय 'दक्ष ही 'वरुण' कहलाया है। मित्रतत्त्व कार्य्य की उपक्रमभूमि है, एवं दक्षतत्त्व कार्य्य की उपसंहारभूमि है। प्राणदेवतानुबन्धिनी प्राकृतिक-प्राणात्मिका आधिदैविकी नित्या–वर्णसृष्टि की परिभाषा में मनोमय-ज्ञानात्मक–क्रतुरूप मित्र ही **'ब्रह्म'** कहलाया है, एवं प्राणमय–कर्म्मात्मक–दक्षरूप वरुण ही 'क्षत्र' कहलाया है(१)। ब्रह्ममित्र **'अभिगन्ता'** है, **'प्रेरक'** है, मूलप्रतिष्ठा है। तथा क्षत्रवरुण 'कर्त्ता' है, 'प्रेरित' है। एवं जिस तीसरे तत्त्व पर इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति होती है, वही अर्थशक्तिप्रधान तीसरा 'वाक्' तत्त्व है, जिसके द्वारा ही भूतसृष्टि में 'विट्' भाव आविर्भूत होता है, एवं तत्प्रधान मानव ही वर्णव्यवस्था में **'वैश्य'** कहलाया है। यों मनःप्राणवाङ्मय, ज्ञान–क्रिया–अर्थ–भावापन्न **मित्र–वरुण–विश्वेदेव**, नामक–तीन नित्य तत्त्व ही भौतिक विश्व के **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य**, नाम की वर्णत्रयी के सर्वस्व प्रमाणित हो रहे हैं, जिनके अनुबन्ध से ही स्थावर–जङ्गमात्मक पाञ्चभौतिक विश्व का जड़–चेतन, प्रत्येक वर्ग प्रकृतिसिद्धा 'चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था' से ही समन्वित है, जिस व्यवस्था का तथोक्त सृष्टिसाक्षी अव्ययेश्वरप्रजापति से ही सम्बन्ध है (२)। प्रकृत में क्रतु, दक्ष, नामक मनः–प्राणरूप–ब्रह्म–क्षत्र–लक्षण–मित्र–वरुणात्मक–अंश ही लक्षीभूत है, जिस तथोक्ता तत्त्वद्वयी का भगवान् याज्ञवल्क्य ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ। एतन्नु–अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते–'इदं मे स्यात्', 'इदं कुर्वीय', इति–स एष क्रतुः। अथ यदस्मै समृद्ध्यते, स दक्षः। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः।

—शतपथब्राह्मण ४।१।४।१।

१९–सृष्ट्यारम्भदशानुगत ब्रह्मात्मक मित्र–क्रतु, तथा क्षत्रात्मक वरुण–दक्ष का पार्थक्य, एवं सृष्टिकर्म्मनिरोध—

एवं हि श्रूयते–कि, सृष्ट्यारम्भ–दशा में सृष्टि की मूलप्रतिष्ठारूप ज्ञानशक्तिमय–मनोरूप–'क्रतु' नामक 'मित्रब्रह्म', तथा क्रियाशक्तिमय–प्राणरूप–'दक्ष' नामक 'क्षत्रब्रह्म', दोनों सर्वथा स्वतन्त्र थे। न मन के प्रति प्राण ने आत्मसमर्पण किया था, एवं न मन हीं प्राण के प्रति अनुगत हुआ था। दोनों के इस नानात्त्व का, विभिन्नता का, पार्थक्य का वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिए था। दोनों के इस पार्थक्य से सर्गनिर्म्माण–

---

(१) प्राकृतिक आधिदैविक ब्रह्ममित्र से समन्वित द्विजातिमानव ही भौतिक वर्णव्यवस्था में **'ब्राह्मण'** है, एवं क्षत्रवरुण से समन्वित मानव ही 'क्षत्रिय' है।

(२)–चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि, अकर्त्तारमव्ययम्॥

—गीता ४।१३।

प्रक्रिया प्रक्रान्त न होसकी । क्योंकि मनोमय ज्ञान, तथा प्राणमयी क्रिया के समन्वय के बिना अर्थशक्तिमयी वाक् कदापि संसृष्टिमूला 'सृष्टि' के प्रति उन्मुख नहीं हुआ करती ।

२०–क्षत्र–वरुणात्मक दक्ष से पृथग्भूत ब्रह्म–मित्रात्मक क्रतु की स्वरूपस्थिति का, एवं ब्रह्म–मित्रात्मक–क्रतु से पृथग्भूत क्षत्र–वरुणात्मक दक्ष की असमृद्धि, तथा स्व–रूपरक्षा–विच्युति का दिग्दर्शन—

दोनों के तथाविध नानात्त्व (पार्थक्य) के सम्बन्ध में ऐसा कुछ अवश्य था सृष्ट्यारम्भ दशा में कि, ज्ञानशक्तिमय क्रतुरूप ब्रह्ममित्र (मनस्तन्त्र) तो अपने प्रातिस्विक स्वरूप से स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ स्वस्वरूपधारण में सशक्त–समर्थ–बन गया । किन्तु क्रियाशक्तिमय दक्षरूप क्षत्रवरुण (प्राणतन्त्र) ब्रह्ममित्र के साथ समन्वित न होने से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित न रहसका । दूसरे शब्दों में–बिना भी क्षत्र–वरुण के ब्रह्ममित्र के स्वस्वरूप की तो कोई क्षति नहीं हुई, किन्तु बिना ब्रह्ममित्र के क्षत्रवरुण तो स्वस्वरूप को सुरक्षित रखने में भी असमर्थ रह गया । ब्रह्ममित्र (मनस्तन्त्र) की प्रेरणा की उपेक्षा करने वाले,, किंवा मनोमयी ज्ञानशक्ति से निरपेक्ष, तटस्थ बन जाने वाले क्रियाशक्तिमय क्षत्रवरुण ने ज्ञानप्रतिष्ठा से पराङ्मुख रहते हुए जो भी कर्म्म किया, वही निष्फल प्रमाणित हो गया । और यों ब्रह्ममित्र मे अप्रसूत, अप्रेरित क्षत्रवरुण की स्व–रूपप्रतिष्ठा भी संदिग्धा ही बन गई, एवं कर्म्म भी समृद्धिशून्य ही प्रमाणित होगया । ऐसी थी सृष्टि की वह आर-म्भदशा, जिस में ब्रह्म, और क्षत्र, किंवा क्रतु, और दक्ष, किंवा मित्र, और वरुण, किंवा ज्ञानशक्ति, और क्रियाशक्ति, किंवा आत्मप्रजापति का मन, और प्राण–**नानेवासतुः** । विभिन्नपथानुवर्त्मा ही बने हुए थे, जिस इस प्रारम्भिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए ही भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ते हैतेऽअग्रे नानेवासतुः–ब्रह्म च, क्षत्रश्च । ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्रात्–वरुणात्–स्थातुम् । न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात् (स्थातुं न शशाक) । यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे–अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे ।

—शत० ४।१।४।२,३, ।

२१–ब्रह्म, और क्षत्र का पार्थक्य, तन्निबन्धन सृष्टिकर्म्मव्यवस्थाओं का निरोध एवं तन्निराकरण के लिए क्षत्र की ब्रह्म के प्रति शरणागति—

आगे क्या घटित विघटित हुआ ? । श्रूयताम् ! यह स्वाभाविक ही था कि, मित्रब्रह्म को स्वस्वरूप–प्रतिष्ठा के लिए किसी के सहयोग की यत्किञ्चित् भी आवश्यकता न थी । अपितु वह तो अपने ज्ञानमय मनोरूप से स्वयं में हीं परिपूर्ण रहता हुआ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने में स्वयं ही समर्थ, सशक्त था । किन्तु वरुणक्षत्र की स्थिति ठीक इसके विपरीत थी । बिना ब्रह्म के सहयोग के तो इस क्षत्र की स्वरूपस्थिति भी संदिग्धा थी, एवं इसका स्वतन्त्र कर्म्म भी समृद्धिशून्य (सृष्टिकर्म्म नें असमर्थ) ही प्रमाणित होरहा था । तदित्थं–स्वस्वरूपस्थिति के लिए, एवं स्वकर्म्मसमृद्धि के लिए विवशतावश इस क्षत्रवरुण को ब्रह्ममित्र की शरण में अत्यन्त प्रणतभाव से आ ही जाना पड़ा ।

२२–क्षत्र के द्वारा प्रणतभाव से ब्रह्म का आमन्त्रण—

हे ब्रह्ममित्र ! आप अनुग्रह कर मुझ से, एव मेरे कर्म्म से समन्वित होने की कृपा कीजिए ! । तदर्थ मेरी ओर परावर्तित होने का कष्ट कीजिए ! जब आप ऐसा अनुग्रह कर देंगे, तो (अपने आरम्भ के नानात्त्व को, पार्थक्य को विस्मृत कर,) अपन दोनों हीं परस्पर सह–समन्वित हो जायँगे, एकरूप में परिणत हो जायँगे । और हाँ, इस सहसमन्वय–कर्म्म में मैं (क्षत्र) आप को ही (ब्रह्म को ही) अग्रणी–प्रमुख मानूँगा । आप मुझे जब भी, जैसा भी, एवं जो भी आदेश प्रदान करेंगे, मैं उसी का अक्षरशः पालन करूँगा । मेरे प्रत्येक भौतिक व्यक्त मूर्त्त कर्म्म में आप की ही प्रस्वात्मिका (प्रेरणात्मिका) इच्छा सर्वोपरि रहेगी, और यों आप मेरे **'पुरोधा'** (अग्रगामी–पथप्रदर्शक) रहेंगे, और मैं आप की आज्ञा का अनुवर्त्मा बना रहूँगा ।

२३–ब्रह्म की अनुग्रहात्मिका स्वाकृति से ब्रह्म–क्षत्र का समन्वय, तद्द्वारा तत्र ब्रह्म-मित्र की प्रमुखता, एवं 'मैत्रावरुणग्रह' का आविर्भाव—

श्रद्धा–आस्था से समन्विता प्रणतभावान्विता इत्थंभूता प्रार्थना से ब्रह्ममित्र अपनी सहजसिद्धा ऋजुता (सत्यभावानुगता सरलता) के आकर्षण से आकर्षित हो क्षत्रवरुण की ओर अनुगत होगए, एवं–**'तथेति'** (**ऐसा ही हो**) इस संक्षिप्ता स्वीकृति के माध्यम से ये ब्रह्ममित्र क्षत्रवरुण के अभिमुख होगए । परिणामस्वरूप दोनों परस्पर समन्वित होगए । इसी सहसमन्वय से दोनों का नानात्त्व तो होगया अभिभूत, एवं तत्स्थान में दोनों मिलकर एकाकार बन गए । इन दोनों के सह समन्वय से अभेदात्मक जो एक अपूर्व स्वरूप आविर्भूत हुआ, वही तत्त्वभाषा में–**'मैत्रावरुणग्रह'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । अपने अपने स्वतन्त्र ब्रह्म–क्षत्र–रूपों से जो मित्र (मन), और वरुण (प्राण) वाङ्मयी सृष्टि के परिग्रहण–सञ्चालन में असमर्थ बने हुए थे, इसी अग्रहण के कारण जो **'ग्रह'** मर्य्यादा से पृथक्–प्रमाणित हो रहे, वे ही क्षत्रवरुण के प्रणत–भावानुगत आमन्त्रण से परस्पर समन्वित होते हुए सृष्टिकर्म्मपरिग्रहण में आज सशक्त बन गए । फलस्वरूप इसी ग्रहणधर्म्म से दोनों की समन्वितावस्था **'मैत्रावरुणग्रह'** नाम से प्रसिद्ध होगई । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए शुक्लयजुर्वेद के द्रष्टा याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि —

स क्षत्रं वरुणः–ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे–उप मा–आवर्त्तस्व–(मां- उपावर्त्तस्व), संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवा, इति । तथेति (ब्रह्म–उवाच) । तौ समसृजेताम् । तत एष 'मैत्रावरुणग्रहः'–अभवत् ।

—शतपथ ४।१।४।४।

२४–प्रकृतिसिद्धा ईश्वरकृता वर्णचतुष्टयी, एवं संस्कारसिद्धा ऋषिकृता 'वर्णव्यवस्था'—

यह है प्रकृतिसिद्धा नित्या स्थिति, जिसके आधार पर ही भौतिक–विश्व की प्रकृतिसिद्धा **'वर्णसृष्टि–(चातुर्वर्ण्यसृष्टि)'** सुव्यवस्थित हुई है प्रकृतिरहस्यवेत्ता ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियों के द्वारा । यह संस्मरणीय, तथा सर्वथा अविस्मरणीय है कि, चातुर्वर्ण्य के स्रष्टा जहाँ जगदीश्वर 'अव्ययात्मा' हैं (गीता ४।१३), वहाँ इस प्रकृतिसिद्धा वर्णचतुष्टयी के व्यवस्थापक भारतीय महर्षिगण हैं । वर्ण प्रकृतिसिद्ध हैं, ईश्वर–

कृत हैं। किन्तु 'वर्णव्यवस्था' ऋषिकृता है–संस्कारों के माध्यम से, जैसाकि–'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' (वसिष्ठस्मृति) इत्यादि आप्तवचन से प्रमाणित है।

२५–अभिगन्ता–पथप्रदर्शक ब्रह्ममित्र से समन्वित कर्त्ता–पथानुवर्त्मा क्षत्रवरुण की स्वरूप स्थिति, एवं समृद्धि, तथा तदनुबन्धी उद्बोधनात्मक आदेश (ब्रह्म के प्रति)—

प्रकृतितन्त्र में ब्रह्म (मन) प्रधान है, क्षत्र गौण है। ब्रह्म आश्रय है, क्षत्र आश्रित है। ब्रह्म प्रेरक है, क्षत्र प्रेरित है। ब्रह्म अभिगन्ता है, पथप्रदर्शक है। क्षत्र कर्त्ता है, पथानुवर्त्मा है। इत्थंभूत ब्रह्म, क्षत्र–भावों से ही मानवीय चातुर्वर्ण्य में क्रमशः **ब्राह्मण**, तथा **क्षत्रिय**, की प्रसूति हुई है। अतएव ब्राह्मण **'मित्र'** नाम से, तथा क्षत्रिय **'वरुण'** नाम से भी व्यवहृत हुआ है (१)। मनोमय ब्रह्ममित्र से कृतात्मा ब्राह्मण हीं प्राणमय क्षत्रवरुण का पथप्रदर्शक है, पुरोगामी है, अतएव इसे क्षत्रिय का **'पुरोधा'** (**पुरोहित**) कहा गया है। पौरौहित्य–सम्बन्ध से क्षत्रिय के सुकृत (पुण्य), तथा दुष्कृत (पाप), दोनों का ब्राह्मणपुरोधा को भी दायादभोक्ता (भागी) बन जाना पड़ता है। अतएव श्रुति उद्बोधन प्रदान कर रही है इस मित्र ब्राह्मण को कि, "इसे कुल–शील–योग्यता–आदि से परिचय प्राप्त किए बिना हीं जिस किसी ही यजमान–राजन्य का पुरोहित नहीं बन जाना चाहिए"। इस सामयिक आदेशप्रदान के अनन्तर प्रकृतानुसरण करती हुए श्रुति आगे चलकर कहती है कि, जब क्षत्रवरुण ने ब्रह्ममित्र का आश्रय ग्रहण कर लिया, जब ब्रह्म को स्वप्रतिष्ठा बना लिया, तो ब्रह्ममित्र की प्रेरणा से इस क्षत्रवरुण का कर्म्म सुसमृद्ध ही बन गया, जोकि कर्म्म ब्रह्म के समन्वय से पूर्वावस्था में समृद्धि से वञ्चित ही होरहा था। इसी सहज–स्थिति का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि–

स उ एव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वम्येव क्षत्रियम् पुरोधां कामयेत। सं ह्येतौ सृजेते–सुकृतञ्च, दुष्कृतञ्च। स यत्–ततो वरुणः कर्म्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, सं हैवास्मै तदानृधे (समानृधे)।

—शत० ४।१।४।५।

---

(१)–ब्रह्मणो वा एतद्रूपं, यद् ब्राह्मणः (शत० १३।१।५।२।)–ब्रह्म वै ब्राह्मणः–(१३।१।५।३।)–अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष (अग्नि) भवति–'मित्रः'। सर्वस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वा अयं कञ्चन हिनस्ति–(शत० २।३।२।१२)।

–जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यात्–'मैत्रो' ब्राह्मण उच्यते॥

—मनुः २।८७

क्षत्रं वै वरुणः (शत० २।५।२।६।)–क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः (तै० ब्रा० ३।१।२।७।)।

२६–तत्त्वमीमांसानुगत आदर्शवाद, तथा आचारमीमांसानुगत यथार्थवाद, एवं–तत्त्वानुगत 'दर्शन' और आचारानुगत 'धर्म्म' से अनुप्राणित प्रतिष्ठासूत्र —

मैत्रावरुणग्रहश्रुति से सम्बद्ध उक्त सन्दर्भ के माध्यम से ही अब हम उस तथ्य की ओर दिग्देशकाल–प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिस तथ्य के स्वरूप–समन्वय के लिए ही हमें इस श्रौतसन्दर्भ का आश्रय लेना पड़ा है। **'तत्त्वमीमांसा'** अन्य पक्ष है, एवं **'आचारमीमांसा'** विभिन्न पक्ष है। ये ही हमारे (भारतीय) **'आदर्शवाद'**, तथा **'यथार्थवाद'** की मूलप्रतिष्ठा हैं। **'आदर्श'** का **'तत्त्वसमन्वय'** से सम्बन्ध है, एवं **'यथार्थ'** का **'आचारनिष्ठा'** से सम्बन्ध है। जबतक **'तत्त्व'** को **'आचार'** से समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक उस तत्त्वबोध का कुछ भी अर्थ नहीं है। विशुद्ध तत्त्वबोध तो केवल–**'दर्शन'** बन कर ही परिसमाप्त होजाता है, जबकि दर्शनात्मक वही तत्त्वबोध आचार से समन्वित होकर **'धर्म्म'** (**कर्त्तव्य-कर्म्म**) स्वरूप में परिणत होता हुआ अपने आचारपक्ष से अभ्युदय (ऐहलौकिक सुख–समृद्धि), तथा तत्त्वपक्ष से निःश्रेयस् (पारलौकिक–शान्ति) का कारण बन जाता है, जैसाकि–**'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयस–सिद्धिः, स धर्म्मः'** (वैशेषिक–दर्शन) इत्यादि धर्म्मलक्षण से प्रमाणित है।

२७–धर्म्म, और दर्शन का महान् मौलिकभेद, दार्शनिकवाद के निग्रह से धर्म्म का अभिभव, तत्स्थाने च काल्पनिक मतवादों का आविर्भाव, एवं भारतराष्ट्र के पारम्परिक अधःपतन के प्रमुख कारण—

यही 'दर्शन', और 'धर्म्म' में वह महतोमहीयान् वैसा विभेद है, जिस भेद के कारण हीं विगत तीन सहस्र–वर्षों से भारतीय जनजीवन धर्म्म के तत्त्वमूलक दार्शनिक–पक्ष से परिचय रखता हुआ भी उस के आचारपक्ष को सर्वथा ही विस्मृत किए हुए है। सबकुछ विद्यमान रहते हुए भी क्यों भारतराष्ट्र का उक्त अवधि में उत्तरोत्तर सभी दिशाओं में पतन होता आरहा है ?, इस प्रक्रान्त पूर्वप्रश्न के अन्यान्य समाधानों में से यही प्रमुख समाधान है। **दर्शन, और धर्म्म के विच्छेद ने हीं, दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञान, और आचारधर्म्म के पार्थक्य ने हीं भारतीय जनजीवन को एकान्ततः शून्यं शून्यं हीं प्रमाणित कर दिया है।** सहजभाषानुसार–आचारनिष्ठाशून्या, केवल वाग्विजृम्भणात्मिका दार्शनिकता से ही ज्ञानविज्ञान–सिद्ध भी भारतीय आचारधर्म्म का स्वरूप सर्वात्मना अभिभूत ही होगया है। तथाविधा दार्शनिकता के अनुग्रह से ही प्रकृतिसिद्ध शाश्वत–सनातनधर्म्म के सहज–प्राकृतिक–विधि-विधानों के स्थान में, **आचारात्मिका-कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा** के स्थान में मानवीया भावुकतापूर्णा प्रज्ञा के चाञ्चल्य से काल्पनिक वैसे वैसे अगणित **'मतवाद'** ही प्रादुर्भूत होपड़े हैं, जिन **विकर्म्म (शास्त्रविरुद्ध कर्म्म)**, तथा **अकर्म्म-(निरर्थक कर्म्म)**–भावों की समष्टि ही, **'काल्पनिक कर्म्मों'** का समुच्चय ही 'शास्त्र' के नामच्छल से विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में भारतराष्ट्र का **'आचार'** बनता आरहा है, जिस इत्थंभूत काल्पनिक, **'विकर्म्म–अकर्म्मात्मक'** आचार की **'नवग्रह–ग्रहात्मिका'** प्रमुख–शाखाओं का प्रास्ताविक के आरम्भ में ही स्मरण किया जाचुका है। और निश्चयेन यही भारतराष्ट्र के क्रमिक पतन का प्रमुख कारण माना जासकता है।

२८–सौर–चान्द्र–पार्थिव–भावत्रयानुबन्धी-सत्यं-शिवं-सुन्दरं–लक्षण प्राजापत्य-विश्व-सौन्दर्य्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद, एवं तदनुगता आचारशून्या दार्शनिक–प्रज्ञा—

आचारनिष्ठात्मक, अतएव सौरमण्डलानुगत सत्यभावात्मक, पार्थिवमण्डलानुगत शिवभावात्मक, एवं चान्द्रमण्डलानुगत सुन्दरभावात्मक 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं'–लक्षण विश्वसौन्दर्य्य की विगत अवधि में उत्त-रोत्तर उपेक्षा ही करते रहने वाली आचारनिष्ठाशून्या एतद्देशीया दार्शनिकप्रज्ञा के द्वारा इत्थंभूत **'असत्य–अशिव–असुन्दर'**–काल्पनिक सिद्धान्त ही पुष्पित–पल्लवित होते आरहे हैं कि,–**'विश्व मायामय है, अतएव असार है, अतएव मिथ्या है। अतएव च हमें इस विश्वसीमा की उपेक्षा कर केवल अध्यात्मवादी ही बने रहना चाहिए'**।

२६–काल्पनिक अध्यात्मवाद के महान् विमोहन के द्वारा विश्वसौन्दर्य्य की पराङ्मुखता–

स्पष्ट–स्पष्टतर–स्पष्टतम है कि, इसी काल्पनिक अध्यात्मवाद से भारतराष्ट्र आचारनिष्ठात्मक भूत-सौन्दर्य्य से एकान्ततः पराःपरावत ही बनता आरहा है। जिस **'आत्मा'** का स्वरूप **मनः–प्राण–वाङ्मय** माना जाता हो, जिस आत्मस्वरूप में मनः–प्राण–वागनुगता **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–रूपा शक्तित्रयी का समन्वय हो, इत्थंभूत सर्वात्मक सर्वरूप विश्वात्मा–प्रजापति–आत्मदेवता का उसी के अर्थात्मक विवर्त्तरूप भौतिक-विवर्त्त से उन आचारशून्य, अतएव अप्रत्यक्ष में धर्म्मद्रोही भारतीय दार्शनिकोंनें कैसे, क्यों, और किस आधार पर पार्थक्य कर दिया?, सचमुच यह प्रश्न हमारे जैसे वेदाभ्यासजड़मति के लिए तो असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित होरहा है। **'आलप्यालम्'** के अतिरिक्त (१) और कुछ भी समाधान सम्भव ही नहीं है, तथाविध आचारशून्य, अतएव सर्वशून्य नितान्त काल्पनिक 'अध्यात्मवाद' के काल्पनिक वाग्विजृम्भण के लिए।

३०–ब्राह्मणग्रन्थों की तत्त्वविज्ञान, तथा तदनुगत–आचार–भाव–निबन्धना सहजशैली, एवं–'उपनिषत्' शब्द का रहस्यार्थ–समन्वय—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के **आचारधर्म्म–(कर्त्तव्यकर्म्म)**–प्रतिपादक **'विधि'** नामक **'ब्राह्मण-ग्रन्थों'** की यह स्वाभाविक शैली है कि, वे आचारात्मक प्रत्येक कर्त्तव्यकर्म्म के आरम्भ में उस कर्त्तव्य की **'तत्त्वमीमांसा'** ही प्रस्तुत करते हैं, जिसे आज की व्यामुग्धा भाषा में जहाँ हम **'दर्शन'** कहसकते हैं, वहाँ ऋषिसम्मता आर्षभाषा में वही तत्त्वमीमांसा **'उपनिषत्'** नाम से व्यवहृत हुई है। मौलिक–उपपत्ति–लक्षण तात्त्विक–प्रकृतिसिद्ध उस विज्ञान का नाम हीं 'तत्त्वमीमांसा' है, जिसके सम्यक् परिज्ञान, तथा सुसन्वय से जिज्ञासु की मनोयुक्ता बुद्धि ज्ञातव्य–कर्त्तव्य–के सन्निकट (उप–समीप) निश्चयेन–सन्देहरहितरूपेण (नि) आस्था-

---

(१) **आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्।**
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।
—महाभारते

श्रद्धापूर्वक-प्रतिष्ठित होजाती है-(सीदति)। अतएव 'उप-(विषयसमीपे)-नि-(नितरां-असंदिग्ध-रूपेण)-सीदति-(प्रतिष्ठिता भवति मनोयुक्ता बुद्धिर्जिज्ञासु-मानवस्य)-येन मौलिक-उपपत्या-सा-उपपत्तिः (तद्विज्ञानं वा)-एव-तत्-कर्म्मणः-उपनिषत' ही 'उपनिषत्' शब्द का निर्वचनार्थ-समन्वय है (१)।

३१-तत्त्वमीमांसात्मिका 'उपनिषत्' से समन्विता आचारमीमांसा, एवं तदनुप्राणित दश कण्डिकात्मक मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण—

'क्रतू-दक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ०' इत्यादि प्रथमा कण्डिका से आरम्भ कर 'सोऽएव पुरोधा०' इत्यादि पञ्चम-कण्डिका-पर्य्यन्त के सम्दर्भ से श्रुति ने सहजक्रमानुसार तथाविधा 'उपनिषत्' (मौलिक-उपपत्तिलक्षण तात्त्विक विज्ञान) का ही स्पष्टीकरण किया है, जिसे हम वर्त्तमाना दार्शनिक-भाषा में-'तत्त्व-मीमांसा' कहसकते हैं। तदनन्तर-'तत्-तत्-अवक्लृप्तमेव०' इत्यादि षष्ठ-कण्डिका से आरम्भ कर-'स श्रीणाति' इत्यादि दशम-कण्डिकापर्य्यन्त के सन्दर्भ से क्रमप्राप्ता आचारनिष्ठात्मिका 'कर्म्ममीमांसा' का ही स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिस सन्दर्भ की ६ ठी कण्डिकामात्र के अक्षरार्थ-समन्वय-मात्र से ही हमारे प्रक्रान्त-'प्रास्ताविक' का सम्बन्ध है। अत: केवल उसी अंश के आचारात्मक-समन्वय की ओर ही दिग्देश-लाभिनिविष्टों का (प्राणतभाव से) ध्यान आकर्षित किया जारहा है। श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !! किन्तु आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् !!!

३२-'गुहानिहित' ब्राह्मण, 'सौर्य्यमारुतिक' क्षत्रिय, तथा 'वातातपिक' वैश्य, एवं तन्निबन्धना स्वतन्त्र--निष्ठाओं का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'ब्राह्मणमानव' वह मानव है, जो ज्ञानविज्ञानात्मक सृष्टिरहस्यों के स्वाध्याय में (२) 'गुहानिहितवृत्या'

---

(१)-विस्तार के लिए देखिए-'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'-प्रथमखण्ड का-'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक परिच्छेद।

(२)-'सृष्टि' का बाह्य-व्यक्त-मूर्त्त-भौतिक स्वरूप जहाँ 'अद्धा' (प्रकट) है, वहाँ इसका सुसूक्ष्म-प्राणात्मक-ज्ञानविज्ञानात्मक-मौलिक-स्वरूप-'अनद्धा' (अप्रकट) है। इस 'अप्रकट' भावानुबन्ध से ही सृष्टितत्त्व को 'रहस्य' कहा गया है। 'रहसि' का अर्थ है-'एकान्ते'। 'एकान्तनिष्ठा' ही, जनसम्पर्कानुगता-बाह्य-सामाजिकता से पृथक् रहने वाला 'ऐकान्तिक चिन्तन' हीं स्वाध्यायनिष्ठ मित्रब्राह्मण की स्वाध्ययनिष्ठा-सफलता का मूलकारण है। अतएव इसकी सहजवृत्ति 'गुहानिहिता' ही मानी गई है। अतएवच इसे-'गुहानिहित' ही माना है पुराणपुरुष भगवान् व्यासने (महाभारते),-जबकि सौरप्रकाशवत्, एवं सौर तापवत् अपने प्रचण्ड तेज से राष्ट्र की बाह्य-व्यवस्थाओं, विधि-विधानों को राष्ट्रप्रजा के द्वारा अनुगमनीया बनाए रखने वाला सत्तातन्त्राध्यक्ष क्षत्रिय उसी ऐतिह्य-परिभाषा में 'सौर्य्यमारुतिक' कहलाया है, एवं चरणशीला व्यवसायनिष्ठा (व्यापारनिष्ठा) के द्वारा राष्ट्रीय-अर्थतन्त्र का सञ्चयाधीश, सभाप्रिय, अतएव 'सभेय' नाम से प्रसिद्ध अर्थशक्तिप्रधान वैश्य 'वातातपिक' (धूप-छाँह की चिन्ता न रखने वाला इतस्ततः विचरणशील) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। निष्कर्षतः-सौर्य्यमारुतिक क्षत्रिय, एवं वातातपिक वैश्य, दोनों जहाँ अपने प्राण-

(१) जपरामर्य्यसत्रवत् यावज्जीवन एकनिष्ठा से सतत तल्लीन ही बना रहता है । एवमेव सत्तातन्त्राधिष्ठाता क्षत्रियमानव (शास्ता, शासक) वह मानव है, जो सृष्टिरहस्यवेत्ता गुहानिहित ब्राह्मण के द्वारा व्यवस्थित प्रकृतिसिद्ध विधि–विधानों के माध्यम से अपने 'सौर्य्यमारुतिक' तेजोदण्ड के द्वारा राष्ट्र की व्यवस्था करता रहता है । इन दोनों वर्गों के द्वारा राष्ट्र का ज्ञानविज्ञानबल, तथा भूतबल, दोनों सुसमृद्ध बने रहते हैं । यही इन दोनों का प्रमुख 'आचार' (कर्त्तव्यनिष्ठा) है । इस आचार को सफल बनाने की जो याज्ञिक–प्रक्रिया है, उसी का नाम 'मैत्रावरुणग्रहयाग' है, जिसका प्रक्रान्त 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' (शतपथ चतुर्थकाण्ड–चतुर्थअध्याय के चतुर्थब्राह्मण) में सोपपत्तिक स्वरूप–विश्लेषण हुआ है । इस याग के प्रमुख सूत्रधार ब्रह्म के प्रतिरूपात्मक (प्रतीक नहीं) मित्र ब्राह्मण के सम्बन्ध में, एवं प्रतिरूपात्मक क्षात्र राजन्य–सत्तातन्त्र के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक विशेष उद्बोधन प्रदान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

तत्–तत्–अवक्लृप्तमेव–यत्–'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' । यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत् । (किन्तु) एतत् ह–त्वेवानवक्लृप्तं–यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते (शास्ता)–अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते ! तस्मादु कर्म्मकरिष्यमाणेन–उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते ।

—शतपथ ४।१।४।६।

३३–गुहानिहित ब्राह्मण की अराजन्यता से अनुप्राणित श्रौत–उद्बोधनसूत्र का तत्त्वार्थ-समन्वय, एवं राजन्य की ब्राह्मण–सापेक्षता का दिग्दर्शन—

औचित्य पर विशेष–बल प्रदान करते हुए 'तत्' का पुनरावर्त्तन करते हुए, 'तत्–तत्' रूप से ही उद्बोधन प्रदान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, "सो–यही यही सर्वथा उचित ही है कि, जोकि 'यह ब्राह्मण अराजन्य ही बना रहे अर्थात् अपने आपको सत्ता से सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रक्खे' । घुणाक्षरन्यायेन प्रसङ्गात् यदि यह राजा को (सत्तातन्त्र को) उपलब्ध करले, तो वह इसकी भूतसमृद्धिमात्र ही मानी जायगी (अर्थात् भौतिक–लाभ के अतिरिक्त इस सत्ताश्रय से ब्राह्मण में और कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होगा) ।

त्मक कर्म्म, तथा वाङ्मय अर्थ, की व्यक्तता से 'सामाजिक मानव' हैं, वहाँ मनोमय ज्ञानतन्त्र का अनुगामी ब्राह्मण ज्ञानतन्त्र की सहज परोक्षता से 'अरतिर्जनसंसदि' (गीता) न्याय से व्यक्तभावापन्न जनसम्पर्क से, एवं सामाजिक-जीवन की उत्तालतरङ्गों से अपने आप को यथाशक्य असंपृष्ट रखता हुआ एकान्तचिन्तनलक्षणा गुहा-निहितवृत्त्या ही इस ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्य के उद्घाटन में सफलता प्राप्त कर सकता है । सहजभाषानुसार–दिग्देशकालानुगत क्षात्र–सत्तातन्त्र, तथा दिग्देशकालात्मक वैश्यतन्त्र से तटस्थ–निरपेक्ष बना रह कर ही ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण दिग्देशकालातीता संस्कृति, तथा अनन्तकालानुगत सांस्कृतिक-आचार, एवं मूर्त्तकालात्मक सांस्कृतिक–आयोजन, इन तीनों प्रक्रमों के रहस्योद्घाटन में सफल होता है, जिस इस तथ्य का ही प्रक्रान्त मैत्रावरुणग्रहात्मक श्रौत–सन्दर्भ से स्पष्टीकरण होने वाला है ।

*–एतद्वै जरामर्य्यसत्रं, यदग्निहोत्रम् । (श्रुतिः)

किन्तु यह तो सर्वथा अनुचित, एवं अप्राप्रकृतिक-प्रकृतिविरुद्ध ही होगा, जोकि क्षात्रसत्तातन्त्र (ब्राह्मण की भाँति) 'अब्राह्मण' बन जायगा । अर्थात् सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण जैसे 'अराजन्याब्राह्मण' है, तथैव ब्राह्मण को उपेक्षित कर देने वाला क्षात्रसत्तातन्त्र 'अब्राह्मणराजन्य' माना गया है । ब्राह्मण को जहाँ 'अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष)' ही रहना चाहिए, वहाँ क्षात्रसत्तातन्त्र को 'सब्राह्मण' (ब्राह्मणसापेक्ष)' ही बना रहना चाहिए ।

जिस जिस भी राज्यतन्त्र (सत्तातन्त्र) ने ब्राह्मण को निरपेक्ष बनाते हुए जो जो भी कर्म्म किया है, मित्रब्रह्म की उपेक्षा करने वाले वे सभी कर्म्म समृद्धि से भी सवथा वञ्चित रहे हैं, एवं-'न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात्–स्थातुं शशाक' इत्यादि पूर्वश्रुति के अनुसार वे अपनी स्वरूपरक्षा भी नहीं करसके हैं । अतएव हम (श्रुति) उद्बोधन (चेतावनी) प्रदान करते हैं उस शास्ता सत्तातन्त्र को कि, यदि वह अपने स्वरूप-संरक्षण की कामना रखता है, साथ ही स्वसमृद्धिपूर्वक राष्ट्रसमृद्धि का भी इच्छुक है, तो उसे अपने प्रत्येक कार्य्य में प्रकृतिरहस्यवेत्ता ब्राह्मण के द्वारा ही पथनिर्देश प्राप्त करते रहना चाहिए । अवश्य ही ब्रह्ममित्र के द्वारा प्रसूत, एवं आदिष्ट कर्म्म हीं सत्तातन्त्र को स्वरूपस्थिति, स्वसमृद्धि, एवं राष्ट्रसमृद्धि का कारण होगा" (१) ।

३४--श्रौत उद्बोधनसूत्र के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक सम्प्रश्न—

प्रसङ्गापेक्षया अत्र उद्धृत पूर्वोक्त 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' के संस्मरण से प्रकृत में हमें प्रज्ञाशील–बन्धुओं का ध्यान उक्त ब्राह्मण की ६ ठी कण्डिका के अत्यन्त–महत्त्वपूर्ण–'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः–स्यात–तत्तदेवावक्लृप्तम्' इस उद्बोधनसूत्र की ओर ही आकर्षित करना है । श्रुतिने ब्राह्मण को एकान्ततः 'अराजन्यः' (सत्तानिरपेक्षः) बने रहने का ही आदेश क्यों दिया ? । सचमुच युगधर्म्मात्मक 'कालिकधर्म्म' को ही सर्वेसर्वा मानते रहने वाले दिग्देशकालानुगामियों के लिए तो प्रस्तुत प्रश्न सर्वथा अचिन्त्य ही प्रमाणित होरहा होगा ।

३५--'राजा कालस्य कारणम्' मूला परिवर्त्तनशीला युगव्यवस्था, एवं प्रकृतिसिद्धा नित्या-युगचतुष्टयी का स्वरूप--दिग्दर्शन—

'राजा कालस्य कारणम्' सिद्धान्त की अवश्य ही अपनी दिग्देशकालसीमा में अमुक स्वरूप–प्रतिष्ठा है । वह अमुक सीमा है–व्यक्त भावापन्न–मूर्त्त–दिग्–देश–काल, जो क्षण क्षण में परिवर्त्तनशील–माने गए हैं । इत्थंभूत मूर्त्त–व्यक्त–परिवर्तनशील–दिग–देश–काल–भावों की समन्वितावस्था का नाम ही है तात्कालिक–युगधर्म्म, जिसका अमूर्त्त–काल–दिग्–देशानुबन्धी–ब्राह्म–अहोरात्रात्मक, चतुर्द्दशमन्वन्तरात्मक सत्य–त्रेता–द्वापर–कलि–नामक प्रकृतियुगों से कोई सम्बन्ध नही है (२) । तात्कालिक सत्तातन्त्र ही परिवर्त्तन-

(१) 'शतपथविज्ञानभाष्य'-चतुर्थकाण्ड के 'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण' में इसविषय का विशद-वैज्ञानिक निरूपण कर दिया गया है ।

(२) प्रकृतिसिद्धा युगचतुष्टयी विभिन्न तत्त्व है, एवं सत्तानुबन्धिनी युगचतुष्टयी भिन्न तत्त्व है । पुराणशास्त्र में इन दोनों विभिन्न युगों का यत्रतत्र विस्तार से उपबृंहण हुआ है ।

शील–शासननिबन्धन–युगधर्म्म के प्रति उत्तरदायी बने रहते हैं । एवं इस शासनानुबन्धी युगधर्म्मात्मक तात्कालिक 'काल' के सम्बन्ध में हीं–'**राजा कालस्य कारणम्**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । प्रकृतिसिद्ध द्वापरयुग के अन्त में, तथा प्रकृतिसिद्ध ही कलियुग के आरम्भ में धर्म्मराज युधिष्ठिर का शासन जहाँ '**सत्ययुगात्मक**' था, वहाँ उसी युग के कुनैष्ठिक आततायी दुर्य्योधन का शासन '**कलियुगात्मक**' ही प्रमाणित होरहा था ।

३६–प्रति–मानवानुगता अवस्था–भेदभिन्ना चतुर्युगव्यवस्था का स्वरूप–दिग्दर्शन—

इसप्रकार शासकों की पुण्यनिष्ठा, तथा पापप्रवृत्ति के कारण ही प्रत्येक युग में भी उसी प्रकार शासनानुबन्धिनी–सत्य-त्रेतादि चतुष्टयी उपभुक्त होती रहती है, जैसे कि श्रौतसिद्धान्त (१) के अनुसार प्रत्येक '**प्राकृतिकयुग**' में, तथा प्रत्येक '**शासनयुग**' में प्रत्येक मनुष्य अकर्म्मण्यावस्थारूपा **सुप्तावस्था**, निद्रात्यागात्मिका '**कर्म्मप्रवृत्यवस्था**', उद्बोधनात्मिका '**कर्म्मठावस्था**', तथा सज्जीभूतात्मिका '**कर्म्मसम्पन्नावस्था**' के भेद से **कलि–द्वापर–त्रेता–सत्य**, इन चारों हीं युगों से समन्वित मान लिया गया है । यही एक तीसरे प्रकार की युगव्यवस्था है, जिसका ही आर्षनिष्ठाजगत् में विशेष समादर हुआ है । प्रत्येक मानव अपने पौरुष के द्वारा प्रत्येक युग को जहाँ '**सत्ययुग**' बना सकता है, वहाँ वही मानव अवस्थातारतम्य से सभी युगों में अपने लिए कलि द्वापरादि–सभी युगों का सर्ज्जन करसकता है । **तदित्थं–प्रकृतिसिद्धा नित्या युगचतुष्टयी, शासननिबन्धना युगचतुष्टयी, एवं कर्म्मतन्त्रभेदभिन्ना युगचतुष्टयी, भेद से चतुर्युगव्यवस्था त्रिःस्थाना प्रमाणित होरही है ।**

३७–स्वनिष्ठा से पराङ्मुख भावुक भारतीय मानव की 'दुग्धधौतन्याय' मूला परत्र दोषस्थापनप्रवृत्ति का मलीमस इतिवृत्त—

इदमत्र विशेषरूपेण–अवधेयम् । जैसाकि प्रस्तावना के आरम्भ में निवेदन किया गया है–भारतराष्ट्र की भावुक–प्रजा विगत–भुक्त,-एवं प्रक्रान्त त्रिसहस्त्रवर्षात्मक युगों में अपनी प्रत्येक '**असफलता**' का सम्पूर्ण दोष '**कलियुग**' के प्रति ही अर्पित-समर्पित–करती हुई अपने आपको एकान्ततः '**दुग्ध–धौतन्याय**' (२) से तथोक्त–पतनपरम्परा के प्रति दोषासंस्पृष्ट ही प्रमाणित करती आरही है । इसी युगधर्म्माभ्यास से आज इस भारतीय–भावुक हिन्दू–मानव की भाषा भी सर्वथा उत्तरदायित्त्व–शून्या ही प्रमाणित होगई है, जिस शून्यता में आपाद–मस्तक निमज्जित हो जाने के कारण हीं इस मानव में उस सीमापर्य्यन्त '**व्यक्तित्त्व–विमोहन**' अभिव्यक्त हो पड़ा है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर स्वदोषदर्शन की उद्बोधनात्मिका सहज–प्रवृत्ति सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बन जाया करती है । परिणाम–स्वरूप व्यक्तित्त्वविमुग्ध ऐसा मानव अपना कोई भी दोष

---

(१) **कलिः शयानो भवति, सञ्जिहानस्तु द्वापरः ।**
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्, चरैवेति, चरैवेति ।
—तैत्तिरीयश्रुतिः

(२) 'दूध का धोया'–सुप्रसिद्ध–लौकिकन्याय–(**निरपराधी**)

स्वीकार न करता हुआ कभी अपनी असफलता का दोष युगधर्म्म से समन्वित कर देता है, तो कभी साधन–परिग्रहों पर।

३८–परदोषारोपणप्रवृत्ति से अनुप्राणित भारतीय मानव की व्यावहारिकी लोकभाषा का भावुकतापूर्ण स्खलन—

निश्चयेन अपराध होता है स्वयं इसी के प्रज्ञापराध (नासमझी–अज्ञता) से, किन्तु दोष लगाता है यह दूसरों पर। परत्र दोषस्थापनात्मिका इस की यह दोषारोपणप्रवृत्ति विगत कतिपय–शताब्दियों से तो सीमा का सर्वथा ही अतिक्रमण कर बैठी है। फलस्वरूप जो दोषारोपणप्रवृत्ति पूर्व युगों में केवल मानवों के प्रति ही समर्पित होती थी, आगे चल कर तो वह मनोजीवी पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि प्राकृत–यथाजात प्राणियों के साथ भी समन्वित हो पड़ी, और अन्ततोगत्वा तो इस पद्धति का जड़पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित होगया। इसप्रकार **भाग्य, ईश्वर, कलियुग, अन्यमानव, मनोजीवी प्राणीसर्ग,** और अन्ततोगत्वा **जड़पदार्थ**, आदि आदि अनेक प्रक्रमों में इस भारतीय भावुक मानव की, आचारशून्य अकर्मण्य, किंवा विकर्म्मस्थ, किंवा निरर्थककर्म्मस्थ मानव की दोषपरम्पराएँ समन्वित होपड़ीं, एवं तदनुपात से ही इस में भाषा का भी आत्यन्तिकरूप से स्खलन ही होगया।

३९–भाषास्खलन के कतिपय उदाहरण, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी नैष्ठिक उदाहरण—

'कन्टक' (काँटा) से मानव अपने प्रज्ञापराध से ही विद्ध होता है। अतएव इसे कहना यही चाहिए था कि,–**'मैंने भूल से काँटा चुभा लिया'**। किन्तु पूर्वाभ्यासानुगत भावुकतावश आज इस की भाषा बन गई है–**'मेरे काँटा चुभ गया'**, यह। मानो काँटा इच्छा ही कर रहा था इसके चुभने के लिए। इसीप्रकार-**'मेरे पत्थर की ठोकर लग गई'**-**'वृक्षस्थाणु (१) से मैं टकरा गया'**-**'साँप ने मुझे काट लिया'**-आदि आदि रूप से सभी व्यवहार परदोषस्थापनात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि इन सभी निदर्शनों में अपराधी स्वयं मानव ही बना हुआ है। और–**"मैंने पत्थर की ठोकर लगाली चक्षु के दोष से"**, इत्यादिरूपेण स्वदोष–स्वीकृति से पराङ्मुख ही बन गया यह भावुक मानव। निश्चयेन इसी भयावहा भ्रान्ति से इसने अकर्म्म–विकर्म्मात्मक अपने सभी दोषों को कभी ईश्वर के साथ समन्वित कर दिया, तो कभी काल के प्रति। कभी काल-व्यवस्थापिका सत्ता के प्रति, तो कभी प्रकृतिसिद्ध कलियुग के प्रति, तो कभी अन्यान्य क्षेत्रों के प्रति।

४०–युगधर्म्मानुगत कालिक परिवर्त्तनों की सहजगति—

मानते हैं–भुक्त–प्रक्रान्त पांच सहस्र–वर्षों से प्रकृतिसिद्ध **'कलियुग'** का ही भोग हो रहा है। और निश्चयेन द्वापर–त्रेता–सत्य–युगत्रयी की अपेक्षा इस वर्त्तमान कलियुग में सत्कर्म्मप्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्रमशः अन्तर्मुख ही बनती जारही है। किन्तु प्रकृतिसिद्ध इस कलियुग का जो परिमाण गणनकालानुबन्ध से शास्त्रों में व्यवस्थित हुआ है, उसे सम्मुख रखते हुए हमें यह मान ही लेना पड़ता है कि, दिग्देशकालानुबन्धिनी प्रजा का यह कालिक-परिवर्त्तन अत्यन्त ही सहजगति से होरहा है।

---

(१)–न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति।

घोषपूर्वक ज्यों ज्यों 'वाचा' निनाद करते जायँ, त्यों त्यों ही वैय्यक्तिक–लौकेषणा-वित्तैषणा–लक्षणा स्वार्थ–लिप्सा-परम्पराओं की पूर्त्ति के लिए **असत्य–अनैतिकता–हिंसा–सहविरोध–दानवता–असहयोग–विघटन** आदि आदि विभूतियों ? की ही '**मनसा–कर्म्मणा** अनन्यनिष्ठा से (कुनिष्ठा से) आराधना ही करते रहें। **अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना कलियुगस्य, तदनुगत–भावुक–भारतीय मानवस्य च।**

४४–भावुकता से आक्रान्त भारतीय ब्राह्मण का अधःपतन, एवं तत्प्रज्ञास्खलन से ही राष्ट्र की अभिभूति—

वस्तुस्थिति तो असंदिग्धरूपेण यही है कि, भारतराष्ट्र के तथाकथित त्रिसहस्र–वर्षात्मक सर्वाङ्गीण पतन में **ईश्वरकोप, भाग्य, कलियुग,** आदि आदि भावुकतापूर्ण किसी भी हेत्वाभास का यत्किञ्चित् भी तो संस्पर्श नहीं है। अपितु ये सभी विड़म्बनाएँ एकमात्र उस '**भावुकता**' से ही अनुप्राणित हैं, जो मानव की आत्म–बुद्ध्यनुगता, सुनिष्ठालक्षणा–'**स्वदर्शनवृत्ति**' को तो आत्यन्तिकरूपेण कर लिया करती है अभिभूत, एवं मनः-शरीरानुगता–कुनिष्ठालक्षणा, किंवा असन्निष्ठालक्षणा, भावुकता की प्रतिक्रिया से समुत्पन्ना अभिनिवेशवृत्ति से अनुप्राणिता–'**परदर्शनवृत्ति**' को निरतिशयरूपेण कर दिया करती है- अभिव्यक्त। निश्चयेन इत्थंभूता सर्वनाशकारिणी भावुकता का प्रथम, एवं प्रमुख–क्षेत्र भारतराष्ट्र का वह '**ब्राह्मणवर्ग**' ही बना, जिसकी नैष्ठिकी प्रज्ञा पर ही भारतीय **संस्कृति, सांस्कृति–आचार,** तथा **सांस्कृतिक–आयोजन,** नामक तीनों प्रक्रम व्यवस्थित थे। समाज के शिरोभूत ब्राह्मणवर्ग के प्रज्ञास्खलन से ही आगे चलकर–'**गतानुगतिको लोकः, न लोकः–पारमार्थिकः**' न्याय से तत्पथानुवर्त्मा समाज के इतर वर्गों में भी यही साङ्क्रामिकता महामारी–(प्लेग)–वत् व्याप्त होती ही गई।

४५--भावुकतोत्पत्ति का मूलकारणान्वेषण-प्रयास, एवं तदनुबन्धिनी 'मैत्रावरुणग्रहश्रुति'—

सुनिष्ठापूर्ण भी **श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रत्रयी** के अनन्याराधक ब्राह्मण के प्रज्ञाक्षेत्र में सहसा यह 'भावुकता' क्यों, और कैसे अभिव्यक्त होपड़ी ?, प्रश्न के मौलिक–तात्त्विक–समाधान–समन्वय के लिए ही हमें प्रकृत प्रास्ताविक में–'**मैत्रावरुणग्रहश्रुतिसन्दर्भ**' का अनुगमन करना पड़ा है। श्रौतसन्दर्भ के आचारोद्–बोधनात्मक अग्रिम सन्दर्भ की ६ ठी कण्डिका का निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उद्बोधनसूत्र ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, जिसके तात्त्विक–समन्वय के अनन्तर पूर्वोक्ता प्रश्नपरम्परा का सर्वात्मना समाधान होजाता है। और आज प्रस्तुत प्रास्ताविक–के माध्यम से हम अत्यन्त ही प्रणतभाव से भारतराष्ट्र के प्रज्ञाशील सांस्कृतिक–जगत् का, तत्रापि विशेषतः शास्त्रभक्त भारतीय ब्राह्मणवर्ग का ध्यान उस महत्त्वपूर्ण महान् उद्बोधनसूत्र की ओर आकर्षित करा ही देना चाहते हैं, जिस सूत्रानुगति के बिना अन्यान्य प्रयत्न–सहस्रों से भी भारतराष्ट्र का त्रिसहस्रवार्षिक–सांस्कृतिक–अधःपतन कदापि अवरुद्ध नहीं होसकता। महामाङ्गलिक सूत्र है—

'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'

—तत्–तदेव–अवक्लृप्तम्—

"इसलिए ब्राह्मण अराजन्य हो। क्योंकि कि ऐसा ही इसके लिए **अवक्लृप्त है**, उचित है", इत्यक्षरार्थक उक्त उद्बोधनसूत्र का यही सहज तात्पर्य्यार्थ–समन्वय है कि, ब्रह्म के प्रतिरूप, ज्ञानविज्ञाननिष्ठ,

सुष्ठितत्त्वविमर्शपरायण, ज्ञानशक्तियुक्त विद्वान्–ब्राह्मण को अपनी इस सांस्कृतिक-निष्ठा के संरक्षण के लिए प्राणपण से, प्रयासपूर्वक **'अराजन्य'** ही बना रहना चाहिए। क्योंकि यही इसके सांस्कृतिक-स्वरूप-संरक्षण का प्रमुख अवलम्ब है। अर्थात् दिग्देशकालनिबन्धन शासनतन्त्रात्मक सत्तातन्त्रों के प्रभाव से, आश्रय से ब्राह्मण को असंस्पृष्ट ही बना रहना चाहिए।

४६--'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों से अनुप्राणिता प्रजापति की दो विभिन्न सृष्टियों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

कारण स्पष्ट है। **संस्कृति,** और **सभ्यता,** दोनों शब्द सुप्रसिद्ध हैं। पाञ्चभौतिक महाविश्व के स्रष्टा मनःप्राणवाङ्मय जिस 'प्रजापति' का आरम्भ में स्मरण किया गया है, उस की **'कृति'** [रचना] दो महिमा-भावों में विभक्त मानी गई है। सुसूक्ष्मा **'प्राणात्मिका–कृति'** ही उस प्रजापति की **'अन्तरङ्गकृति'** है, एवं स्थूला 'वाङ्मयी–कृति' ही उसकी **'बहिरङ्गकृति'** है। इन्हीं को **सूक्ष्मकृति, स्थूलकृति,** भी कहा जासकता है। प्राणकृतिरूपा सूक्ष्मकृति उस की रहस्य-पूर्णा-**'परोक्षकृति'** है, एवं वाक्कृतिरूपा स्थूलकृति उस की **'प्रत्यक्ष-कृति'** है। एक ही प्रजापति की कृति क्यों, और कैसे दो महिमा-भावों में परिणत होगई ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान-**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्'** (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि श्रुतिवचन के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है।

४७–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजाति का संस्मरण, एवं उस के अमृत--मर्त्य-भावों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

'प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का ही नाम प्रजापति है'। मनःप्रधान अव्ययपुरुष ही **'पुरुष'** है, जिसे **'भा'–रूप, सत्यात्मक, आकाशात्मा** भी माना गया है (१)। मनोमय इस अव्ययपुरुष की अन्तरङ्गा **'परा'** प्रकृति ही **'अक्षर'** है, और यह **प्राणप्रधाना** है, **प्राणमयी** है। एवं बहिरङ्गा **'अपरा'** प्रकृति ही **'क्षर'** है, और यह वाक्प्रधाना है, वाङ्मयी है। मनोमय, मनःप्रधान अव्ययपुरुष की वही प्रकृति रसप्राधान्या-वस्था में–**'अमृताप्रकृति'** है, यही **'अमृताक्षर'** है (२)। एवं इसी पुरुष की वही प्रकृति बलप्राधान्यावस्था में **'मर्त्याप्रकृति'** है, यही **'मर्त्यक्षर'** है। इसप्रकार पुरुष की एक ही प्रकृति **रसानुबन्धी 'प्राण'** तथा **बलानुबन्धिनी 'वाक्'**–के भेद से क्रमशः **अमृत, मर्त्य,** इन दो विवर्त्तभावों में परिणत होरही है। प्रकृति के ये दोनों विवर्त्त ही क्रमशः **प्राणात्मिका सूक्ष्मकृति,** तथा **वागात्मिका स्थूलकृति,** पूर्वोक्ता इन दोनों कृतियों की प्रवर्त्तिका बन रही है।

४८–पुरुषप्रजापति की रस--बलानुबन्धिनी सोलह कलाएँ—

आनन्द–विज्ञान–प्राण–वाग्–गर्भित–**मनस्तन्त्रात्मक** पञ्चकोशात्मक, पञ्चकल **'पुरुषात्मा'** हीं–**'अव्ययात्मा'** है। ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोमात्मिका–प्राणतन्त्रात्मिका पञ्चकलोपेता अमृता प्रकृति

---

(१)–मनोमयो ऽयं पुरुषो भाः, सत्यं, आकाशात्मा।
—बृह० उप० ५।६।१।

(२)--अमृतस्यैष सेतुः (अक्षरः) —मुण्डक २।२।५।

ही 'अक्षरात्मा' है । प्राणः-- आपः--वाक्--अन्नाद--अन्नात्मिका पञ्चकलोपेता मर्त्याप्रकृति ही--'क्षरात्मा' है । एवं इन तीनों कलात्मक तन्त्रों से अतीत, अमना--अप्राणात्मक (१) विश्वातीत तत्त्व ही इन तीनों की पन्द्रह कलाओं का पूरक सोलहवाँ निष्कल--निरञ्जन--'परात्पर' है ।

४९--षोडशकला--समन्वित षोडशी प्रजापति का संस्मरण—

पञ्चकल मनोमय **अव्ययपुरुष**, पञ्चकल प्राणमय **अक्षर (पराप्रकृति)**, पञ्चकल वाङ्मय क्षर (अपराप्रकृति), एवं **निष्कल परात्पर**, इन षोडश (सोलह) तत्त्वों की समष्टि का नाम हीं वह **'षोडशी--प्रजापति'** नामक **'प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति'** है, जिस की प्रकृति का अक्षरात्मक अर्द्धभाग अमृत है, एवं क्षरात्मक अर्द्धभाग मर्त्य है ।

५०--'नासदासीन्नो सदासीत्' मूलक सदसद्विलक्षण प्रजापति, और अनुगमवचन—

प्राणात्मक अर्द्ध अमृताक्षर-भाग ही उसी का--**'सद्रूप'** है, एवं वागात्मक अर्द्ध मर्त्य क्षर भाग ही उसी का **'असद्रूप'** है । इन दोनों प्राकृत सदसद्भावों का प्रवर्त्तक, अतएव सदसद्भावात्मक (२), अतएव च सत्, और असत् (अक्षर, और क्षर,) से अतीत बनता हुआ--**'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'** (ऋक्--सं०१०।१२९।१।) इत्यादि रूपेण सत्, और असत्, दोनों से ही विलक्षणभावमाध्यम से उपगीयमान प्रकृति--विशिष्ट यह षोडशीप्रजापति ही भूत--भवत्--भविष्यत्, सब कुछ बन रहा है (३) । इसी की तथोक्ता सोलह कलाओं के आधार पर जहाँ--**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** (शत० १३।२।२।१२।) यह अनुगम सिद्धान्त प्रतिष्ठित है, वहाँ **परात्पर--अव्यय--अक्षर--क्षर**--इन चार प्रमुख विवर्त्तों के आधार--पर **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** (शां० ब्रा० १४।३।) यह अनुगम प्रतिष्ठित है ।

---

(१)---अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः--अक्षरात्--परतः परः (तस्मात् 'परात्परः')'

(२)---अमृतं चैव, मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन ! (गीता)

अक्षरापेक्षया स एवाव्ययः सत्, क्षरापेक्षया च स एव-असत्- इति निष्कर्षः ।

(३) क--यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजुःसंहिता ८।३६।

ख--यस्माज्जातं न पुरा किञ्च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजुःसं०३२।५।

ग--प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—यजुःसं० १०।२०।

५१--प्रजापति की 'समब्रह्मता', तदनुबन्धी 'सम्' उपसर्ग, एवं तन्निबन्धन-समता-समत्त्व--साम्य--एकीभाव--आदि समत्त्वप्रतिपादक शब्द—

उक्त प्राजापत्य--स्वरूप के द्वारा प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, प्रकृति-विशिष्ट पुरुष (अव्ययात्मा) ही सर्वत्र, सब भूतों में 'समवस्थित (१) बना रहता हुआ-'समब्रह्म' (२) नाम से प्रसिद्ध है । अपने क्षरनिबन्धन-वाङ्मय–मर्त्य, अतएव नानाभावापन्न भौतिक-(३) क्षरधर्म्म से दिग्देशकालात्मक भौतिक पदार्थ विभिन्न-भावापन्न हैं, अनेक भावाक्रान्त है (४) । इन विभिन्नों में, विभक्तों में, अनेकों में अविभिन्न--अविभक्त--एकरूप से प्रतिष्ठित रहना हीं अव्ययपुरुष का 'समब्रह्मत्त्व' है (५) । इसी आधार पर व्याकरणशास्त्र का सुप्रसिद्ध-'सम्' उपसर्ग एकीभाव का ही वाचक माना गया है, जैसा कि--'समित्येकीभावे' से स्पष्ट है । एकभावापन्न, सर्वत्र समरूपेण अवस्थित 'अव्ययेश्वर' नामक 'समब्रह्म' का संग्राहक एकीभावात्मक यही 'सम्' उपसर्ग प्रमाणित हो रहा है । अतएव यत्र यत्र शास्त्र में जब भी तत्त्वों की अभिन्नता व्यक्त करनी होती है, तत्र तत्र सुर्वत्र-'सम्' उपसर्ग ही समन्वित कर दिया जाता है । संस्कृति–संस्कार–संस्कृत–इत्यादि सुप्रसिध्द शब्दों में पठित 'सम्' उपसर्ग 'सम'ब्रह्मानुगता' इस 'समता' का, 'समत्त्व' का, 'साम्य' का, 'एकीभाव' का ही संग्राहक बन रहा है । सैषा तात्त्विकी–स्थितिः !

---

(१)--समं पश्यन् हि सर्वत्र-'समवस्थित'-मीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम् ॥
—गीता १३।२८।

(२)--इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितम् ।
निर्दोषं हि 'समब्रह्म' तस्माद् ब्रह्मणि, ते स्थिताः, ॥
—गीता ५।१६।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति ॥
—गीता १३।२७।

(३)--क्षरः सर्वाणि भूतानि (गीता)

(४)–मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
—(उपनिषत्)

(५)–अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
—गीता १३।१६

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
—गीता १८।२०।

५२–षोडशीपुरुषप्रजापति की अव्यय-अक्षर--क्षर-मूला भाव-गुण-विकार-निबन्धना त्रिविधा सृष्टि का तात्त्विक स्वरूप--दिग्दर्शन---

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति का मनःप्रधान अव्ययभाग (पुरुष) ही प्राजापत्या सृष्टि का 'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' (१) मूलक 'अधिष्ठान' ('आलम्बनकारण') है । इस मूलाव्ययपुरुषाधिष्ठान का नाम हीं–'समब्रह्म' है । इस समब्रह्म (अव्ययपुरुष) पर 'अधिष्ठित' प्राणप्रधान अक्षरभाग (अव्ययपुरुष की 'परा' नाम की–अन्तरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'कथासीत्' मूलक 'असमावायिकारण' ('निमित्तकारण') है । एवं इसी समब्रह्म पर प्राणमय अक्षर के माध्यम से 'प्रतिष्ठित' क्षरभाग (अव्यय–पुरुष की–'अपरा' नाम की 'बहिरङ्गप्रकृति') ही सृष्टि का–'आरम्भणं कतमित्स्वित्' मूलक–'आरम्भण' ('समवायिकारणात्मक उपादानकारण') है । इन तीनों कारणों से अभिव्यक्त–व्यक्त–प्रसूत (२) प्राजापत्यसर्ग इन तीन 'आत्ममहिमा' भावों के अनुबन्ध से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जो कि तीनों सर्ग क्रमशः भावसर्ग (अव्ययात्मक), गुणसर्ग (अक्षरात्मक,) एव विकारसर्ग (क्षरात्मक), नामों से प्रसिद्ध हैं । मनोमय–अव्यय से अनुप्रेरित भावसर्ग ही प्रजापति की 'अकृतिरूपा–सूक्ष्मतमा ऋषिसृष्टि' है, जिसका–'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (३) (गीता १०।५।) इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है । यही–'मानसीसृष्टि' है, यही–'पुरुषसृष्टि' (अव्ययसृष्टि) है । प्राणमय अक्षर से अनुप्राणित गुणसर्ग ही प्रजापति की 'आभ्यन्तरकृतिरूपा सूक्ष्मा 'देवसृष्टि' है । एवं वाङ्मय क्षर से समन्वित (४) विकारसर्ग ही प्रजापति की 'बाह्यकृतिरूपा–स्थूला–भूतसृष्टि' है । इन तीनों में भावात्मक सर्ग पुरुषसर्ग है, एवं–गुण–विकार–नामक दोनों सर्ग अक्षर, क्षर, नाम की परा–अपरा प्रकृतियों के द्वारा क्रमशः अनुप्राणित, तथा समन्वित होते हुए–'प्राकृतिकसर्ग' हैं, जिन्हें लक्ष्य बना कर ही भगवान् बासुदेवकृष्णने कहा है–

प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति–सम्भवान् ।

—गीता १३।१६।

---

(१)–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमित् स्वित् कथासीत् ।

—ऋक्संहिता

(२) अव्यय के द्वारा अभिव्यक्त, अक्षर के द्वारा व्यक्त, एवं क्षर के द्वारा प्रसूत ।

(३) महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

–गीता १०।६।

(४)–अव्ययात्मक मन से 'प्रेरित', अक्षरात्मक प्राण से 'अनुप्राणित', एवं क्षरात्मिका वाक् से 'समन्वित' ।

५३--भावसृष्टि का असृष्टित्त्व, एवं गुण--विकार--सृष्टियों का सृष्टित्त्व, तथा प्रजापति की दो विभिन्न कृतियाँ—

भाव, गुण, विकार (१) नाम की पूर्वोक्ता प्राजापत्या सृष्टित्रयी ही प्रजापति की–'**कृति**' है । इन तीनों कृतियों में पुरुषमूला ('अव्यय' नामक समब्रह्म से प्रेरिता) प्रथमा '**भावकृति**' (भावसृष्टि) असृष्टिरूपा ही मानी गई है, जैसाकि–'**न करोति, न लिप्यते**' (गीता) से स्पष्ट है । अतएव अकृतिरूपा इस मनोमयी भावात्मिका सृष्टि को हम सृष्टिमर्य्यादा से असंस्पृष्टा ही मानेंगे । ऐसी अवस्था में अब **अक्षर–क्षर–मूला गुण–विकारात्मिका** दो कृतियाँ हीं–'**कृति**' शब्द की अधिकारिणीं रह जातीं हैं । अतएव अब इन दो को ही '**कृति**', किंवा–'**सृष्टि**' कहा जायगा ।

५४--समब्रह्मानुगता देवभावात्मिका अक्षरप्रकृतिनिबन्धना--अधिदैवतभावापन्ना 'संस्कृति', एवं वाग्ब्रह्मानुगता-भूतभावात्मिका-क्षरविकृतिनिबन्धना अधिभूतभावापन्ना-'सभ्यता' शब्दों का तत्त्वार्थ—

उक्त दोनों कृतियों में अक्षरात्मिका 'प्राणकृति' ही **देवकृति** (**देवसर्ग**) है, यही अक्षररूपा अमृता-सनातना-नित्यासृष्टि है, जिसका **अक्षरात्मक-अव्यक्त-अमूर्त्त-अनाद्यनन्त-अनन्तकाल** से ही सम्बन्ध माना गया है । एवं इस अक्षरात्मिका अधिदैवतात्मिका प्राणसृष्टि को ही तत्त्ववेताओंनें '**समब्रह्म**' (**अव्यय**) की '**प्रमुख कृति**' माना है । दूसरी क्षरात्मिका '**वाक्कृति**' ही–'**भूतकृति**' है, यही क्षररूपा मर्त्या–परिवर्त्तन–शीला–अनित्यासृष्टि है, जिसका क्षरात्मक व्यक्त–मूर्त्त–सादिसान्त दिग्देशकाल से ही सम्बन्ध माना गया है । इसी व्यक्तता के कारण विकारात्मिका यह दूसरी **मर्त्या-स्थूला-भूतसृष्टि--लक्षणा** (**अधिभूतात्मिका**) '**विश्वसृष्टि**' '**सभात्मिकासृष्टि**' (**प्रकटसृष्टि**) मानी गई है । ये दोनों प्राकृत–सृष्टियाँ हीं तत्त्वपरिभाषानुसार क्रमशः **संस्कृति**, और **सभ्यता**, नामों से व्यवहृत हुईं हैं । समब्रह्म की अक्षरात्मिका नित्या अनन्ता कृति ही '**सम**' के संग्राहक '**सम्**' की कृति बनती हुई जहाँ '**संस्कृति**' है, वहाँ क्षरात्मक–विश्व-लक्षण–सभाभावानुबन्ध से प्रत्यक्षा अनित्या सादिसान्ता कृति ही '**विश्वसभा**' माध्यमेन–'**सभ्यता**' कहलाई है । अत्यन्त ही दुरधिगम्य है इन दोनों तात्त्विक शब्दों का चिरन्तन–इतिवृत्त, जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही मानवाश्रमने अपने उत्तर-दायित्त्व पर सहस्रपृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र–निबन्ध उपनिबद्ध किया है (२) ।

---

(१)–किंवा–**मानसी—प्राणात्मिका–वाङ्मयी–सृष्टित्रयी**

किंवा–अव्यय—–अक्षर——–क्षर———मूला–सृष्टित्रयी

किंवा–पुरुष–––प्रकृति–——विकृति—–मूला सृष्टित्रयी

किंवा–ऋषि——देव———भूत———मूला सृष्टित्रयी

किंवा–सूक्ष्मतमा–सूक्ष्मा——स्थूला——सृष्टित्रयी

(२)–"**सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द का, एवं सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त, तथा भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा**" नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध ।

५५–अक्षरानुबन्धी–दैवभावानुगत–प्राणात्मक सूक्ष्म विश्व का संस्कृतित्त्व, क्षरानुबन्धी–भूतभावानुगत–वागात्मक स्थूल विश्व का सभ्यतात्त्व, एवं मित्र–ब्रह्म–प्रतिरूप ब्राह्मण के द्वारा 'संस्कृति' का, तथा क्षत्र–वरुण–प्रतिरूप सत्तातन्त्र के द्वारा 'सभ्यता' का सम्भावित-सरक्षण—

प्रजापति का मनोगर्भित प्राणात्मक सुसूक्ष्म सनातन आधिदैविक विश्व ही–'**संस्कृति**' है, एवं इसी का मनःप्राणगर्भित–वागात्मक स्थूल–परिवर्त्तनशील आधिभौतिक–जगत् ही '**सभ्यता**' है, एवं यही पूर्वोक्त–प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की इन दोनों सुप्रसिद्धा **अमूर्त्ता–मूर्त्ता** कृतियों का संक्षिप्ततम स्वरूप–समन्वय है, जिसे मध्यस्थ बनाए बिना प्रतिज्ञात–'**तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः**' इस महामाङ्गलिक उद्बोधनसूत्र का समन्वय सम्भव ही नहीं है। **संस्कृति**, और **सभ्यता**, शब्दों से अनुप्राणित **अधिदैवत**, और **अधिभूत** को लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधार पर ही अब उद्बोधनसूत्र-समन्वय का निःसीम अनुग्रह कीजिए। "**नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**"।

प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति की अक्षरप्राणनिबन्धना नित्या कृति ही '**नित्या देवसंस्कृति**' है, एवं क्षर-वाग्निबन्धना अनित्या (परिवर्त्तनशीला) कृति ही '**अनित्या भूतसभ्यता**' है। इन दोनों सहज-सिद्ध **संस्कृति, सभ्यता**,–रूपा **देव–भूत**–कृतियों के आधार पर ही भारतीया ऋषिप्रज्ञा के द्वारा '**भारतीय–संस्कृति**' तथा-'**भारतीय-सभ्यता**' नामक दोनों तन्त्रों की स्वरूप-व्यवस्था हुई है। जिसप्रकार प्रकृतिजगत् में '**संस्कृतिरूपा-देवकृति**' का उत्तरदायित्त्व मनस्तन्त्रात्मक क्रतुभावापन्न–ज्ञानशक्तिप्रधान '**मित्रब्रह्म**' पर अवलम्बित है, एवं जिसप्रकार '**सभ्यतारूपा-भूतकृति**' का उत्तरदायित्त्व मनोगर्भित–प्राणतन्त्रात्मक–दक्ष–भावापन्न–क्रियाशक्ति–(पौरुषशक्ति)–प्रधान '**वरुणक्षत्र**' पर आश्रित है, ठीक इसीप्रकार–'**देवानतुविधा वै–मनुष्याः**'–'**यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्-करवाणि**–'**प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या**'–'**पूर्णमदः–पूर्णमिदम्**'–'**यदमुत्र तदन्विह**'–'**यथाण्डे–तथा पिण्डे**' इत्यादि के अनुसार **मित्रब्रह्म** के प्रतिरूप **ब्राह्मण** के उत्तरदायित्त्व पर **देवकृति** की प्रतिरूपा '**संस्कृति**' का, तथा **वरुणक्षत्र** की प्रतिरूपा राजन्यसत्ता के उत्तरदायित्त्व पर **भूतकृति** की प्रतिरूपा '**सभ्यता**' का उत्तरदायित्त्व समर्पित हुआ है तत्त्ववेत्ता महामहर्षियों के द्वारा।

५६–सत्तानिरपेक्षा 'संस्कृति', एवं सत्तासापेक्षा 'सभ्यता', तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठिता–व्यवस्थिता सभ्यता के प्रति ही सत्तातन्त्र के व्यवस्था–सञ्चालन–मात्र का उत्तरदायित्त्व—

अतएव ब्राह्मण को हम जहाँ संस्कृति का अधिष्ठाता मानेंगे, वहाँ सत्तातन्त्र को सभ्यता का ही संरक्षक कहेंगे। और इसी आधार पर '**संस्कृति**' शब्द को जहाँ '**सतानिरपेक्ष**' कहा जायगा, वहाँ '**सम्यता**' शब्द को '**सत्तासापेक्ष**' माना जायगा। अतएव कहा, और मान लिया जायगा कि, ब्राह्मण के '**संस्कृतितन्त्र**' में सत्तातन्त्र यत्किञ्चित् भी हस्तपेक्ष नहीं करसकेगा। अपितु इस सत्तातन्त्र का एकमात्र यही कर्त्तव्य होगा कि, "**यह संस्कृतिनिष्ठ–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–प्रकृति–रहस्यवेत्ता ब्राह्मण की संस्कृति के आधार पर निर्णीत-**

व्यवस्थित (१) संस्कृत्यनुगामिनी सभ्यता के विधि-विधानों को ही साम-दाम-दण्ड-भेद-माध्यम से राष्ट्रप्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक अनुगमन कराता रहे, एवं स्वयं भी अनुगामी बना रहे"।

५७-संस्कृति-स्वरूप-विश्लेषक शास्त्र, तन्निष्ठ सांस्कृतिक ब्राह्मण, तद्द्वारा श्रुति-स्मृति-पुराण-माध्यम से संस्कृति-तदाचार-तदायोजन-त्रयी का व्यवस्थापन, एवं तत्प्रति सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप का निरोध—

संस्कृति का स्वरूप-विश्लेषक सनातनशास्त्र ही 'श्रुतिशास्त्र' कहलाया है। तदनुवर्त्मा शास्त्र ही-'स्मृतिशास्त्र' माना गया है। एवं उभयशास्त्रस्वरूपोपबृंहक इतिहास-पुराणात्मक शास्त्र ही-'पुराणशास्त्र' कहलाया है। इसप्रकार प्रक्रमभेद से एक ही सांस्कृतिक-सनातनशास्त्र के श्रुति-स्मृति-पुराण-नामक तीन शास्त्रविवर्त्त सम्पन्न हो रहे हैं, जिन इन तीनों के माध्यम से ही क्रमशः उसी तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण के द्वारा **संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन**-इन तीन अभिक्रमात्मक सांस्कृतिक व्यूहों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। इसी दृष्टि से अब **संस्कृति**, और **साहित्य** (**श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक शब्दशास्त्र**), दोनों को अभिन्नार्थक ही माना जासकता है, माना गया है। शब्दशास्त्र ही, तद्रूप साहित्य ही भारतीय-संस्कृति का प्रतिरूपात्मक प्रतीक माना गया है। अतएव संस्कृतिरूप इस साहित्य को भूतसभ्यता के सञ्चालकमात्र सत्तातन्त्र के हस्तक्षेप से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माना गया है।

५८-संस्कृतिमूलक-'धर्म्म' की स्वरूप-परिभाषा, एवं संस्कृति, साहित्य (शास्त्र), तथा धर्म्म-तन्त्रों की अभिन्नार्थकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-सनातन-विधि-विधानों के आधार पर ही प्राकृत विश्व का, एवं तद्गर्भीभूता चतुर्दश-विधा (२) भूतभौतिकी प्रजा का कर्त्तव्यकर्म्मात्मक स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। यही स्वरूप-व्यवस्था, प्रकृतिभेदभिन्न कर्त्तव्यकर्म्म क्योंकि तत्तत् प्राकृत जड़-चेतन-पदार्थों, प्रजाओं के द्वारा 'धृत' बनता हुआ इन्हें स्व-स्व-स्वरूपों में धारण किए हुए है। अतएव इस प्रकृतिसिद्ध, शास्त्रसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्म को ही-**'धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणं धारयति स्व-स्वरूपे'** इस निर्वचन से-**'धर्म्म'** कहा जाता है (३)। तदित्थं-

---

(१)-एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
—मनुः १२।११३।

(२)-लता-गुल्म-वल्ली-त्वक्सार-ओषधि-वनस्पति-आदि आदि पदार्थों की समष्टिरूप एकविध (एक जातीय) १-सतम्बसर्ग, १-कृमि, २-कीट, ३-पक्षी,-४-पशु, ५-मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध चेतनसर्ग, एवं १-ब्राह्म-२-प्राजापत्य-३-दैत्य-४-ऐन्द्र-५-गन्धर्व-६-पिशाच-७-यक्ष-८-राक्षस, भेदभिन्न अष्टविध देवयोनिसर्ग, इन चौदह प्रकार के प्रजासर्गों का नाम ही-'चतुर्दशविध-भूतसर्ग' है।

(३)-धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स 'धर्म्म' इति निश्चयः ॥
—पुराणे

संस्कृतिमूलक साहित्य (शास्त्र) के सनातन–प्रकृतिसिद्ध–कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नामान्तर–'धर्म्म' प्रमाणित होरहा है। इसी आधार पर हम–'संस्कृति–साहित्य–धर्म्म'–तीनों को अभिन्नार्थक ही मान सकते हैं, जिन इन तीनों अभिन्नार्थक तत्त्वों का चिन्तनोत्तरदायित्व सांस्कृतिक–ब्राह्मण से ही अनुप्राणित माना गया है।

५६–'नीति' की स्वरूप-परिभाषा, धर्म्मानुगता 'नीति' का 'नीतिपथत्त्व', धर्म्मनिरपेक्षा 'नीति' का 'अनीतित्त्व', तद्द्वारा राष्ट्रस्वरूपप्रतिष्ठोच्छेद, एवं धर्म्म की परमता—

प्रकृतिसिद्ध सुसूक्ष्म विधि–विधानों की समष्टिरूप सांस्कृतिक-धर्म्म का दिग्देशकालानुबन्धी सामयिक–अभिव्यक्त स्वरूप ही 'नीति' है, जिसका सामाजिक–सभ्यता से ही सम्बन्ध है, जिसका कि सञ्चालक सत्तातन्त्र ही माना गया है। यह संस्मरणीय, एवं सर्वथा अविस्मरणीय है कि, सत्तातन्त्रानुगत नीतितन्त्र तभीतक 'नीति' उपाधि का अधिकारी बना रहता है, जबतक कि इसका आधार (प्रतिष्ठा) संस्कृति–साहित्यमूलक पूर्वोक्त 'धर्म्म' बना रहता है। 'धर्म्म सापेक्ष नीतितन्त्र ही यहाँ 'नीतिपथ' माना गया है। जो नीति धर्म्म की उपेक्षा कर देती है, दूसरे शब्दों में अपने सत्तामदगर्व से अभिभूत जो सत्तातन्त्र इस प्रकृतिसिद्ध धर्म्म को निरपेक्ष मान बैठने की भयावहा भूल करता हुआ, मूर्त्त–दिग्–देशकालानुगता तात्कालिकी सभ्यता के आवेश से आविष्ट होता हुआ व्यक्ति–पद–प्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों में आसक्त होजाता है, निश्चयेन उसकी धर्म्मनिरपेक्षा, किंवा धर्म्मविरुद्धा नीति अनीतिरूप में परिणत होती हुई राष्ट्रस्वरूप की विध्वंसिका ही बन जाया करती है, 'तस्मात्-धर्म्मात् परं नास्ति' (शतपथ१४।४।२।२६)।

६०–सत्तारिपेक्ष ब्राह्मणवत् 'धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र' रूपा महती समस्या का आविर्भाव, एवं तन्निराकरण-प्रयास—

धर्म्म, और नीति के इस प्रासङ्गिक–अनुबन्ध के माध्यम से ही एक नवीन प्रश्न अभिव्यक्त होपड़ता है, जिसका समाधान किए बिना प्रतिज्ञात उद्बोधनसूत्र अगतार्थ ही बना रह जाता है। यह स्पष्ट किया गया है कि, संस्कृति, तन्मूलक साहित्य, तद्विधि-विधानात्मक धर्म्म, तथा तदुपासक ब्राह्मण को सभ्यतानुगामी, नीतिपथानुवर्त्मा सत्तातन्त्र से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए। इसी समान–क्षेत्र–नियमानुबन्ध से क्या सत्तातन्त्र को भी धर्म्म से निरपेक्ष नहीं बना रहना चाहिए ?। दूसरे शब्दों में–संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, और तदनुवर्त्मा ब्राह्मण यदि सत्तानिरपेक्ष हैं, तो क्या सभ्यता, नीति, और तदनुवर्त्मा सत्तातन्त्र (शासनतन्त्र) को भी संस्कृति–साहित्य, तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष नहीं बन जाना चाहिए ?। यही वह महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका विगत–भुक्त, प्रक्रान्त तीन सहस्र वर्षों की अवधि में न तो राष्ट्र का विद्वत्तन्त्र ही इस दुरधिगम्या समस्या का समन्वय कर पाया है, एवं न सत्तातन्त्र ही इस विपत्तिपत्ति का निराकरण करसके हैं।

६१–संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की निरपेक्षता के सम्बन्ध में भावुक-विद्वानों की महती भ्रान्ति, एवं तन्मूला आपातरमणीया 'राजभक्ति'—

वर्त्तमान सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र-सत्तातन्त्र से पूर्व की ब्रिटिशसत्तातन्त्र पर्य्यन्त अमुक-दासतापूर्णा शताब्दियों से भारतराष्ट्र के धर्म्माभिनिविष्ट, धर्म्मभीरु (मतवादाभिनिविष्ट (१), धर्म्मनिष्ठ नहीं) उपदेशक, महामहोपदेशक धर्म्मप्रचारक (मतवादप्रचारक) विद्वानों से ऐसा कुछ उद्घोष सुना जाता था कि–"हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु हमें तो (राजभक्ति से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य समाप्लुत रहते हुए) केवल धर्म्म का ही प्रचार करते रहना है" । क्या सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है ?। सत्तातन्त्र यथेच्छ करता कराता रहे, विद्वान् प्रणतभाव से न केवल इस यथेच्छाचार के प्रति तटस्थ ही बने रहें, अपितु शास्त्रों के बलपर इन यथेच्छारों को ही 'राजभक्ति' के आवेश में 'शास्त्रसिद्ध' प्रमाणित करते रहें, क्या श्रुतिसिद्धा सत्तानिरपेक्षता का यही अर्थ है ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध, प्रकृतिसम्मत, सनातन-ईश्वरीय-'धर्म्म', तथा मानसिक-मान्यतानुबन्धी युगधर्म्मात्मक 'मत', एवं दोनों का आत्यन्तिक पार्थक्य –

वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के व्यामोहनाकर्षण से अनुप्राणिता सत्तातन्त्र की सापेक्षतानुगता आश्रयता से, लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के विकर्षण से अभिव्यक्ता वैश्यतन्त्र की आश्रयता से, एवमेव अन्यान्य भी कारणविशेषों से जब मानवीया प्रज्ञा तथोक्ता 'धर्म्मनिष्ठा' से पराङ्मुख होजाती है, तो इसके अध्यात्मतन्त्र की दिग्देशकालातीता आत्मबुद्धिनिष्ठा तो होजाती है अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में मनःशरीरनिबन्धना कामार्थमूला भावुकता होजाती है उद्बुद्धा । यह भावुकता ही कालान्तर में मानव की आत्मानुगता स्वत्वबुद्धि का अपहरण कर लेती है । अतएव 'आस्था' परिसमाप्त होजाती है । फलस्वरूप मनोऽनुगता 'मान्यता' ही प्रधान बन जाती है । अपनी भावुकतापूर्णा मान्यता से अनुप्राणित काल्पनिक-सिद्धान्तों को ही-'मत' नाम से व्यवहृत किया गया है, जो कि दिग्देशकालानुबन्धों से परिवर्त्तित होते रहते हैं । यही 'धर्म्म', और 'मत' में वह महान् अन्तर है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है ।

६३–वर्त्तमानयुगीय-'सनातनधर्म्म'-'हिन्दूधर्म्म' आदि धर्म्मों-की 'धर्म्म' से पराङ्मुखता, एवं इन का विशुद्ध मतवादत्व—

विगत तीन सहस्र वर्षों से तथाविधा मतवादपरम्पराओंनें हीं 'धर्म्म' का स्थान अपहृत कर रक्खा है । सनातनधर्म्म, आर्य्यसमाज, एवं विभिन्न सम्प्रदाएँ, आदि आदि जो भी धर्म्म-विभाग आज देखे सुने जारहे

---

(१) प्रकृतिसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक, ईश्वरीय-सनातन-विधि–विधानात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों का ही नाम–'धर्म्म' है, जिसका मानव की मनोऽन्विता मान्यता से, एवं तदनुगत दिग्देशकालानुबन्धों से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है । तपःपूत महामहर्षिगण इस धर्म्म के 'द्रष्टामात्र' हैं, 'कर्त्ता' नहीं । ईश्वरावतार भगवान् राम–कृष्णादि भी इस शाश्वतधर्म्म के सन्देशवाहक, एवं धर्म्मानुगता ग्लानि के उपशमनकर्त्तामात्र हैं । यही इस 'धर्म्म' तत्त्व की दिग्देशकालातीता 'सनातनता' है । अतएव यह धर्म्म 'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों से उपस्तुत है ।

हैं, उन सभी का वस्तुतः मान्यतानुगत '**मतवादों**' से ही सम्बन्ध है, जिन इत्थंभूत, दासताप्रवर्त्तक मतवादों से राष्ट्र जितना शीघ्र '**निरपेक्ष**'-बन जाय, एवं इसी निरपेक्षता के बल पर यह जितना शीघ्र आस्थापरिपूर्ण ज्ञानविज्ञानात्मक शाश्वतधर्म्म के प्रति प्रणतभाव से सापेक्ष बन जाय, इसीमें इसका अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् है। क्योंकि मानवीय–कल्पनाओं से असंस्पृष्ट ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्रकृतिभेद-भिन्न शाश्वतधर्म्म को ही दार्शनिकोंनें अभ्युदय, निःश्रेयस् का एकमात्र संसाधक माना है—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः**' (वैशेषिक–दर्शन)।

६४–ब्राह्मण की 'निरपेक्षता' का तात्त्विक-समन्वय, एवं निरपेक्षतामूलक साक्षित्व से ही संस्कृतिनिष्ठा का सम्भावित-संरक्षण—

निरपेक्षता का क्या अर्थ है ?, प्रश्न का तत्त्वसम्मत एकमात्र यही समाधान है कि, संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–निष्ठ विद्वान् को कभी सत्ता का वैसा आश्रय नहीं ग्रहण कर लेना चाहिए, जिससे इसकी सांस्कृतिक-निष्ठा तो होजाय अभिभूत, एवं तत्स्थान में सत्ता की मान्यताएँ हीं बन बैठे इसकी संस्कृति। कदापि इस निरपेक्षता का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, सत्ता अपनी इच्छानुसार यथेच्छ व्यवस्थाएँ करतीं रहै, और संस्कृतिनिष्ठ इनका समर्थन करता हुआ इनसे उदासीन ही बना रहे। इतिहास साक्षी है कि, पुरायुगों में जब जब भी अमुक **वेन, रावण, कंस,** आदि के सत्तातन्त्रोंनें '**अनीतिपथों**'को ही '**नीतिपथ**' मानना, मनवाना आरम्भ कर दिया था, तब तब ही राष्ट्र के विद्वद्वर्ग ने हीं उनका न केवल प्रचण्ड विरोध ही किया था, अपितु प्रज्ञाबल से उन तन्त्रों का उन्मूलन ही कर दिया था। '**साक्षी**' जिस सीमापर्य्यन्त '**कर्त्ता**' के प्रति निरपेक्ष बना रहता है, वही निरपेक्षता यहाँ अभिप्रेत है।

६५–ब्राह्मण की सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता का, तथा सत्तातन्त्र की ब्राह्मण के प्रति सापेक्षता का समन्वय, एवं समस्या का निराकरण—

अब उस प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए, जिसके द्वारा सत्तातन्त्र की सापेक्षता का द्वन्द्व उपस्थित होपड़ा था। जिसप्रकार ब्राह्मण-'**अराजन्य**' रहता है, क्या उसीप्रकार राजन्य, अर्थात् सत्तातन्त्र भी '**अब्राह्मण**', अर्थात् '**ब्राह्मणनिरपेक्ष**' बन जाय ?, जिसका फलितार्थ निकलता है-**संस्कृति, साहित्य, एवं धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना**। नहीं, कदापि नहीं। क्यों ?। इसलिए कि '**मित्रब्रह्म**' जहाँ स्वस्वरूप से स्वयं प्रतिष्ठित रहने में समर्थ है, वहाँ '**वरुणक्षत्र**' बिना मित्रब्रह्म के क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। **ज्ञान** स्वस्वरूप से सुरक्षित है, किन्तु '**कर्म्म**' तो बिना ज्ञानाधार के प्रवृत्त ही नहीं होसकता (१)। अतएव स्पष्ट है कि, ब्राह्मणतन्त्र तो सत्तातन्त्र के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकता है, रहता ही है। किन्तु सत्तातन्त्र कभी इसे निरपेक्ष बनाकर न तो स्वस्वरूप से ही प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न समृद्ध ही बन सकता, जैसाकि स्वयं श्रुत्यक्षरोंके द्वारा पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

---

(१)–ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म तदेतत्कृतमुच्यते ॥
—प्रसिद्धसूक्तिः

६६–ब्राह्मण की 'अराजन्यता' का दिग्देशकालानुबन्धी समन्वय, एवं तदभावे संस्कृति-निष्ठात्मिका स्वाध्यायनिष्ठा की अन्तर्म्मुखता—

उक्त सन्दर्भ के द्वारा निष्कर्ष यही निकला कि, ब्राह्मण को संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, के सहज तात्त्विक-स्वरूप-संरक्षण के लिए अपने आप को 'अराजन्य' ही बनाए रखना चाहिए। अर्थात् सत्तातन्त्र के वैसे आश्रय से, सहयोग से प्रत्येक सम्भव उपाय से संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् को आत्मपरित्राण ही करते रहना चाहिए, जिस से कि उस की दिग्देशकालातीता, किन्तु दिग्-देशकालप्रतिष्ठारूपा सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा में दिग्देशकालानुबन्धिनीं सत्तामान्यताएँ प्रविष्ट न होजायँ, जिन के प्रवेश से कि,संस्कृति का स्वरूप तो होजाता है अन्तर्म्मुख, एवं-सत्तामान्यताएँ बन जातीं हैं प्रमुख। तस्मात्—

'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'

६७–चिन्तनमूला 'संस्कृति', स्वाध्यायमूलक 'साहित्य', एवं आचरणमूलक 'धर्म्म' का समन्वय, तथा-मतवादात्मक-काल्पनिक 'धर्म्मप्रचार' के व्यामोहन से ही सत्ताश्रय की पारम्परिक अभिव्यक्ति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

क्यों ब्राह्मण में 'राजन्यवृत्ति' का उदय होपड़ा ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है–संस्कृति, साहित्य, एवं सर्वोपरि धर्म्म का प्रचार-व्यामोहन। प्रचार मतवादों का ही हुआ करता है। किन्तु संस्कृति का तो चिन्तन ही होता है, साहित्य का स्वाध्याय ही होता है, एवं धर्म्म का आचारण ही होता है। चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-त्रयी ही तत्त्रयी का वास्तविक प्रचार है। शिष्य-सख्याभिवृद्धि-मूलक प्रचार-व्यामोहन का इन तीनों प्रक्रमों में से किसी का भी सम्बन्ध नहीं है। स्वयं अपनी ओर से प्रचार की तो कथा ही विदूर है। अपितु प्रणतभाव से जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर भी इन तीनों प्रक्रमों के लिए शास्त्रने पात्रापात्रता को ही सर्वतिमना परीक्षणीया माना है।२(१)। विविध प्रकार की मान्यताओं को अग्रणी बना कर ही प्रचार हुआ करता हुआ है अपने

---

(१)–विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्॥
—यास्कनिरुक्त

परनिन्दाशीलः-असूयकः। मनसा-वाचा-कर्म्मणा च कुटिलः-अनृजुः। इन्द्रियासक्तश्चञ्चलोऽशुचिः-अयतः। तस्मै न ब्रूयात्-इति निष्कर्षः

(२)–इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
—गीतायाम् (१८।६७)।

कल्पित-मतवादों का। इत्थंभूत मतवादों के क्षेत्र में हीं शिष्य-सम्प्रदाय-वृद्धि-की लिप्सा-पूर्णा कामना जागरूक बनी रहती है। और आज से तीन सहस्र वर्षारम्भ में अपनी अनात्ममूला मतवादात्मिका इसी मान्यता के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतीय-प्रज्ञा में जो 'धर्म्मप्रचार'–कामना जागरूक होपड़ी थी, उसी के अभिशाप से इस राष्ट्र के ईश्वरनिष्ठ प्रजावर्ग में, विशेषतः तन्निष्ठासंरक्षक विद्वत्समुदाय में भी वही सर्वविनाश–कारिणी प्रचारकामना जागरूक हो ही तो पड़ी। इसी प्रचार-कामना के वारुणपाशने सर्वनिरपेक्ष भी इस राष्ट्र के ब्राह्मण को बलात् उसीप्रकार **राजन्य (सत्तासापेक्ष)** बना ही तो दिया, जैसे कि अनात्मवादियों को स्वमतप्रचार के लिए तद्युग में सर्वप्रथम राजन्य (सत्ताश्रित) ही बन जाना पड़ा था।

६८–सत्तासापेक्ष विद्वानों के द्वारा आचारशून्य, अतएव जीवनसौन्दर्य से असंस्पृष्ट, सत्ता-मान्यता-समर्थक काल्पनिक साहित्य का सर्जन –

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' न्याय से तद्युगारम्भ में प्रचार-कामनाकर्षण के अनुग्रह से विवेकभ्रष्ट हो जाने वाले राष्ट्रीय विद्वानों का यह विनिपात उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित ही होता गया लोकैषणाभिवृद्धि से, एवं तत्समर्थिका वित्तैषणाभिवृद्धि से। ज्ञान के नियन्त्रण से पराङ्मुखा सत्ताएँ ज्यों ज्यों अधिकाधिक उच्छृङ्खल होतीं गईं, त्यों त्यों ही इस वर्ग की आत्मदासता भी अधिकाधिक प्रवृद्ध होती गई। सत्ता नें जैसी कामना की, वैसी ही शास्त्रव्याख्याएँ इस वर्ग को उपनिबद्ध कर देनीं पड़ीं। इसी असत्प्रवृत्ति के कारण आचारात्मक–शास्त्र तो स्वाध्यायनिष्ठा से पराङ्मुख होगए, एवं तत्स्थान में मतवादसमर्थक साम्प्रदायिक शब्दभार प्रधान बनता गया। एवं शृङ्गारप्रधान भावुकतापूर्ण वैसा शब्दाडम्बर ही **'राष्ट्रीय-साहित्य'** प्रमाणित कर दिया गया, जिस से कमलाविलास–मदोन्मत्त सत्तातन्त्रों का अनुरञ्जनमात्र ही सम्भव था, एवं जिस का आचारनिष्ठात्मक जीवन–सौन्दर्य्य से, तथा आत्मनिःश्रेयस् से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं था।

यह प्रकृतिसिद्ध तथ्य है कि, **ब्रह्म** हीं क्षत्र का **नियन्ता है, ज्ञान** के द्वारा ही **कर्म्म** की मर्य्यादा सुरक्षित रहा करती है, **संस्कृति ही सभ्यता** की संरक्षिका है, **धर्म्म ही नीति** की आधारभूमि है। **सर्वात्मना संस्कृति ही आश्रय है, एवं सभ्यता ही 'आश्रित' है।** ऐसे भी अवसर आए हैं इस भारतराष्ट्र में, जब कि, सत्तातन्त्रों की अनीति से सभ्यताओंनें संस्कृति का, धर्म्म का आश्रय छोड़ दिया है। और परिणाम–स्वरूप तात्कालिकरूपेण दोनों में संघर्ष होपड़ा है। उन सभी अवसरों पर भारतराष्ट्र की सांस्कृति-कप्रज्ञाने दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी सभ्यताओं की उपेक्षा कर सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अपनी संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण कर ही लिया है।

६९–'पर' सभ्यता के वारुणपाश में आबद्ध वर्त्तमान भारतराष्ट्र की 'पर'-तन्त्रा-सक्तिमूला काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

और यदि हम भ्रान्ति में नहीं हैं, तो वर्त्तमानकाल भारतराष्ट्र के लिए तथाविध **'संघर्षकाल'** ही प्रमाणित होरहा है। प्रतीच्य–सभ्यताने भारतीय-सांस्कृतिक–सभ्यता को उस सीमा पर्य्यन्त आज सर्वात्मना अभिभूत ही कर लिया है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर परसभ्यता में हीं स्वसभ्यता की भ्रान्ति हो जाया करती है। अवश्य ही नाममात्र के लिए आज भारतराष्ट्र **'भारत'** अभिधा से समन्वित है। किन्तु सभ्यता-परिचायक **वेश,-भूषा, भाषा, आहार-विहार-शिक्षा-दीक्षा,** आदि आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में आज यह स्वसंस्कृतिमूलक स्व–सभ्यता-तन्त्र से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख बनता हुआ, परसभ्यतात्मक–**'पर' तन्त्रों** को ही

आराध्य मानता हुआ अपनी 'स्व'-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' का सर्वात्मना उपहास ही करता जारहा है। ऐसा क्यों ?, एकमात्र उत्तर 'दिग्देशकाल का व्यामोहन'।

७०–'समय' शब्द--व्यामोहनानुगत--'वर्त्तमान' की भ्रान्ति, भूत-भविष्यत् की उपेक्षा, एवं वर्त्तमानकालात्मक पशुजगत् से तत्समतुलन—

हमारे राष्ट्रीय नेता '**समय**' शब्द का उद्घोष करते हुए आज भूत, और **भविष्यत्** की तो आत्यन्तिक रूपेण उपेक्षा करते जा रहे हैं, एवं कल्पित-'**यथार्थवाद**' की घोषणा के माध्यम से '**वर्त्तमान**' को ही आराध्य मान-रहे हैं। अवश्य ही वर्त्तमान आराध्य है। किन्तु भूत-भविष्यत् को प्रतिष्ठा बना कर ही यह 'वर्त्तमान' मानव के अभ्युदय का जनक प्रमाणित होसकता है। **तत्त्वदृष्टया 'विशुद्ध-वर्त्तमान' तो पशुजगत् का ही आराध्य माना गया है शास्त्रों में**। भूत-भविष्यत्-से वञ्चित, अतएव '**पशुकाल**' से समतुलित इस वर्त्तमान के तात्कालिक-प्रत्यक्षात्मक, अतएव भावुकतापूर्ण दिग्देशकाल–व्यामोहनने हीं तो निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से राष्ट्रप्रज्ञाओं को सांस्कृतिक–निष्ठा से पराङ्मुख प्रमाणित किया है।

७१–भारतराष्ट्र की त्रिसहस्रवार्षिकी पतनपरम्परा, एवं तन्निरोधोपायान्वेषण—

'राजा कालस्य **कारणम्**' मूलक इसी दिग्देशकालानुबन्धने विद्वद्वर्ग को '**राजन्य**' बनाया है। इसी '**राजन्यता**' (**सत्तासापेक्षता**) ने इस वर्ग को लक्ष्यच्युत किया है। इसी **सत्ताश्रयव्यामोहनने** इसे आचारनिष्ठा से पराःपरावत किया है। और सर्वात्मना इसी एकमात्र प्रमुख दोष से भारतराष्ट्र की **संस्कृति**, **साहित्य**, एवं **धर्म्म**, नामक तीनों हीं तन्त्र अपने मौलिक ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूपों से अन्तर्मुख बन मतवादात्मक वैसे सम्प्रदायवादों के रूप में हीं परिणत होगए हैं, जिन के अनुगमन से ही भारतराष्ट्र उत्तरोत्तर अवनति-गर्त्तपरम्परा का ही सम्मानित अतिथि बनता आ रहा है तीन सहस्र वर्षों से। **तन्माभूत्, तस्मादेव**—

'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'

७२–संस्कृति-संरक्षणानुबन्ध से भारतीय विद्वानों का प्रश्न, तत्प्रति प्रतिप्रश्नोत्थान, एवं सत्तासापेक्षतानुगता भ्रान्ति--परम्पराओं से ही सांस्कृतिक-स्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव—

विद्वद्वर्ग के सत्तानिरपेक्ष बन जाने से क्या भारतीय **संस्कृति**, **साहित्य**, **धर्म्म**, नामक सांस्कृतिक तन्त्र केवल विद्वद्वर्ग के द्वारा ही सुसमृद्ध बन जायँगे ?, **दिग्देशकालानुबन्धी 'राजा कालस्य कारणम्'** मूलक तात्कालिक वर्त्तमान–सत्तातन्त्रों की दृष्टि से इस अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। तत्सम्बन्ध में तो यही '**प्रतिप्रश्न**' पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, विगत त्रिसहस्रवर्षावधि में तत्तत्-सत्तातन्त्रों के प्रति प्रणतभाव से आत्मसमर्पण करते रहने वाले एतद्राष्ट्रीय विद्वानोंने तत्तत्तन्त्रों के द्वारा क्या सांस्कृतिक–तन्त्रत्रयी की समृद्धि कर ली ?। समृद्धि की कौन कहे, तथाकथिता आत्मसमर्पणमूला प्रज्ञादासताने हीं तो इस तन्त्रत्रयी को आज उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया है कि, आज तो नाच-गान-ढोलक-झाँझ–मँजीरा–घुँघुरु–आदि आदि अलङ्करणों से समलङ्कृत, चान्द्रभावानुगत–गन्धर्वाप्सराप्राण–निबन्धन–मनःशरी–

रानुबन्धी–कामार्थभावोत्तेजक–मानसिक–तात्कालिक आयोजनों का भी **'सांस्कृतिक–आयोजन'** जैसी पावन अभिधा से इन्हीं विद्वानों के द्वारा सर्वात्मना यशोगान किया जारहा है । अतएव सुनश्चित है कि, सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण से कदापि तत्-तन्त्रत्रयी की समृद्धि तो क्या, स्वरूपसत्ता भी सम्भव नहीं है, जिस इस व्यामोहनने हीं भारतीय विद्वानों को तथोक्त अवधि से सत्तासापेक्ष बना रक्खा है । अतएव पुनः पुनः हमें यही निवेदन कर देना है इन राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रज्ञाओं से कि—

"ब्राह्मणोऽराजन्य एव स्यात्"

७३–सत्ताश्रयता, तथा शिष्यपरम्पराभिवृद्धि के लिए समातुर मतवादों की सत्तासापेक्षता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इदमत्र नितान्तमवधेयम् । जहाँतक मतवादात्मक सम्प्रदायवादों का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही सत्तासापेक्षता अपेक्षित है । क्योंकि मतवादों की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण दिग्देशकालधर्म्माक्रान्त मानवीय मन की तात्कालिकी **'मान्यता'** ही बना करती है । अपनी इस **'मान्यता'** से समुद्भूत मतवादों के प्रचार–संवर्द्धन–परिपोषण के लिए तो प्रत्येक दशा में मान्यताओं के पोषक कालिक सत्तातन्त्रों का आश्रय-ग्रहण ही अनिवार्य्य बना रहता है । सत्ताश्रयता से ही मतवाद स्वस्वरूप से सुरक्षित रहते हैं, एवं तदाश्रय से ही इनकी **समृद्धि (प्रचार)** होपाती है । यही कारण है कि, मतवादाभिनिविष्ट साम्प्रदायिक वर्ग ही **सत्ताश्रय के लिए**, एवं **शिष्यपरम्पराभिवृद्धि** के लिए प्रतिक्षण समुत्सुक बने रहते हैं ।

७४–सांस्कृतिक नित्यधर्म्म की सहज सत्तानिरपेक्षता, एवं चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरणमूलक सर्वनिरपेक्ष सांस्कृतिक-क्षेत्र—

किन्तु **सांस्कृतिक धर्म्म** कदापि सत्ताश्रय की कोई अपेक्षा नहीं रखता । अपितु यह तो विद्वत्प्रज्ञाओं की ऐकान्तिकी **चिन्तन–स्वाध्याय**, तथा **आचरण–निष्ठात्रयी** से ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होता है । हाँ, यदि सत्तातन्त्र प्रणतभाव से इस तन्त्रत्रयी के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, तो अवश्यमेव सुविधा–पूर्वक इस की **'समृद्धि'** होजाती है । किन्तु सत्ता के आत्मसमर्पण के अभाव में मतवादों की भाँति कदापि इस त्रयी की कोई स्वरूपहानि नहीं है । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य का–**'ततः शशाकैत्र–ब्रह्ममित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्-स्थातुम्** । **यद्यु राजानं लभेत, समृद्धं तत्'** इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है ।

७५–सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रति सत्तातन्त्रों का प्रणतभाव से आत्मार्पण, तत्प्रति संस्कृति-निष्ठ का 'उपांशु' अनुमोदन, एवं उपांशु भावनिबन्धना-'तथेति' मूला निरपेक्षता का समन्वय—

ध्यान रहे, संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण कदापि स्वकामना से सत्ता के प्रति अनुगत नहीं होता । (१) । अपितु स्वयं सत्तातन्त्र ही **राष्ट्ररक्षा**, तथा **राष्ट्रसमृद्धि** के लिए संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् का परामर्शानुग्रह प्राप्त करता है । दूसरे शब्दों में-स्वयं हीं श्रद्धा-आस्था-पूर्वक सांस्कृतिक-शिक्षण प्राप्त करता है, जैसाकि उसी 'मैत्रावरुणश्रुति' के–

१–नापृष्टः कस्य चिद्ब्रूयात्, न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥

'स क्षत्रं वरुणः ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे, उप मावर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै' इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है। क्या इस सत्ता-आमन्त्रण से संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् उसी प्रकार वर्त्तमानयुग की भाँति कृतज्ञता के रूप में अवनतशिरस्क बन कर 'अभिनन्दनग्रन्थ' समर्पित करना अपना सांस्कृतिक कर्त्तव्य मान लेता है, जैसाकि, निर्व्याजात्मक सहयोग के बिना भी आज इस वर्ग को निरन्तर यशोगान करते रहना पड़ता है ?, इस प्रश्न के प्रति उद्बोधन प्रदान करने के लिए ही श्रुति ने-'तथेति' जैसे प्रदर्शनशून्य-सामान्यभाव का ही दिग्दर्शन कराया है। सत्तातन्त्र जहाँ-"प्रणतभाव से उस क्षत्रवरुणने आमन्त्रण किया ब्रह्ममित्र का कि-आप मेरी ओर अनुगत होजाइए ! आपके साथ मैं समन्वित होजाऊँ। इस समन्वय में मैं आप ही को अग्रणी-पुरोधा-अभिगन्ता मानता रहूँगा। आप जैसी, जो आज्ञा प्रदान करेंगे, मैं (सत्तातन्त्र) वैसे ही, वही कर्म्म करूँगा" इत्यादि महारम्भपूर्वक संस्कृतिनिष्ठ की अभ्यर्थना ही करता हुआ तदनुगत बन रहा है, वहाँ संस्कृतिनिष्ठ बिना किसी प्रदर्शन के-'तथेति', ठीक है, ऐसा ही हो' इस उपांशुवागुच्चारणमात्र के माध्यम से अनुगत होता हुआ अपने आपको 'सत्तानिरपेक्ष' ही प्रमाणित कर रहा है।

७६-सत्तानिरपेक्षतामूलक 'अराजन्य' शब्द का तत्त्वार्थ समन्वय, एवं-'सर्वान् परित्यजे-दर्थान्' इत्यादि मानवीय-वचन का स्वरूप-दिगदर्शन—

युक्तं चैतत्। यदि यह भी सत्तातन्त्रवत् सत्तासापेक्ष बन जायगा, तो निश्चयेन इसकी संस्कृतिनिष्ठा सापेक्षतामूला आश्रयता से उसी प्रकार अभिभूत होजायगी, जैसे कि दिग्देशकालव्यामुग्ध इस अल्पमति ब्राह्मण की प्रज्ञा आज सांस्कृतिक-स्वाध्याय मे सर्वथा ही शिथिला प्रमाणित होचुकी है। अतएव सत्तानुगत बनते हुए भी इस संस्कृतिनिष्ठ को सर्वात्मना 'अराजन्य' ही बना रहना चाहिए, जिसका सीधा सा तात्पर्य्य यही है कि, सत्ता के द्वारा उपलब्ध लोकैषणात्मक (उपाश्लिलक्षण-नामख्यातिरूप), तथा वित्तैषणात्मक (आर्थिक) वैसे व्यासङ्गों से जागरूकता-पूर्वक सदा ही इसे अपना आत्मपरित्राण करते रहना चाहिए, जो कि लोक-वित्त-व्यामोहन निश्चयेन ब्राह्मण को सांस्कृतिक चिन्तन-स्वाध्याय, तथा धर्म्माचरण से परा:परावत (अत्यन्त विदूर) ही बना दिया करता है। 'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः' इस माङ्गलिकसूत्र का यही निष्कर्षार्थ है, जिस इस श्रुतिसिद्ध उद्बोधन का ही श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृतिने इन विस्पष्ट अक्षरों में उद्घोष किया है कि,—'स्वाध्यायनिष्ठ द्विजातिवर्ग को चाहिए कि, वह उन यच्चयावत् आर्थिक सुख-सुविधाओं का सर्वथा परित्याग ही करता रहे, जो सुख-सुविधाएँ इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में अवरोधिका बन जाया करतीं हैं (१)।

(१)--सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥
—मनुः ४।१७।

७७–युगधर्म्मानुगता भावुकतान्विता 'असहयोग' भावना के प्रति सांस्कृतिक–प्रज्ञा का उद्‌बोधन, एवं वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति राष्ट्रप्रजा का निष्ठार्पण—

पूर्व निवेदनानुसार वर्त्तमानयुग (सत्तानुबन्धी युग) भारतीय **'संस्कृति'**, एवं तन्मूला भारतीय **'सभ्यता'** के लिए इसलिए संघर्षात्मक संकटकाल ही माना जायगा कि, जो एतद्देशीया संस्कृति, और सभ्यता ब्रिटिशयुग-पर्य्यन्त दिग्देशकालात्मिका भूतसभ्यता से अन्य जाति (प्रतीच्यजाति) के द्वारा आक्रान्त थी, वही आज 'स्वजाति' से ही उसी प्रतीच्यसभ्यता से समाक्रान्ता है। ब्रिटिशयुग में जिस प्रतीच्य-सभ्यता को, उसके विधि-विधानों को हम इस भारतराष्ट्र के लिए परतन्त्रता का अन्यतम कारण मान रहे थे, आज स्वयं हमारे ही शासनयुग में वही सभ्यता, वे ही विधि–विधान भारतराष्ट्र के सर्वस्व बनते जारहे हैं, किंवा बना दिए गए हैं। अतएव इस वर्त्तमानयुग को तो हम पूर्वयुगों की अपेक्षा भी कहीं अधिक भयावह ही कहेंगे। इस घोरघोरतम संकट से परित्राण प्राप्त करने के लिए क्या हम भी भावुकतापूर्णा-असहयोगनीति का अनुगमन आरम्भ करदें वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति उसीप्रकार, जैसेकि मतवादाभिनिविष्ट एतद्देशीय विभिन्न वर्गोंने **'धर्म्म'** के नाम-च्छलमात्र से आज सत्तातन्त्र के प्रति असहयोग–भावना का ही अनुसरण कर रक्खा है ?। नहीं, कदापि नहीं। अपितु हमें तो सर्वतोभावेन तत्प्रति निष्ठार्पण ही कर देना चाहिए।

७८–सांस्कृतिक–निरपेक्षता-मूला–'धर्म्मनिरपेक्षता' के मूलकारण का अन्वेषण–प्रयास, एवं तदनुगता वर्त्तमाना धर्म्मनिरपेक्षता की दोष–असंस्पृष्टता—

क्योंकि वर्त्तमान सत्तातन्त्र हम से पृथक् नहीं है। जनतन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र से संघर्ष, किंवा असह-योग करना तो एकप्रकार का आत्मघात ही होगा। एतदतिरिक्त, ऐसी भी आस्था है हमारे अपने ही अङ्गभूत इस भारतीय सत्तातन्त्र के प्रति कि, इसके सामान्य, और विशिष्ट, सभी श्रेणि के सञ्चालक अधिकांश में भारत-राष्ट्र के प्रति सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही जागरूक हैं। एवं राष्ट्रहित के लिए ही उनके सम्पूर्ण आयोजन प्रक्रान्त भी हैं। तदपि एकमात्र भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति, मौलिक साहित्य, तथा तदनुप्राणित शाश्वतधर्म्म (मतवाद नहीं), इन मौलिक विभूतियों के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूपबोध से अपने आपको पृथक् रख लेने के कारण हीं इस दिशा में सत्तातन्त्र की उपेक्षामूला निरपेक्षता होपड़ी है, जिसके लिए भी सत्तातन्त्र को ही हम सर्वात्मना दोषभाक् इसलिए नहीं मान सकते कि, विगत तीन सहस्र–वर्षों से प्रक्रान्ता भावुकता से सम्बन्ध रखने वालीं मतवादपरम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति–धर्म्मादि का मौलिक स्वरूप सर्वथा ही पराङ्मुख होता चला आरहा है। **संस्कृति, साहित्य,** एवं **धर्म्म** के नाम से जो कुछ उप-लब्ध हुआ सत्तातन्त्र को, वह मतवादात्मक अभिनिवेशमात्र ही था। अतएव इसे तत्प्रति निरपेक्ष ही बन जाना पड़ा, जिस के लिए सत्तातन्त्र को दोषासंस्पृष्ट ही माना जाना चाहिए।

७९–धर्म्मनिरपेक्ष भी वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा मतवादों के प्रति प्रक्रान्ता 'सापेक्षता' का दुःखपूर्ण आपातरमणीय इतिवृत्त—

ओमित्येतत्। तदपि सत्तातन्त्र को तथाभूता निरपेक्षता के लिए सर्वात्मना दुग्धधौत तो इसलिए नहीं हीं माना जा सकता कि, उसे दोषदृष्टि से ही सही, एकबार अपनी इन मूलनिधियों के स्वरूपान्वेषण के लिए

तो प्रवृत्त हो ही जाना था । दुःख है कि, ज्ञात–अज्ञात कारणपरम्पराओं के निग्रह से हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र विगत–भुक्त सुदीर्घ दशवर्षात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र युग में भी भारतराष्ट्र की मूलनिधि संस्कृति, तदनुप्राणित साहित्य, तथा तदाचरणात्मक धर्म्म, के मौलिक स्वरूपान्वेषण के सम्बन्ध में न केवल अपने आपको तटस्थ, किंवा निरपेक्ष ही प्रमाणित करता आरहा है, अपितु मतवादात्मिका इतर सम्प्रदाएँ धर्म्मनिरपेक्ष भी हमारे इसी सत्तातन्त्र से जहाँ सर्वात्मना पुष्पित–पुल्लवित होतीं जारही हैं, वहाँ इसी धर्म्मनिरपेक्ष ? सत्तातन्त्र के द्वारा भारतीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म की वैसी वैसी आपातरमणीया आलोचनाएँ हीं प्रक्रान्त हैं, जिन्हें सुन कर प्रत्येक 'भारतीय' को तो लज्जा से अवनत–शिरस्क ही बन जाना पड़ता है ।

८०–सांस्कृतिक-संकटकालीना वर्त्तमानावस्था, तत्परित्राणोपाय, एवं सत्तानिरपेक्षता-मूलक चिन्तन-स्वाध्याय--आचरण--से ही सम्भाविता राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-निधि की स्वरूपाभिव्यक्ति—

इत्थंभूता सांस्कृतिक-संकटकालीना अवस्था में राष्ट्र के प्रज्ञावर्ग का क्या कर्त्तव्य शेष रह जाता है ?, यही वह सर्वप्रधाना समस्या है, जिस के समन्वय–समाधानान्वेषण के लिए ही हमें–**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः'** मूलक मैत्रावरुण–श्रौतसन्दर्भ का प्रस्तुत प्रास्तविक में संस्मरण करना पड़ा है । प्राज्ञ विद्वानोंनें जब जब भी सत्ता-तन्त्रों के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, तब तब ही भारतराष्ट्र की संस्कृति अन्तर्म्मुख होगई है । अतएव यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक है कि, राष्ट्रहितचिन्तक विद्वान् मतवादपरम्पराओं से अपने आपको असंस्पृष्ट रखते हुए, मतवादसमर्थिका शास्त्रव्याख्याओं को दूरतः ही प्रणम्य मानते हुए स्वयं मूलशास्त्र की मौलिक ज्ञानवि-नात्मिका परिभाषाओं के माध्यम से ही **संस्कृति के चिन्तन में, साहित्य के स्वाध्याय में, एवं धर्म्म के आचरण में प्रवृत्त होजाँय ।** इनकी इसी तपोनिष्ठा से जब भी इन विमल-विभूतियों के तात्त्विक, मङ्गलमय स्वरूप से राष्ट्रीय जनतन्त्र, तथा तत्सञ्चालक सत्तातन्त्र अंशतः भी परिचित होजायगा, अवश्य ही उसी क्षण भारतराष्ट्र अपना विस्मृत सांस्कृतिक गौरव प्राप्त कर लेगा ।

८१–दिग्देशकाल-व्यामोहनासंस्पृष्टा, गुहानिहितवृत्त्युनुगता निरपेक्षता, तन्मूला सांस्कृतिक-निष्ठा, एवं तत्स्वरूपोपबृंहिका 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'—

तथाविधा चिन्तन-स्वाध्याय-धर्म्माचरण-निष्ठात्रयी में विद्वद्वर्ग को तभी सफलता उपलब्ध होसकेगी, जबकि वह दिग्देशकालानुबन्धी, अतएव सर्वथा तात्कालिक, अतएवच सत्तातन्त्रानुगत लौकैषणात्मक वित्तैषणादि व्यामोहनों से अपने आपको सर्वथैव पराःपरावत, आत्यन्तिकरूपेण निरपेक्ष बनाता हुआ गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्या-यनिष्ठा में हीं तल्लीन होजायगा । इसी तथ्य का, इसी महान् उद्बोधन का-**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः'** से स्प-ष्टीकरण हुआ है । एवं दिग्देशकालानुबन्धिनी सत्तासापेक्षता के महान् अम्ब, महान् यक्ष–रूप इसी स्वरूप–विमोहन से हमने स्वयं हीं अपना आत्मपरित्राण करने के लिए, दूसरे शब्दों में स्वान्तःसुखायैव प्रस्तुत–**'दिग्-देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक निबन्ध उपनिबद्ध करने की महती धृष्टता की है, जिसकी खण्डानुगता-मर्य्यादा के स्वरूपेतिवृत्त का दिग्दर्शन कराते हुए ही प्रास्तविक उपरत होरहा है ।

८२–'भारतीय मानव', किंवा 'विश्वमानव' के पारम्परिक उत्पीड़न का अन्यतम कारण दिग्देशकालनिबन्धना भावुकता—

"सर्वसाधन–परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वमानव, विशेषतः भारतीय मानव, तत्रापि सर्वविशेषतः 'भारतीय-हिन्दू मानव' विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर निरन्तर क्यों त्रस्त-संत्रस्त-क्षुब्ध–विक्षुब्ध, अशान्त--असमृद्ध बनता चला आरहा है ?" जिस इस महत्त्वपूर्ण, दुरधिगम्य अनति-प्रश्नात्मक प्रश्न की हमने प्रस्तावना के उपक्रम में हीं उत्थानिका की थी, तत्प्रश्न के समाधानाभासों से (कल्पित उत्तरों से) अनुप्राणित ईश्वरीय–कोप, भाग्यदोष (जन्मान्तरीय दोष), कलियुगप्रभाव, सत्तातन्त्रों का शैथिल्य, आदि तथ्यों ! की ही अबतक स्वरूपमीमांसा हुई, जिनका पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा सर्व-नाशकारिणी उस 'भावुकता' पर ही हुआ, जोकि तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मानव को उत्पीड़ित किए हुए है।

८३–सर्वसाधन--परिग्रह--सम्पन्न, संस्कृति--साहित्यधर्म्मादि निष्ठ भी भारतीय मानव के पारम्परिक पतन का मूलकारण, एवं तत्परित्राणोपाय--दिग्दर्शन—

निःसन्देह इत्थंभूता एकमात्र भावुकता ही श्रुति–स्मृति–पुराण जैसी नैष्ठिकी शास्त्रत्रयी के विद्यमान रहते हुए भी भारतीय–हिन्दू–मानव के पारम्परिक अभिभव का प्रधान निमित्त बनती आरही है, जिस इस महान्, प्रथम, तथा प्रमुख कारण के समतुलन में ईश्वरीयकोप, भाग्यदोषादि, नितान्त भावुकता-पूर्ण, अतएव काल्पनिक कारणाभासों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। भावुकता से ही मानव स्वसंस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख होजाया करता है। और इस भावुकता की जननी आरम्भ में बनी है--संस्कृति–साहित्य–धर्म्म, नामक निष्ठास्तम्भों से सम्बन्ध रखने वाले चिन्तन–स्वाध्याय–आचरण–भावों की उपेक्षा, तत्स्थाने च तत्प्रचार–व्यामोहन, तत्सफलता के लिए सत्तातन्त्र की सापेक्षता, जिसे–संस्कृति–स्वरूपचिन्तक,–शास्त्र–(साहित्य)–स्वाध्यायनिष्ठ, तथा धर्म्माचारपरायण मानव के लिए–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' रूपेण स्वयं मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) ने हीं प्रधान कारण माना है।

८४-स्वस्वरूपेण सुरक्षिता संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की सत्तासापेक्षता--मूला महती भ्रान्ति, तदनुप्राणिता स्खलनपरम्पराएँ, तत्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय--संघठनोच्छेद, और आततायीवर्ग के द्वारा राष्ट्र का अभिभव—

स्वस्वरूपेण सुरक्षित भी संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–तन्त्रों का भावुकतावश ही दिग्देशकाल–व्यवस्थापक मात्र, भूतसभ्यतामात्रानुगामी सत्तातन्त्रों को जिस दिन से भारतीय सांस्कृतिक–प्रज्ञाओंनें (ब्राह्मणोंनें) संरक्षक मान लिया, उसी दिन से भावुकतामूला परावलम्बनता के माध्यम से इस वर्गविशेष के चिन्तन–स्वाध्याय--धर्म्माचरण से सम्बन्ध रखने वाली स्वनिष्ठा तो तो होगई अभिभूत, एवं तत्क्षण से ही सत्तानुबन्धिनी दैशिक-कालिक–मान्यताएँ हीं बन गई इसके लिए संस्कृति, साहित्य, और धर्म्म। यों भावुकतापूर्णा सत्तासापेक्षता से ही कालान्तर में संस्कृति बन गई असंस्कृति, साहित्य (शास्त्र) का स्थान ग्रहण कर लिए सत्ताप्ररोचनात्मिका कल्पित व्याख्याओंनें, एवं धर्म्म को अभिभूत कर लिया लोकैषणानुगता–वित्तैषणा से समन्वित मतवादों, सम्प्रदायवादोंनें। फलतः राष्ट्रीय संघठन कालान्तर में उच्छिन्न ही तो होगया। क्योंकि सांस्कृतिक–निष्ठापूर्ण-

ऐक्य ही राष्ट्रसंघठन की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–मूलक संघठन के शिथिल होते ही राष्ट्र में वैसे महतोमहीयान् छिद्र होगए, जिनमें सुगमता से आततायी–वर्गों को प्रविष्ट होने का सुअवसर मिलता गया, और, अलमतिपल्लवितेन पापकथाप्रसङ्गेन। भावुकतामूला सत्तासापेक्षता के अनुबन्ध से ही हमें यहाँ तत्सम्बन्धी, तत्स्वरूपविश्लेषिका मैत्रावरुण–ग्रह–श्रुति का आश्रय लेना पड़ा, जिसके अक्षरार्थ--समन्वय के बिना 'भावुकता' का इतिहास अपूर्ण ही बना रह जाता है।

८५–लोकानुबन्धी 'व्यामुग्धसूत्र' से हमारा आत्मविमोहन—

आज से अनुमानतः १२–वर्ष पूर्व, जबकि एक **'सांस्कृतिक-संस्थान'** की कल्पना **'मानवाश्रम'** के रूप से पक्रान्त थी, उसके प्रति जनतन्त्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही **'मानवाश्रम-पाक्षिक'** नामक 'पाक्षिक-पत्र' की अभिव्यक्ति हुई। किसी अज्ञातनामा श्रद्धालु के तत्कालीन आक्रोशपूर्ण इस 'व्यामुग्धसूत्र' से हम सहसा उद्विग्न ही हो पड़े कि-**'तुम आज जिस श्रुति-स्मृति-पुराण-संस्कृति-धर्म्म-आदर्श-आदि से सम्बन्ध रखने वाले जिस मानवाश्रम की कल्पना में विभोर बने हुए हो, बीसवींसदी जैसे वर्त्तमान युग में तुम्हारा यह प्रयास कदापि सफल नहीं होसकता। क्योंकि वर्त्तमान ब्रिटिशसत्तातन्त्र के अनुग्रह? से हमारा सभी कुछ उस सीमापर्य्यन्त बदल गया है कि, अब इस विज्ञानप्रधान ? परिवर्त्तित युग में केवल श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाली धर्म्मादि की चर्चा का कोई भी महत्त्व नहीं रहा'** इत्यादि इत्यादि।

८६–आचार्य्यचरणानुग्रह से व्यामोहन से आत्मपरित्राण, एवं उपास्य 'शतपथ' के द्वारा महती समस्या का निराकरण—

उक्त आक्रोशपूर्ण उद्बोधन से हम सहसा उन्निद्र ही हो पड़े। और एकबार तो इस युगधर्म्म के प्रभाव ने हमें भी सहसा अभिभूत ही कर लिया। किन्तु आचार्य्यचरणानुग्रह से शास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक दृष्टिकोण हमारे सम्मुख था। अतएव वह अभिभूति अधिक समय पर्य्यन्त स्थिर न रह सकी। तदपि प्रश्न अवश्य एक महती समस्या बन कर अन्तराल को उद्विग्न करता रहा। उसी युग में **शतपथभाष्य** प्रक्रान्त था। उसी 'शतपथ' के दो स्थलोंनें सहसा हमारा ध्यान उस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित कर ही तो लिया, जिसने सभी समस्याओं का एकान्ततः उन्मूलन कर दिया। उन दोनों तथ्यों में से शतपथ के ही चतुर्थकाण्डीय-**'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण'** से अनुप्राणित **'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** इस एक उद्बोधक तथ्य का तो पूर्व में विस्तार से यशोगान किया ही जाचुका है। अब दिग्देशकालप्रेमी (इतिहासप्रेमी) पाठकों के अनुरञ्जन के लिए दूसरे तथ्य का भी दो शब्दों में अत्र दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

८७–चतुर्विधा 'मणिजा' जाति, एवं देवयुगीय भौमत्रैलोक्य का स्वरूप-संस्मरण—

विज्ञाननिष्ठ **साध्य**, पौरुषनिठ **महाराजिक**, व्यवसायनिष्ठ **आभास्वर**, तथा प्रवर्ग्यनिष्ठ **तुषित**, नामों से प्रसिद्ध चतुर्विध **'मणिजा'** मानवों के विज्ञानप्रधान **साध्ययुग** से उत्तरभावी वेदयुगात्मक **'देवयुग'** में साध्यों के भूतविज्ञान से प्रभावित भारतीय मानवोंनें एकबार सहसा अपने यज्ञादि आचारधर्म्मों का परित्याग कर दिया। उस देवयुग में इसी भूतल पर त्रैलोक्य-व्यवस्या व्यवस्थित थी भौमब्रह्मा के द्वारा (१)। निरक्ष (लङ्का)

---

(१)–इस व्यवस्था का **शतपथभाष्य-प्रथमकाण्ड** में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के द्वारा आजकल इसी का प्रकाशन प्रक्रान्त है।

से शर्य्यणावतपर्वत (सुप्रसिद्धा–'रावी' नदी के विनिर्गमन स्थानरूप शिवालक) पर्य्यन्त पृथ्वीलोकात्मक भारतवर्ष था, यहाँ से हिमालय की द्रोणियों पर्य्यन्त प्रदेश अन्तरिक्ष था, एवं यहाँ से प्राचीसरस्वती (उत्तरकुरुप्रदेशान्तर्गता) पर्य्यन्त द्युलोक था। तीनों के शवसोनपात्--अतिष्ठावा–देवता क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र थे, भारतीस सम्राट् मनु थे। इनके द्वारा ही देवधर्म्मात्मक मानवधर्म्म सुव्यवस्थित बना हुआ था। तद्युग में देवगुरु बृहस्पति ही धर्म्म के ज्ञानविज्ञानस्वरूप के निर्द्देशक थे। इसी ऐतिहासिक-भौगोलिक-क्षेत्रव्यवस्था के आधार पर अब हम उस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिसका वर्त्तमान-युग के तथाविध ही आक्रोश के साथ सर्वात्मना समतुलन होरहा है।

८८--देवयुगीय भारतीय-मानव के संस्कृति के प्रति भावुकतापूर्ण उद्गार—

जैसाकि, निवेदन किया गया है, साध्यजाति के भूतविज्ञानात्मक क्षणिक-विज्ञानों से सहसा आकर्षित हो-पड़ने वाले भारतीय धार्म्मिक मानवोंनें उसी देवयुग में ये उद्गार अभिव्यक्त करते हुए यज्ञ–यागादि शास्त्र-सिद्ध कर्त्तव्य–कर्म्मों का परित्याग कर ही तो दिया कि—

"हम क्यों, और किस लिए इन धार्म्मिक कर्म्मों का अनुगमन करें ?, जब कि हम प्रत्यक्ष में यह देख रहे हैं, सुन रहे हैं, और अनुभव कर रहे हैं कि, जो यजनादि कर्म्म नहीं करते, वे तो सुखी-समृद्ध बने हुए हैं, और जो (अस्मदादि) इन शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का अनुगमन कर रहे हैं, वे आद्यन्त के दुःखी ही बनते जारहे हैं। इस प्रत्यक्षस्थिति को देखते हुए कौन प्रज्ञाशील इन शास्त्रीय कर्म्मों के प्रति श्रद्धा रक्खेगा ? (१)।

८९–देवयुगीया स्थिति से समतुलित वर्त्तमान भारतीय–मानव के अश्रद्धापूर्ण उद्गार—

इसप्रकार जिस हेतुवाद को अग्रणी बना कर वर्त्तमान भारतीय मानव धर्म्माचरणों की आज उपेक्षा करते जारहे हैं, ठीक उसी कारण के आकर्षण से सहस्रों वर्षों-पूर्व देवयुग में भी मानवों में सत्कर्म्मों के प्रति सहसा अश्रद्धा ही अभिव्यक्त होपड़ी थी। आज भी तो—'**होम करते हाथ जलता है**'—"**जो धर्म्म करते हैं, वे दुःखी हैं, जो धर्म्म की उपेक्षा कर चुके हैं, वे सुखी, तथा समृद्ध बने हुए हैं**' इसप्रकार के हेत्वाभासों के आधार पर ही तो भारतीय प्रजा धर्म्मविमुख होती जारही है (२)।

---

(१)-ते हस्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयाँस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयाँस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–ये यजन्ते, पापीयांसस्ते भवन्ति, ये–उ–न–यजन्ते, श्रेयाँसस्ते भवन्ति।

—शतपथ १।२।५।२४।

२–वस्तुस्थिति वास्तव में यथार्थ है। तमोगुणबहुल पाञ्चभौतिक विश्व में–'बलं सत्याद्ोजीयः' इस श्रौत–सिद्धान्त के अनुसार सत्यात्मक देवभाग तो है अन्तर्म्मुख, एवं बलात्मक भूतभाग है अभिव्यक्त। धर्म्मसापेक्ष कर्म्मों का प्रधान सम्बन्ध जहाँ देवभाव से है, वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष, किंवा धर्म्मविरुद्ध कर्म्मों का सम्बन्ध भूतभाव से है। अतएव अधर्म्मात्मक भूतप्रधान कर्म्म आरम्भ में तत्काल ही फलप्रद बन जाते हैं।

९०--देवप्रेरणया भौमस्वर्ग से देवगुरु बृहस्पति का भारत आगमन, एवं यज्ञरहस्य-स्वरूप-विश्लेषण के द्वारा भारतीय मानवों की अश्रद्धा का निराकरण—

देवयुगीय-भारतीय-मानवों के तथाविध अश्रद्धात्मक इतिवृत्त-श्रवण से भौमस्वर्गाधिपति 'हरिवाहन' नामक देवेन्द्र चिन्तित हो पड़े। और इन्होंनें देवगुरु बृहस्पति को प्रेषित किया पृथिवीलोकात्मक भारतवर्ष में इस तथ्य के समाधान के लिए। देवगुरु बृहस्पति यहाँ आए, और प्रश्न किया मानवों से कि– 'आप लोगों ने यों सहसा यज्ञ–यागादि धार्म्मिक कर्म्मों के प्रति क्यों अश्रद्धा कर ली ?"। उत्तर मिला–"हम क्यों इन कर्म्मों का अनुगमन करें, जब कि न करने वाले हमारी अपेक्षा अधिक–सुखी–समृद्ध हैं" (१)।

सचमुच अधर्म्ममार्गारूढ मानव व्यक्त–भूत के सहज व्यक्त धर्म्म के कारण एकबार तो सहसा भूतसमृद्धि से ही समन्वित होजाता है। इसकी इस प्रारम्भ की भूत-लोक-समृद्धि से भावुक मानवों का प्रभावित होजाना भी स्वाभाविक है, एवं इसी प्रभावाकर्षण से प्रत्यक्षप्रभावाक्रान्त मानवों का धर्म्म के प्रति निरपेक्ष, किंवा विमुख बन जाना भी स्वाभाविक ही है।

अधर्म्मपथानुगामी दिग्देशकालभ्रान्त मानव की अधर्म्मप्रवृत्ति जहाँ इसे आरम्भ में भूतसमृद्धि से समन्वित कर देती है, वहाँ इस भूतसमृद्धि के बल पर यही आवेशाविष्ट मानव विविध प्रकार के लौकिक-समारोह, उत्सवादि का भी सफल उपभोक्ता बन जाता है। नृत्य–गान–वादन–भोजन–पर्य्यटन आदि भूतात्मक वे 'भद्र' भाव भूतसमृद्धि के बल पर इसके लिए सुलभ बन जाते हैं, जिनका धार्मिक पुरुष के लिए तो स्वाप्निक-संस्मरण भी शास्त्र के द्वारा निषिद्ध ही है-'तस्माद् ब्राह्मणः-संस्कृतिनिष्ठः-न नृत्येत, न गायेत' (श्रुतिः)। इसी भूतसमृद्धि का तत्समानधर्म्मा व्यक्तियों में वितरण करता हुआ यह भूतोपासक अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भी पराजित करता रहता है। और यों प्रत्यक्षमूला भूतदृष्टि से समृद्धि, समृद्धिभोग, प्रतिद्वन्द्वियों का पराजय, आदि आदि वे सभी लोकफल तथाविध धर्म्मनिरपेक्ष, किंवा धर्म्मद्वेषी को उपलब्ध हो ही जाते हैं। किन्तु अन्ततोगत्वा–'समूलस्तु विनश्यति' ही इसका उत्कृष्ट पुरस्कार निर्णीत होजाता है प्रकृति के द्वारा ही। इसी तथ्य का विस्पष्ट भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए राजर्षि ने कहा है कि—

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

—मनुः ४।१७५।

(१)–ते ह देवा ऊचुः-बृहस्पतिमाङ्गिरसं-अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्। 'तेभ्यो विधेहि यज्ञम्' इति। स हेत्य उवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः-कथा-(कथं) न यजध्वम्'? इति। तेहोचुः (मनुष्याः)–'किं काम्या यजेमहि। ये यजन्ते, पापीयाँसस्ते भवन्ति, य ऽ उ न यजन्ते, श्रेयाँसस्ते भवन्ति' इति।

—शतपथ १।२।५।२५।

बृहस्पति ने जिस तात्विक-समाधान से मानवों में इस आचारधर्म्म के प्रति पुनः श्रद्धा प्रतिष्ठित की, उस समाधान का अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वैज्ञानिक-सन्दर्भ से सम्बन्ध है, जिस का न्यत्र समावेश सम्भव नहीं है। उस समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, भारतीय आचारधर्म्म का मत-वादों की भाँति क्योंकि मानवीय-मानसिक कल्पनाओं से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव इन के आचरण में मानव के दिग्देशकालानुबन्धी काल्पनिक ऊहापोहों का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध है। यह आचा-धर्म्म तो प्रकृति के सनातन-ज्ञानविज्ञानात्मक-नित्य-नियमों के आधार पर ही व्यवस्थित है। यदि कोई सुधारवादी 'गायत्रीमन्त्र' के स्थान में गायत्रीमन्त्र के अक्षरार्थ (भाषार्थ) का ही जप करना आरम्भ कर देगा, तो वही मन्त्रार्थ इष्ट के स्थान में अनिष्ट का ही कारण बन जायगा। यही नहीं, अपितु स्वयं गायत्री-मन्त्र भी एक भी स्वर-वर्ण-अक्षर-के विपर्य्यासात्मक दोष से जपकर्त्ता का विध्वंस ही कर देगा (१)। अपने इसी काल्पनिक दोष से देवयुगीय मानवों के लिए अभ्युदयसंसाधक भी यज्ञकर्म्म प्रत्यवायात्मक अनिष्ट का ही कारण बन गया था। भूतदृष्ट्या यद्यपि घटना साधारण सी थी। किन्तु प्राणदृष्ट्या वही घटना यज्ञकर्त्ता के अनिष्ट का कारण बन गई थी। भावुकतावश इस स्व दोष से अपरिचित तत्कालीन मानव यज्ञात्मक धर्म्म को ही इस अनिष्ट का कारण मान बैठा था। भूमिनिखननानन्तर निर्म्मिता वेदि पर कुशास्तरण होता है। तत्पूर्व इस वेदि का स्पर्श कर लेने से हीं निखननप्रयुक्त हिंस्रक प्राण (उग्रप्राण) यज्ञकर्त्ता का अनिष्ट कर देता था। बृह-स्पति ने यही तथ्य मानवों के सम्मुख रक्खा, एवं इस वैज्ञानिक-स्वरूप-के माध्यम से ही उद्बोधन प्रदान किया (२)। बर्हि (कुश-डाभ) से वेदि का हिंस्रक प्राण क्योंकि उपशान्त हो जाता है, अतएव उस के बिछा देने के अनन्तर ही वेदि का स्पर्श करना चाहिए, यही उस उद्बोधन का वह निष्कर्ष है, जिस इस प्राणविज्ञान का समन्वय कदापि भूतविज्ञानवादी नहीं करसकता।

६१-मानसिक-कल्पनाओं से समन्विता व्याख्याओं से सांस्कृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी कर्त्तव्यकर्म्मात्मक धर्म्म की 'मतवादरूप' में परिणति, एवं धर्म्मव्याजात्मक आज के य 'यज्ञसमारोह'—

सचमुच हमने अपने ज्ञानविज्ञानसिद्ध आचारधर्म्मों को भी उसीप्रकार सामान्य-लौकिक-कर्म्म ही मान लिया है, जिनका कि इष्टानिष्ट विशेषरूपेण प्रभावशाली नहीं हुआ करता। इसी भावुकतापूर्ण भौतिकी मान्यता से हमने विगत--अवधि से शास्त्रीय--आचारों को अपनी कल्पना से ही समन्वित कर लिया है। 'यज्ञ' जैसे

---

(१)—दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(२)—क्लृप्ता वेदिः। तेनावमर्शचारिष्ट-तस्मात् पापीयाँसोऽभूत। तेन-अनवशं यजध्वम्। तथा श्रेयाँसो भविष्यथ। आ कियत-इति (कबतक वेदि का स्पर्श न करें ?), आबर्हिषस्तरणात्-इति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यो हैवं-विद्वान्-अन-मर्शं यजते, श्रेयान् ह वै भवति।

—शतपथ १।२।५।२६।

प्राणसन्धानात्मक सुसूक्ष्म वैज्ञानिक कर्म्म को पश्चिम के--'हवाफिल्टर' के समतुलन में कीटाणुओं का विध्वंसक, एवं सुगन्धि-प्रवर्त्तक मानते हुए हमने यज्ञिय-पदार्थों में केसर-कर्पूर-चन्दनादि का यथेच्छ समावेश कर इस महत्त्वपूर्ण यज्ञकधर्म्म को आज क्रीड़ाकौतुक का ही साधन बना लिया है। एवमेव रहस्यपूर्णा, एकान्ते सम्पादन योग्या भी यह यज्ञिया आचारनिष्ठा श्रद्धालु सनातनधर्म्मियों के द्वारा भी आज 'विश्वशान्ति' के छलमात्र से प्रदर्शनपथों की ही अनुगामी बन गई है, इति नु अब्रह्मण्यमेव।

९२–सामयिक उद्बोधनानुबन्धी एक सामयिक 'लेख' का प्रकाशन, एवं तत्सम्बन्ध में प्रज्ञाबन्धुओं की बलवती प्रेरणा—

प्रकृत में उक्त सन्दर्भ से निवेदनीय यही है कि, मैत्रावरुणश्रुति, और पूर्वोक्ता अनवमर्शश्रुति, इन दोनों तथ्यों के माध्यम से ही हमें वह उद्बोधन प्राप्त हुआ, जिस के अनुग्रह से ही प्रत्यक्षप्रभावमूला परप्रत्यय-नेयात्मिका भावुकता के स्वरूप–दर्शन से हम समन्वित होसके। और तत्परिणाम–स्वरूप ही–'भारतीय हिन्दूमानव की भावुकता' नाम से एक संक्षिप्त लेख तथाकथिक 'मानवाश्रम–पाक्षिक' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ। तदाधार पर कितने एक प्रज्ञाबन्धुओं की बलवती प्रेरणा से स्वतन्त्ररूपेणापि उक्त संक्षिप्त लेख का प्रकाशन हुआ। किन्तु एतावता ही हमारा अन्तर्द्वन्द्व सर्वात्मना उपशान्त न होसका।

९३–प्रेरणाकर्षण से ही श्रुति-स्मृति-पुराण-सिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तथ्यों के आधार पर खण्डचतुष्टयात्मक स्वतन्त्र निबन्ध की स्वरूपनिष्पत्ति—

यद्यपि शतपथब्राह्मण, दशोपनिषत्, गीता, वेदान्तसूत्र, आदि आदि आप्तग्रन्थों के माध्यम से हमारा शास्त्रीय–ग्रन्थ–निर्म्माण–क्रम अनेक सहस्रपृष्ठों (अनुमानतः ८० सहस्र पृष्ठों) का अनुगामी बन चुका था। तथापि हम इस तत्त्वमीमांसात्मक सम्भार से स्वयं हीं इसलिए उत्पीड़ित ही बनते जारहे थे कि, आचार–निष्ठाशून्य वर्त्तमान भारत का क्या हित होगा इस पिष्टपेषण से ?। सचमुच जबतक यह अपनी किसी प्रच्छन्ना भ्रान्ति का सफल निदान नहीं कर लेता, एवं तद्द्वारा उसकी सफल चिकित्सा नहीं कर लेता, तबतक केवल तत्त्वविजृम्भणों से कदापि इस का आचारात्मक उद्बोद्धन सम्भव ही नहीं है। एवं बिना आचारनिष्ठा के तत्त्व–मूला निरी दार्शनिकता से कदापि इस का न तो अभ्युदय [ऐहलौकिक समृद्धि] ही सम्भव, एवं न पारलौकिक निःश्रेयस ही सम्भव। उसी भ्रान्ति के निराकरण के लिए श्रुति–स्मृति–पुराण-से अनुप्राणित, ज्ञानविज्ञाना–त्मक तत्त्वों के आधार पर ही एक स्वतन्त्र वैसा 'निबन्ध' उपनिबद्ध कर देने की कामना जागरूक होपड़ी, जिस के द्वारा भारतीय मानवों को, एवं तद्व्याज से प्रधानरूपेण स्वयं को ही आचारात्मक उद्बोधन प्राप्त होसके। दोष था मुख्यरूप से 'सत्तासापेक्षमूला भावुकता' ही। अतएव संकल्पानुसार उद्बोधनात्मक उस सामयिक निबन्ध का नामकरण हुआ-'भारतीय-हिन्दू मानव, और उस की भावुकता'।

९४–निबन्ध-अभिधा से अनुप्राणित-'हिन्दू' शब्द से आज के अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध, अतएव नितान्त भावुक भारतीय मानव का उत्तेजन, और उस की काल्पनिक-'विश्वमानवता'—

अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति-विमुग्ध वर्त्तमान मानवों की 'विश्वमानवता'-'विश्वबन्धुत्त्व' आदि आदि-लक्षणा भावुकतापूर्ण मान्यताओं की समतुलनदृष्टि से 'हिन्दूमानव' नाम अवश्य ही उत्तेजक प्रमाणित हो

रहा है। यही कारण है कि, तथाविधा भावुकता के व्यामोहनपाश से आपादमस्तक आबद्ध–सुबद्ध राष्ट्रीय नेताओं की भाँति वर्त्तमानकाल के संस्कृतिनिष्ठ ? भारतीय कतिपय विद्वान् भी अपने आपको 'हिन्दू' कहने में संकोचात्मिका लज्जा का ही अनुभव करते जारहे हैं। अपनी इसी स्वनिष्ठा की उपेक्षा से इस भारतीय 'हिन्दू-मानव' ने विगत भुक्त–प्रक्रान्त शताब्दियों में क्या क्या छोड़ दिया ?, इसी काल्पनिक व्यक्तित्व–विमोहन से आज भी यह क्या क्या छोड़ता, और विस्मृत करता जारहा है ?, इन सभी प्रश्नों का प्रस्तावना में तो दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। इस के इस काल्पनिक त्याग–तपस्या–बलिदानों के अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक मलीमस इतिवृत्त के स्वरूप–विस्फोटन के लिए ही तो तथोक्त निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है।

६५--'हिन्दूमानव' का सुप्रसिद्ध उदात्त-उद्घोष, एवं तद्द्वारा इसी की नैष्ठिकी विश्वमानवता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

'हिन्दूमानव' ही समस्त विश्व में एकमात्र वैसा मानव है, जिस की श्रुति–स्मृति–पुराण–मूला संस्कृति के अमुक–सामान्य–सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के मानव स्व–स्व–कर्त्तव्य--कर्म्मों का शिक्षण प्राप्त कर अभ्युदय–पथानुगामी बनसकते हैं। भारतेतर सभी मानव जहाँ स्व--स्व--मतवादात्मिका मान्यताओं को ही इतर मतवादों से श्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए अपने अपने तन्त्रों में हीं सब को दीक्षित कर देने के लिए अहोरात्र आकुल--व्याकुल--बने रहते हैं, वहाँ समस्त विश्व में हिन्दूमानव के सांस्कृतिक प्रतिनिधि भारतीय हिन्दू--ब्राह्मण की ही ऐसी उदारतापूर्णा--उदात्त–घोषणा है कि,–'भारतराष्ट्र में प्रसूत द्विजाति से सम्पूर्ण विश्व के मानव अपने अपने चरित्र की, प्रकृति-भेदभिन्न-स्व-स्व--धर्म्मात्मक स्व-स्व-कर्त्तव्य-कर्म्मों की ही शिक्षा प्राप्त करते रहें" (१)।

६६–'भारत'–'विश्वबन्धुत्त्व-'मानव'-'मानवधर्म्म'--'सत्य'--'अहिंसा-'त्याग'-आदि शब्दों की भी 'हिन्दू' शब्दानुप्राणिता निर्वचनानुगता साम्प्रदायिकता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण महान् व्यामोहन—

यदि–'हिन्दू' नाम साम्प्रदायिकता का बोधक है, तो 'भारत' नाम भी इस साम्प्रदायिकता से असंस्पृष्ट नहीं है। यही नहीं, भारतीय–भाषा के सभी सांस्कृतिक शब्द इसी साम्प्रदायिकता के रँग से रञ्जित हैं। जिन 'विश्वबन्धुत्त्व'-'मानवता' 'मानवधर्म्म' आदि का आज तुमुल उद्घोष किया जारहा है, वे शब्द भी इस दोष से उन्मुक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए-'विश्व' शब्द को ही लिजिए। सुप्रसिद्धा वैज्ञानिकी निर्वचनप्रक्रिया के अनुसार-'विशत्यत्र सच्चिदानन्दात्मा, तद् विश्वम्' ही विश्व शब्द का निर्वचन है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस विज्ञानसिद्धान्तानुसार पूर्वप्रतिपादित प्रकृतिविशिष्ट पुरुषेश्वर के अन्तःप्रवेश से ही यह भूतविवर्त्त-'विश्व' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। जिन के लिए दिग्देश-कालात्मक-सादि-सान्त-परिवर्त्तनशील-

---

(१)–एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुः

परिच्छिन्न-भौतिक-जगत् के अतिरिक्त दिग्देशकालातीत-अनाद्यनन्त-अपरिवर्त्तनीय-व्यापक-**आत्मब्रह्म** का स्वरूप सर्वथा अविज्ञेय, एवं अपरिचित ही है, उन अनात्मवादियों की दृष्टि से तो **'विश्व'** शब्द भी साम्प्रदायिक ही है। तथैव-**'भरतोऽग्निरित्याहुः, स हि देवेभ्यो हव्यं भरति'** (शतपथे) **'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति'** (यजुःसंहितायाम्) इत्यादि से प्रसिद्ध त्रयीवेदमूर्त्ति **भरत**, किंवा **भारत अग्नि** की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले, ब्राह्मवर्णात्मक हव्यवाट् भारताग्नि से अनुप्राणित, एतद्देश की **'भारत'** अभिधा भी **'हिन्दू'** शब्द के समतुलन में तो प्रत्यक्ष ही साम्प्रदायिक बनी हुई है। **इन्द्र-प्राण-अग्नि-शाश्वत-ब्रह्म**-आदि विभिन्न भावों से (१) समन्वित, केन्द्रस्थ **मनुस्तत्त्व** से समन्वित-**'मानव'** शब्द भी प्रत्यक्ष में ही साम्प्रदायिक बना हुआ है।

६७-गङ्गा-यमुना-वन्देमातरम्-सौराष्ट्र-विदर्भ-जयहिन्द-आदि आदि यच्चयावत् शब्दों की तथाविधैव साम्प्रदायिकता, एवं तत्समतुलित 'हिन्दू' शब्द के प्रति राष्ट्रीय मानव का निरर्थक आक्रोश—

एवमेव **गङ्गा, यमुना, सरयू, सरस्वती, कावेरी, चन्द्रभागा, यज्ञ, देव, द्विज, आचार्य्य, विद्या, सम्भूति, ज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, आचार, धर्म्म, नीति, सत्ता, स्वतन्त्रता, मातृभूमि, मातरम्, जयहिन्द**–आदि आदि सभी शब्द उसी भारतीय भाषा के शब्द हैं, जिन का निर्वचन भारतीय-ज्ञानविज्ञानात्मक प्रकृतिसिद्ध तत्त्वों से ही अनुप्राणित है। यदि इस ज्ञानविज्ञानात्मिका तत्त्वदृष्टि का नाम हीं साम्प्रदायिकता है, तो अवश्य ही उक्त शब्द भी साम्प्रदायिक ही हैं। और यही महान् गौरव है इस राष्ट्र का कि, इस के ये सभी शब्द मानवीय-काल्पनिक–सङ्केतमात्रानुगत असस्कृत-प्राकृत-शब्दों की भाँति काल्पनिक न होते हुए तत्त्वात्मक ही हैं। आर्य्यायणजाति के द्वारा गुण-गरिमा-योग्यता आदि के सम्मान में उपलब्ध **'हिन्दू'** शब्द भी भारतीय मानव की उत्कृष्टता ही अभिव्यक्त कर रहा है (२)। अतएव भावावेश में आकर, किंवा परदर्शनमूला भावुकता से आकर्षित होकर कदापि इन सांस्कृतिक-शब्दों का परित्याग नहीं किया जासकता। जो ऐसा करते हैं, कर रहे हैं, भावाविष्ट तथाविध भावुक मानवों की भावुकता के अनुरञ्जन के लिए ही तो हमें तथाकथित निबन्ध उपनिबद्ध करना पड़ा है।

६८–'हिन्दू-मानव'-रूपा पवित्र-अभिधा से अनुप्राणित 'विश्वमानव' के शान्ति-स्वस्ति भाव, एवं हिन्दूमानव के ही–'वसुधैव कुटुम्बकम्' इत्यादि लक्षण उदात्त-उद्घोष-

हिन्दूमानव का उद्बोधन निश्चयेन विश्वमानवोद्बोधन का भी कारण प्रमाणित होजाता है। अतएव निबन्ध के तन्नामकरण को ही हमनें निष्ठापथ माना है। **"भारतीय हिन्दू-मानव सम्पूर्ण-साधन**

---

(१)–**एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।**
इन्द्रमेके, परे प्राण, मपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनुः

(२)--देखिए ! प्रस्तुत निबन्ध के **'विश्वस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रथमखण्ड की प्रस्तावना

परिग्रहों की विद्यमानता में भी तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्यों, और कैसे दुःखी बनता आरहा है" इस वाक्य का उक्त मीमांसा के द्वारा 'विश्वमानव दुःखी क्यों ?, इस तथ्य पर भी विश्राम माना जासकता है। और इसी दृष्टि से आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, निष्ठादृष्ट्या प्रधान-रूपेण **भारतीय-हिन्दू-मानव** के उद्बोधन से सम्बन्ध रखता हुआ भी प्रस्तुत निबन्ध अपनी ज्ञानविज्ञा-नात्मिका प्रकृतिसिद्धा सनातन- परिभाषाओं के अनुबन्ध से परम्परया **'विश्वमानव'** के भी अभ्युदय का निमित्त बन रहा है, जिस निमित्तता के प्रमाण **'वसुधैव कुटुम्बकम्-'सर्वे भवन्तु-सुखिनः'-'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'-सर्वे सन्तु निरामयाः'** इत्यादि माङ्गलिक उद्घोष ही बने हुए हैं।

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगमसिद्धान्त को आधारस्तम्भ मान कर इस निबन्ध को हमनें **चार खण्डों** में विभक्त किया है, जिनके सम्बन्ध में-**'स्तम्भदृष्टया'** किञ्चिदिव (सन्दर्भ-समन्वयार्थ) निवेदन कर देना भी अप्राङ्गिक न होगा।

६६-निबन्ध के प्रथमखण्ड के सम्बन्ध में (१)—

निबन्ध के प्रथम खण्ड का प्रमुख नाम है-**'विश्वस्वरूपमीमांसा'**। **'विश्वमानव दुःखी क्यों ?,** इस मूलप्रश्न के समाधान के लिए सर्वप्रथम **स्थावर-जङ्गम**-भावापन्न विश्व के स्वरूप का तात्त्विक-स्व-रूप-समन्वय अनिवार्य्य बन जाता है। अतएव सर्वप्रथम **विश्व** के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का उपबृंहण आवश्यक मान लिया गया है। इस **प्रथमखण्ड** में **१-असदाख्यानस्वरूपमीमांसा,** तथा प्रमुखरूपेण **२-विश्वस्वरूपमीमांसा,** इन दो स्वतन्त्र स्तम्भों का समावेश हुआ है। जिसप्रकार **भावुकता** के कारण सम्पूर्ण-साधन परिग्रहों की विद्यमानता में भी आत्मनिष्ठ भी मानव आद्यन्त का दुःखी बन जाया करता है, ठीक इसीप्रकार इनसे भी अधिक साधनों के विद्यमान रहते हुए भी सुयोग्य-बुद्धिमान्-राजनीतिकुशल-लोकचतुर भी मानव **कुनिष्ठात्मिका असन्निष्ठा** के वारुण-पाश में आबद्ध होता हुआ, अपनी इस तमोगुण-बहुला **असन्निष्ठा** से तात्कालिकरूपेण-समृद्धि-परम्पराओं का अनुगामी बनता हुआ भी अन्ततोगत्वा समूल ही विनष्ट होजाता है। **भावुकता, और असन्निष्ठा से कैसे मानव का सर्वनाश होजाता है ?,** प्रश्न के ऐतिहासिक वास्तविक-तथ्य के स्वरूपदिग्दर्शन के लिए ही प्रथमखण्ड के आरम्भ में हीं **'असदाख्यानस्व-रूपमीमांसा'** का समावेश हुआ है। आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति **धर्म्मभीरु अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु दुर्य्योधन,** ये दोनों पात्र क्रमशः **भावुकता,** तथा **असन्निष्ठा** के ही सगुण प्रति-मान बने हुए थे।

श्रुतिस्मृतिपुराणशास्त्रनिष्ठ, परम आस्तिक भी, पौरुषप्रतिमान भी **अर्जुन** एकमात्र अपनी भावुकता से ही सर्वात्मना तबतक दुःखी ही बने रहे, जबतक कि भगवान् ने इन्हें अव्ययपुरुषनिबन्धना, **धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य**-नाम की चतुर्विध **'भग'** (१) सम्पत्तियों की प्रवर्त्तिका, समत्वयोगात्मिका, आचारभावात्मिका **'बुद्धियो-गनिष्ठा'** जैसी **'सन्निष्ठा'** प्रदान नहीं कर दी। स्वकर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा की प्रतिबन्धिका वर्त्तमानयुगान्विता काल्पनिक-

---

(१)-ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरिणा ॥

मानवता, अहिंसा, करुणा, दया, सहास्तित्त्व, आदि आदि भावुकता-परम्पराओं से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः समाप्लुत नितान्त भावुक अर्जुन के उस आकर्षक-प्रारम्भिक-व्याख्यान से सभी गीताप्रेमी सुपरिचित होंगे, जिसका नैष्ठिक भगवान् के द्वारा उपहासपूर्वक ही निराकरण हुआ था। प्रत्यक्षप्रभावमूला इसी भावुकता ने, दिग्देशकालव्यामोहनमूला इसी भीरुताने अर्जुन जैसे पुरुषश्रेष्ठ, पुरुषार्थी, को भी एकबार तो— **'न योत्स्ये'** रूपेण कायरता की भूमि पर ही ला खड़ा किया था।

दूसरा प्रधान पात्र **दुर्य्योधन** दिग्देशकाल का तो महा पण्डित था। किन्तु इसका यह पाण्डित्य दिग्देशकालातीत परिणामों के समतुलन में असमर्थ बना रहता हुआ केवल **'वर्त्तमान'** में हीं अभिनिविष्ट होगया था। इसी वर्त्तमानव्यामोहन ने इसे भी उस घातक पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहन से सर्वात्मना विमुग्ध कर लिया था, जिस विमोहन के अनन्तर मानव के सत्त्वगुणानुबन्धी सभी सद्गुण तो होजाया करते हैं विलीन, एवं प्रतिक्रियात्मक दुर्गुण होजाया करते हैं अभिव्यक्त। इस ओर का **भावुक,** एवं उस ओर का असन्निष्ठ, दोनों हीं वास्तविक 'सत्ताब्रह्म' से पराङ्मुख ही होजाया करते हैं। परिणामस्वरूप दोनों की भाषा निषेधभावापन्न आक्रोश से ही समन्विता बन जाती है। सभी क्षेत्रों में अपने आपको ही सर्वज्ञ मानते रहना, तथा अन्य सत्परामर्शों को भी क्यों ?, न च नुच, नहीं मानते, इत्यादि रूपेण उपेक्षित करते रहना हीं इत्थंभूत भावुक, तथा असन्निष्ठ मानवों की जीवनचर्य्या बन जाया करती है। दूसरे शब्दों में-सद्ब्रह्मानुगत सत्ताब्रह्म से अनुप्राणित **'अस्तित्त्व'** का विरोध, तथा—नास्तिमूलक **'निषेध'** की अनुगति ही इन दोनों वर्गों का एकमात्र आराध्य-मन्त्र बन जाता है, जिस इस असद्भावात्मक **'निषेध'** से ही अन्तोगत्त्वा दोनों हीं वर्ग नष्ट ही होजाया करते हैं (१)। **भावुक अर्जुन** की-**'न योत्स्ये'** भाषा, तथा **असन्निष्ठ-कुनैष्ठिक-दुर्य्योधन** की **'नैव दास्यामि'** भाषा ही प्रत्यक्ष निदर्शन है इन दोनों की निषेधभावना में। इन्हीं दोनों पात्रों के माध्यम से **प्रथमस्तम्भ में भावुकताके ऐतिहासिक तथ्य** का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, एवं तत्स्तम्भ ही-**'असदाख्यानस्वरूप-मीमांसा'** नाम से व्यवहृत हुआ है।

तदनन्तर **विश्वस्वरूपमीमांसा** नामक **द्वितीयस्तम्भ** समाविष्ट हुआ है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-मूर्त्ति अश्वत्थप्रजापति की सहस्रशाखाओं में से **'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा'** नाम की एक शाखा ही पञ्चपर्वात्मक एक विश्व का सम्पूर्ण इतिहास है, जिसके-**प्राणमय-आकाशात्मा स्वयम्भू, आपोमय वाय्यात्मा परमेष्ठी, वाङ्मय तेजोरूप सूर्य्य, अन्नमय आपोरूप चन्द्रमा,** तथा **अन्नादमय पृथिव्यात्मक भूपिण्ड,** ये पाँच **पुण्डीर** (पर्व-पोर-अवयव) वैदिक-विज्ञानजगत् में सुप्रसिद्ध हैं। इन्हीं पाँचों विश्वपर्वों से अव्ययात्मनिष्ठ मानव के **स्वायम्भुव शान्तात्मा, पारमेष्ठय महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन),** एवं **पार्थिव भूतात्मा (प्राणविशिष्ट पाञ्चभौतिक शरीर),** इन पाँच आध्यात्मिक विश्वपर्वों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। द्वितीयस्तम्भ में पञ्चपर्वात्मक इसी विश्वस्वरूप की ज्ञानविज्ञानात्मिका स्वरूपमीमांसा हुई है, जिसके माध्यम से भावुक मानव की, तथा असन्निष्ठ मानव की अनेक भ्रान्त-कल्पनाओं का

---

(१) असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥
—उपनिषत्

सहजरूपेणैव उन्मूलन होजाता है । तदित्थं इन दो स्तम्भों से कृतरूप, **पान्सौ (५००) पृष्ठात्मक प्रथम-खण्ड** का यही संक्षिप्त-स्वरूप-निदर्शन है (३) ।

१००-निबन्ध के द्वितीय-खण्ड के सम्बन्ध में (२)—

पञ्चपर्वा विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित मानव प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से दुःखी है, तो दिग्देशकाल निबन्धना असन्निष्ठा से भी परिणाम में इस असन्निष्ठ का सर्वनाश ही निश्चित है । एकमात्र **सन्निष्ठात्मिका निष्ठा (संविन्मूला आत्मनिष्ठा)** ही मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् का कारण मानी गई है । प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में श्रुति-स्मृति-पुराण-आगमादि आर्षवचनों के माध्यम से सर्वप्रथम **निष्ठाभावुकता-स्वरूप-मीमांसा**' नामक क्रमप्राप्त तृतीय (तथा खण्डानुगत प्रथम) स्तम्भ में **निष्ठा**, और **भावुकता**, शब्दों का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है ।

क्रमप्राप्त चौथे, एवं खण्डानुगत दूसरे-'**मानवस्वरूपमीमांसा**' नामक स्तम्भ में '**मानव**' के स्वरूप का ही समन्वय-प्रयास हुआ है । सम्पूर्ण विश्व में '**मानव**' का स्वरूप अत्यन्त दुरधिगम्य इसलिए प्रमाणित हो रहा है कि, इसकी अभिव्यक्ति का मनुकेन्द्रानुगत शाश्वतब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध है । कृमि-कीट-पक्षी-पशु-पितर-असुर-गन्धर्व-पिशाच-यक्ष--राक्षस-आदि आदि चतुर्दशविध **भूतसर्गों (विश्वप्रजाओं)** में से मानवातिरिक्त अन्य सभी प्रजावर्ग जहाँ केवल '**प्राकृतजीव**' मात्र हैं, वहाँ एकमात्र मानव ही '**अप्राकृत-आत्मनिष्ठ-तत्त्व**' है । अतएव केवल इसे ही पञ्चपर्वाध्यक्ष विश्वेश्वर का अन्यतम प्रतिरूप, अतएव '**नेदिष्ठ**' माना गया है, जैसाकि-'**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । इसी आधार पर **भगवान् व्यास** के मुखपङ्कज से-'**गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि-किञ्चित्**' (महाभारते) यह उदात्त उद्घोष विनिःसृत हुआ है ।

अव्ययात्मब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति से पूर्णात्मक प्रमाणित भी इत्थंभूत मानव विगत तीन सहस्र-वर्षों से क्यों उत्तरोत्तर अपने आपको अभावग्रहग्राहग्रस्त मानता आरहा है ?, इस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न के समाधान के लिए इसी स्तम्भ में मानव की अमुकामुक-सापेक्षता-मूला भावुकता से तात्कालिक रूपेण लाभ उठाने की लोककला में चतुर, मानव के उद्बोधक-उन ६ वर्गों के स्वरूपेतिवृत्त का भी विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिनका प्रस्तावना के उपक्रम में हीं संस्मरण किया जाचुका है । मानव के तात्त्विक-स्वरूप-विश्लेषण-पूर्वक प्रस्तुत चतुर्थ, किंवा द्वितीय '**मानवस्वरूपमीमांसा**' नामक स्तम्भ में निम्नलिखित अवान्तर प्रमुख प्रकरणों का समावेश हुआ है—

(क)-मानव का सुखशान्तिमूलक तत्त्वेतिहास, एवं दुःखपूर्ण मानवेतिहास

(ख)--मानवेतिहासमूला युगपरम्परा, और मानव का क्रमिक स्खलन

(ग)-मानवोद्बोधक-नवग्रहग्राहात्मक-नवविध विवेचकवर्गों का इतिवृत्त

(घ)-मानवस्वरूपानुगत--'अहम्' भाव-स्वरूपमीमांसा

(ङ)--मानवस्वरूपानुगता-'पुरुषार्थचतुष्टयी' की स्वरूपमीमांसा

---

(३) '**राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर**'-नाम की संस्था के द्वारा संस्थान के सम्मान्य मन्त्री डॉ० **श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल** महोदय की भूमिका के साथ स्तम्भद्वयात्मक यह प्रथमखण्ड दो वर्ष पूर्व प्रकाशित होगया है ।

तदित्थं निष्ठा–भावुकता–शब्दों का तात्त्विक समन्वय करता हुआ, उपर्युक्त पञ्चविध महत्त्वपूर्ण तथ्यों की मीमांसा करता हुआ स्तम्भद्वयात्मक यह द्वितीयखण्ड सहस्राधिक परिच्छेदों के द्वारा अपने वाङ्मय 'काय' से सम्पन्न हुआ है।

छस्सौ (६००) पृष्ठात्मक इस द्वितीयखण्ड के साथ दोसौ (२००) पृष्ठात्मक एक-'परिशिष्ट-खण्ड' और समाविष्ट हुआ है, जिसका नामकरण हुआ है **'मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा'**, जिसमें मानव के प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक–नैष्ठिक–कर्त्तव्यों का ही स्वरूपदिग्दर्शन हुआ है। और यों संकलनधिया **आठसौ पृष्ठों** में, तथा **तीन स्तम्भों** में इस द्वितीयखण्डने अवभृथस्नान किया **है**।

१०१--निबन्ध के तृतीय-खण्ड के सम्बन्ध में (३)—

निबन्ध के इस **तृतीयखण्ड** का नामकरण हुआ है–**'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'**। ज्ञानविज्ञान–समन्विता आचारनिष्ठात्मिका परिभाषाओं के विलुप्त होजाने से अवश्य ही एतादृश नामकरण सामान्य–जनों की कौन कहे, संस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वानों की दृष्टि में भी ऊहापोह का जनक बन सकता है। तत्त्वदृष्टि से अनु-प्राणित मानव का स्वरूप जिन चार प्राकृतिक भावों से समन्वित, सम्पन्न हुआ है, उन चारों का मानवीय–जगत् में क्रमशः **आत्मा**, बुद्धि, **मन, शरीर,** रूपेण नामकरण हुआ है, जैसा कि निबन्ध के द्वितीयखण्डा–न्तर्गत–**'मानवस्वरूपमीमांसा'** नामक स्तम्भ में विस्तार से स्वरूपोपबृंहण हुआ है। ये ही चारों मानवीय पर्व प्रत्येक मानव में प्रकृत्या ही संसिद्ध क्रमशः **ब्रह्म, क्षत्र, विट्, पौष्ण, (शूद्र),** ये चार तत्त्व हैं। मानव का ज्ञानप्रधान, शुद्ध-सात्त्विक **आत्मतन्त्र ही ब्रह्म, किंवा ब्राह्मण** है। ज्ञानगर्भित क्रियाप्रधान सत्त्व–गर्भित रजोमय **बुद्धितन्त्र ही क्षत्र, किंवा क्षत्रिय है**। क्रियागर्भित अर्थप्रधान रजोगर्भित तमोमय मनस्तन्त्र ही विट्, किंवा वैश्य है। एवं सर्वगर्भित प्रवर्ग्यप्रधान तमोमय **शरीरतन्त्र ही पौष्ण, किंवा शूद्र** है। और यों मानव, मानव ही नहीं अपितु प्राणीमात्र प्रकृतिसिद्ध इन चारों हीं वर्णों से सहजरूपेणैव नित्य समन्वित हैं, जिनमें कि संस्कारों के तारतम्य से समन्वय-व्यवस्था, किंवा अव्यवस्था होती रहती है (१)।

यही मानव के-**'व्यक्तित्त्व'** का संक्षिप्ततम स्वरूप–प्रदर्शन है, जिसके आधार पर ही स्वस्वरूपेण अभिव्यक्त, अतएव अभिव्यक्तित्त्वलक्षण **'व्यक्तित्त्व'** से समन्वित मानव की **परिवारव्यवस्था, समाज-व्यवस्था**, तथा **राष्ट्रव्यवस्था,** एवं तद्द्वारा **विश्वसहसमन्वयव्यवस्था** व्यवस्थित हुई है। चतुष्पर्वात्मक मानव का व्यक्तित्त्व ही **परिवार, समाज, राष्ट्र,** तीनों की स्वरूप–व्याख्या बनता हुआ **विश्वमानवता** की स्वरूप–व्याख्या प्रमाणित होरहा है। अपने प्रज्ञापराध (नासमझी) से भ्रान्त मानव प्रकृतिसिद्धा इस व्यवस्था–चतुष्टयी में अपनी भावुकता का समावेश करता हुआ कुछ समय के लिए, किंवा लम्बे समय के लिए **अव्यवस्था** अवश्य ही उत्पन्न कर सकता है, कर रहा है आज। किन्तु कदापि इस **प्रकृतिसिद्धा व्यवस्था** का आकल्पान्त भी मूलोच्छेद सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसी चतुष्टयी के द्वारा विश्व का, एवं विश्वमानव का स्वरूप–**'धाता-यथापूर्वकल्पयत्'** रूपेण प्रक्रान्त है।

चतुष्पर्वात्मक **'व्यक्तिमानव'** का सत्तानुगत **आत्मतन्त्र** ही परिवारसंस्था में **कुलवृद्ध** का स्थान ग्रहण करता है। सत्त्वरजोऽनुगत बुद्धितन्त्र ही इस संस्था में **'समर्थयुवापुत्र'** का, रजस्तमोऽनुगत **मनस्तन्त्र** ही

१–**प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च** । (वसिष्ठस्मृतिः)

'नारीतन्त्र' का, एवं तमोऽनुगत **शरीरतन्त्र** ही **'बालतन्त्र'** का स्थान ग्रहण करता है। मानवव्यक्ति में जो स्थान **आत्मा, बुद्धि, मन, एवं शरीर**, का है, मानवपरिवार में वही स्थान **कुलवृद्ध–समर्थयुवापुत्र–नारी–** तथा **बालवृन्द** का **है**। यही व्यवस्थाचतुष्टयी मानव के **सामाजिक-जीवन** की व्यवस्था का आधारस्तम्भ बनती है। **आत्मानुगत कुलवृद्ध** ही समाजव्यवस्था में **ब्राह्मणवर्ग है, बुद्ध्यनुगत समर्थयुवा** ही अत्र क्षत्रियवर्ग है, **मनोऽनुगता नारी** ही अत्र **वैश्यवर्ग है**, एव **शरीरानुगत** बालवृन्द ही अत्र 'शूद्रवर्ग' है। और यही भारतीय प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वह मूलेतिवृत्त है, जिसके आधार पर ही इसके **राष्ट्रतन्त्र** मे भी चार प्रकार के ही **शासनतन्त्र** व्यवस्थित होते आए हैं आदिकाल से ही।

व्यक्तितन्त्रानुगत आत्मभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत कुलवृद्धभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत ब्राह्मणभाव ही **'नीतितन्त्रात्मक'** शासनतन्त्र की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है। तथैव व्यक्तितन्त्रानुगत बुद्धिभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत समर्थयुवापुत्रभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत क्षत्रियभाव ही **'राज–तन्त्रात्मक'** शासनतन्त्र की, एवमेव व्यक्तितन्त्रानुगत मनोभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत नारीभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत वैश्वभाव ही **'गणतन्त्रात्मक'** शासनतन्त्र की, तथा व्यक्तिनिबन्धन शरीरभाव, तन्निबन्धन परिवारतन्त्रानुगत बालभाव, तन्निबन्धन समाजतन्त्रानुगत शूद्रभाव ही **'प्रजातन्त्रात्मक'** शासनतन्त्र की प्रतिष्ठाभूमि बना रहता है। तदित्थं प्रकृतिसिद्ध त्रैगुण्य-से अनुप्राणिता मानवीया पर्व–चतुष्टयी ही मानव के अथ से इति पर्य्यन्त के चिरन्तन इतिवृत्त की आधारभूमि प्रमाणित होरही है, जिसकी **आत्मा-कुलवृद्ध–ब्राह्मण–नीतितन्त्रानुगता** प्रथमपर्वचतुष्टयी सत्त्वप्राधान्य से **'श्वेतवर्णात्मिका'** मानी गई है। **बुद्धि–समर्थपुत्र-क्षत्रिय– राजतन्त्रानुगता** द्वितीया पर्वचतुष्टयी सत्त्व-रजः–साम्य से–**'रक्तवर्णात्मिका'** मानी गई है। **मन-नारीवृन्द–वैश्य–गणतन्त्रानुगता** तृतीया पर्वचतुष्टयी रजःस्तमः–प्राधान्य से–**'पीत–वर्णात्मिका'** मानी गई है। एवं **शरीर–बालवृन्द–शूद्र–प्रजातन्त्रानुगता** चतुर्थी पर्वचतुष्टयी तमःप्राधान्य से **'कृष्णवर्णात्मिका'** मानी गई है। इसी प्रकृतिसिद्धा तत्त्वचतुष्टयी के आधार पर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्यग्रन्थ **महाभारत** में चारों वर्णों को क्रमशः **श्वेत–रक्त–पीत–कृष्ण**, वर्णात्मक ही बतलाया है, जिनका वर्णभाग केवल सत्त्वरज–स्तमोगुणादि से ही परिलक्षित है, न कि रँगात्मक **वर्णों** से।

चतुष्पर्वा मानव का स्वरूपनिर्म्माण जिस सम्वत्सरप्रजपति से हुआ है, उसमें भूपिण्डानुगत **पार्थिव सम्वत्सर**, चन्द्रानुगत **चान्द्रसम्वत्सर**, एवं सूर्य्यानुगत **सौरसम्वत्सर**, इन तीन सम्वत्सरचक्रों का समन्वय होरहा **है**। अपने **'अक्षवृत्त'** पर परिभ्रममाण भूपिण्ड के चारों ओर अपने **'दक्षवृत्त'** के आधार पर चन्द्रमा परिक्रममाण **है**। एवं सचन्द्र–यह भूपिण्ड **'क्रान्तिवृत्त'** के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। क्रान्तिवृत्तानुबन्धिनी **'क्रान्ति'** के आधार पर ही प्रकृतिसिद्ध **'अश्वमेधयज्ञ'** का स्वरूप–सम्पन्न हुआ है। इसी क्रान्तिपरिवर्त्तन के माध्यम से मानवीय पर्वों में उच्चावच परिवर्त्तन होते रहे हैं। अतएव श्वेतादि भावनिबन्ध परिवर्त्तनों को विज्ञानभाषा में अवश्य ही–**'श्वेतक्रान्ति–रक्तक्रान्ति–पीतक्रान्ति–कृष्णक्रान्ति–** नामों से व्यवहृत किया जासकता है। **आत्मानुगता विचारक्रान्ति ही श्वेतक्रान्ति है**, जिसका सत्त्वगुण से ही सम्बन्ध है, यही ज्ञानविज्ञानात्मिका 'ब्राह्मणक्रान्ति' है। इस के तात्त्विक, तथा आचारात्मक, उभयविध स्वरूपेतिवृत्त के यशोगान के लिए ही निबन्ध का एतन्नामक तृतीय–खण्ड–उपनिबद्ध हुआ है।

द्वितीयखण्ड के–**'मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रकरण के अनन्तर ही उपनिबद्ध होने वाले तृतीयखण्ड के द्वारा भारतीय मानव का ध्यान दिग्देशकालानुबन्धी युगधर्म्माक्रान्त जिस उद्बोधनात्मक पथ

की ओर आकर्षित करा देना अनिवार्य्य माना गया है, तल्लक्ष्यसिद्धि के लिए ही इस खण्ड में निम्न लिखित अवान्तर पाँच स्तम्भों का समावेश हुआ है—

(१)–भारतीय **धर्म्म**, तथा **नीति** का स्वरूप--परिचय, एवं मुक्त–प्रक्रान्ता राष्ट्रीयप्रगति का संक्षिप्त इतिवृत्त

(२)–अभिनव--स्वतन्त्र–भारतराष्ट्र के उद्बोधन के लिए **'श्वेतक्रान्ति'** का महान् सन्देश

(३)–रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य-**साम्यवाद (अर्थसाम्यवाद)**, तथा श्वेतक्रान्तिमूलक प्राच्य (भारतीय) **साम्यवाद (आत्मसाम्यवाद)** का नीर-क्षीर-विवेक

(४)–श्वेतक्रान्ति का घोषणापत्र

(५)–पुरातन भारतीय राष्ट्रमानव की चिरन्तना राष्ट्रनिर्म्माणपद्धति, एवं उसकी अलौकिक, तथा लौकिक,कामनाओं का चिरन्तन इतिवृत्त

पञ्चस्तम्भात्मक, एवं चारसौ (४००) पृष्ठात्मक इस तृतीय खण्ड के ही शेषभूत, तीन्सौ (३००) पृष्ठात्मक **'परिशिष्ट-खण्ड'** का संकलन हुआ है, जिस में **श्वेतक्रान्तिघोषणामीमांसा**, तथा **'स्वतन्त्रराष्ट्र--कामनामीमांसा'** नामक दो स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं। तदित्थं सप्त स्तम्भात्मक, तथा सातसौ पृष्ठात्मक इस **'श्वेतक्रान्तिसन्देश'** नामक तृतीय खण्ड में परःशत ज्ञान--विज्ञानात्मक तात्त्विक विषयों के माध्यम से ही भारतीय मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा का स्वरूप–समन्वय समाविष्ट हुआ है। हमारी न केवल ऐसी मान्यता ही है, अपितु दृढतमा आस्था है कि, बिना इस **'श्वेतक्रान्ति'** के सन्देशप्रसार के अन्य प्रयत्न--सहस्रों से भी त्रिसहस्र--वर्षात्मिका सर्वनाशकारिणी भावुकता के वारुण--पाश से सर्वसाधन–परिग्रह–सम्पन्न भी भारतराष्ट्र कदापि उन्मुक्त नहीं होसकता। प्रतीच्यदासता के पदचिह्नों का आवेशपूर्वक अन्धानुकरण करतीं जारहीं वर्त्तमान अभिनव–प्रज्ञाओं के मानस में जितना भी शीघ्र यह सन्देश अन्तर्य्यामसम्बन्ध से खचित होजाय, इसी में राष्ट्र के वर्त्तमान, तथा भविष्य का अभ्युदय है।

१०२–निबन्ध के चतुर्थखण्ड के सम्बन्ध में (४)—

स्वयं चतुर्थखण्ड ही दिग्देशकालप्रेमी पाठकों के सम्मुख प्रणतभाव से उपस्थित होरहा है। अतएव इसके सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से कुछ भी निवेदनीय नहीं रह जाता। निबन्धानुगत खण्ड--सन्दर्भ--सङ्गति की दृष्टि से यही प्रासङ्गिक निवेदन कर देना अलं होगा कि, सत्तासापेक्षतामूला राजन्यभावात्मिका जिस भावुकता का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस भावुकता को निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से प्रक्रान्त बनाए रखने में अन्यान्य ज्ञात–अज्ञात--परःशत सामान्य विशेष कारण--परम्पराओं के समतुलन में सर्व--मूर्द्धन्य, एवं प्रमुख--कारण **'दिग्देशकाल'** ही बनते आरहे हैं।

भावुकतावश स्वदोषों को परक्षेत्रों के प्रति ही सधन्यवाद समर्पित करते रहने जैसी जघन्यतमा मलीमसा कला में परमनिष्णात भारतीय हिन्दूमानव अपने सभी दोषों को मुख्यरूप से दिग्देश--कालात्मक युगधर्म्मों से ही अनुप्राणित करता आरहा है तथोक्ता अवधि में। सम्पूर्ण तथ्यों के नीर--क्षीर--विवेक कर लेने के अनन्तर भी ऐसा देखा गया है, सुना गया है, एवं स्वयं भी अनेक बार अनुभव किया गया है कि, मानव अन्ततोगत्वा

इसी दिग्देशकाल–महिमा का यशोगान करता हुआ मूलनिष्ठापथ को ऋजुतापूर्वक अनुगमनीय मानने से तटस्थ ही बना रह जाता है। सचमुच दिग्–देश–काल–त्रयी का स्वरूप अत्यन्त ही दुरधिगम्य, अतएव अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए निरतिशयरूपेण व्यामोहक ही बना हुआ है।

जिसप्रकार **उक्थामदविद्या–अर्क्यविद्या–परिमरविद्या–पर्य्यङ्कविद्या–उद्गीथविद्या–चाक्षुषपुरुष–विद्या–दहरपुण्डीरविद्या–अश्वत्थविद्या–तानूनप्त्रविद्या–शवसोनपाद्विद्या–विराड्विद्या**–आदि आदि ज्ञानविज्ञानात्मिका, आचारसमन्विता परःशत विद्याएँ पारिभाषिक–तत्त्वबोधाभाव से विगत तीन सहस्र–वर्षों से उत्तरोत्तर अन्तर्मुख ही बनतीं आरहीं हैं भारतीय–विद्वत्प्रज्ञाओं से, तथैव दिग्देशानुगता महत्त्वपूर्णा **'काल–विद्या'** भी पराःपरावता ही बनी हुई है, जिसे तत्त्वभाषा में–**'कालाश्वविद्या'** भी कहा जासकता है। इस विद्या की विलुप्ति का ही यह दुष्परिणाम हुआ है कि, भारतराष्ट्र काल के वास्तविक स्वरूप से अपनी प्रज्ञा को पराङ्मुख रखता हुआ उस **'दिग्देशकालत्रयी'** का ही उपासक बनता आरहा है तीन–सहस्र–वर्षों से, जो कि व्यक्ता-मूर्त्ता–दिग्देशकालत्रयी मानवेतर कृमि–कीट–पक्षी–पश्वादि प्राणीजगत् का ही सञ्चालन करती रहती है। आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव दिग्देशकालातीत, अतएव च अप्राकृत सनातन मानव को कदापि व्यक्त दिग्देशकालत्रयी प्रभावित नहीं कर सकती। यदि यह इस से प्रभावित होजाता है, तो यह उस अवस्था में तत्प्रभावानुगामी मनःशरीरमात्रोपजीवी पशुजगत् की श्रेणि में हीं समाविष्ट होजाता है।

जहाँतक हमारे प्रयास की सीमा है, राष्ट्रभाषा (हिन्दी, हिन्दूस्तानी नहीं) में हीं नहीं, अपितु वर्त्तमान विद्वत्समाज के आराध्य नव्यन्याय–व्याकरण–साहित्य–आदि संस्कृतग्रन्थों में भी हमें दिग्देशकाल की तात्त्विक-स्वरूप–मीमांसा अद्यावधि (सम्भवतः हमारे दृष्टिदोष से ही) उपलब्ध नहीं होसकी है। यदि किसी ग्रन्थ मे मीमांसा हुई होगी, तो वह ग्रन्थकर्त्ता का ही अनुरञ्जन कर रही होगी। रही बात प्रतीच्यजगत् की, सो तत्सम्बन्ध में अपनी निरक्षरमूर्द्धन्यमूला अज्ञता से हम कुछ भी निवेदन नहीं करसकते। हमारे एक स्थानीय मित्रश्रेष्ठने अनुरोध किया था कि, "पश्चिमजगत् ने **टायम (काल)–स्पेश (दिक्)** और **मेटर (देश)** के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, उनका भी संक्षेप से इस निबन्ध मे समावेश होना चाहिए"। किन्तु सम्भवतः हम अपने हीं दोष से उस अनुरोध में सफलता इसलिए नहीं प्राप्त कर सके कि,—

हमारी ऐसी आस्था है कि, दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म की अपरिच्छिन्ना-अखण्डा-चित्सत्ता के आधार पर प्रतिष्ठित भारतीय तत्त्ववाद का पारिभाषिक दृष्टिकोण केवल भूतानुगत प्रतीच्य दृष्टिकोण के साथ कदापि समन्वित नहीं होसकता। परब्रह्म के **परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर** नामक सनातन महिमाभावों से सर्वात्मना समतुलित **अर्द्धमात्रा-अकार-उकार-मकारात्मक**, स्फोट-वर्ण-समन्वित, **नित्यशब्दब्रह्म** की प्रकृति-प्रत्यय–उपसर्ग–निपातादि–ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं से अनुप्राणित मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अपौरुषेय शब्दों के तथाविध ही प्राणप्रधान अर्थों के साथ प्रतीच्यभाषा के यदृच्छाभावात्मक, सङ्केतभावापन्नमात्र लौकिक शब्दों का कैसा, क्या समन्वय–समतुलन होगा ?, और कैसे होगा ?, प्रश्न हमारी वेदाभ्यासजड़प्रज्ञा के लिए तो अनतिप्रश्न ही प्रमाणित होरहे हैं। जिसप्रकार भारतीय **संस्कृति,** और **सभ्यता** शब्दों के रहस्यात्मक पारिभाषिक शब्दार्थों का प्रतीच्यभाषा के **कल्चर,** और **सिविलाइजेशन** शब्दों के साथ स्वाप्निक सम्पर्क

भी नहीं है, हम समझते हैं--'**अप्सरसो वै दिशः**--'**अग्निर्भूस्थानः**'--'**कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः**' इत्यादि रहस्यपूर्ण परिभाषाओं से अनुप्राणित **दिक्--देश--काल**--शब्दों का भी प्रतीच्यभाषा के **स्पेश--मेटर--टायम** आदि साङ्केतिक--शब्दों का कोई विशेष सम्पर्क नहीं हीं होगा। फिर हम अपरिचित जो हैं इस प्रतीच्यभाषा के मर्म्म से।

अवश्य ही इसे हम अपना महत्सौभाग्य ही मानते हैं कि, किसी जन्मान्तरीय संस्कारानुग्रह से ही हम प्रयास करते हुए भी इस प्रतीच्यभाषा--बोध का अबतक निग्रहात्मक अनुग्रह नहीं प्राप्त करसके। यदि ऐसा अनुग्रह ? प्राप्त कर लिया जाता, तो निश्चयेन हम भी सत्तासापेक्षतामूला तथाकथितकता भावुकता के वारुणपाश में आबद्ध होते हुए उसीप्रकार वर्त्तमान अमुक आयोजनों को ही '**सांस्कृतिक--आयोजन**' प्रमाणित करने लग पड़ते, जिन आज के इन अमुक नृत्यगानादिव्यासङ्गात्मक कल्पित आयोजनों का न तो भारतीय संस्कृति से ही कोई सम्बन्ध है, नैव सभ्यता से ही। तथ्य तो इस दिशा में यही निष्ठापूर्ण माना जायगा कि, सर्वप्रथम हमें अपनी उस मूलनिधि का ही इसी निधि की परिभाषाओं के माध्यम से चिन्तन--मनन--स्वाध्याय ही करना चाहिए।

तथोक्त समन्वय का तो अभी अवसर ही नहीं आया है, जबकि भारतीय-मूलनिधि की ज्ञानविज्ञानात्मिका स्वाध्याय--परम्परा अनेक शताब्दियों से अन्तर्म्मुख ही बनती चली आरही है। ऐसी विजड़िता--अवस्था में समन्वय--समतुलन के लिए व्यग्र हो पड़ने का तो यही अर्थ होगा, जैसेकि प्रतीच्यभाषा के--'**सायंस**' शब्दाकर्षण से प्रभावित होपड़ने वाले अमुक भारतीय वेदभक्त वैदिक शब्दों के अनुकरणात्मक--काल्पनिक--जोड़ तोड़ बैठाते हुए वेदशास्त्र को भी वर्त्तमान भूतविज्ञानवत् तार--टेलीफोन--आदि का ही निरूपक मानने, और मनवाने के लिए व्यग्र बनते जारहे हैं। आलम्यालम्।

निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, केवल भारतीय-शास्त्र (वेदशास्त्र) की मौलिक परिभाषाओं के आधार पर ही हमने '**दिग्देशकाल**' जैसे दुर्बोध्य तत्त्व की मीमांसा का साहस, किंवा अक्षम्य धृष्टता करली है, जिसका परमान्यताओं से--'**न त्वहं तेषु, ते मयि**' न्याय से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। '**कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः०**' अथर्वसंहिता के इत्यादि सुप्रसिद्ध दोनों कालसूक्तों के--**अश्व, सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर, भूरिरेता, चक्रा, भुवनानि, विश्वा, नाभि, अक्ष, पूर्णकुम्भ, परमव्योम, तप, ज्येष्ठ, ब्रह्म, स्वयम्भू, कश्यप, गन्धर्वाप्सरसः**, आदि आदि अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से ही '**दिग्देश-काल-मीमांसा**'--स्वरूप--संकलन का प्रयास हुआ है।

आठसौ (८००) पृष्ठानुपात से कृतशरीरी इस **चतुर्थखण्ड** में प्रमुखरूप से--**दिग्देशकालानुगत पारिभाषिकप्रकरण**, (२)--**अथर्ववेदीय कालसूक्ताक्षरार्थमात्र--समन्वयप्रकरण**, एवं(३) **दिग्देशकालानुबन्धी आचारात्मक प्रकरण**, रूप से प्रकरणात्मक तीन स्वतन्त्र स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनके स्वरूप--दिग्दर्शन के लिए तदनुगता विस्तृत--विषयसूची ही पर्य्याप्त मान ली जायगी।

उक्त चतुर्थखण्ड के अनन्तर इसी चतुर्थखण्ड का एक **परिशिष्टखण्डात्मक स्वतन्त्र खण्ड** और है, जिस में क्रमशः (१)--**प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा** (**अनुमानतः ३०० पृष्ठों में**), (२)--**योग--क्षेम--**

स्वरूपमीमांसा (अनुमानत: २०० पृष्ठों में), एवं (३) निष्ठा-भावुकतानुगत-लोकसूत्र-स्वरूपमीमांसा (अनुमानत: ३०० पृष्ठों में), ये तीन स्वतन्त्र स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं। प्रास्तविक विस्तृत होता जारहा है। अतः इस अन्तिम परिशिष्टखण्ड की स्तम्भत्रयी के स्तम्भ-नाममात्र पर ही हमें उपरत होजाना चाहिए।

तदित्थं-चार स्वतन्त्र खण्डों में, तथा तीन परिशिष्ट खण्डों में, एवं संकलनधिया ३६०० (तीन हजार छस्सौ) पृष्ठों में-'भारतीय-हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है, और यही इस 'राष्ट्रीय-निबन्ध' का भौतिक-बाह्य-स्वरूप-परिचय है, जिसका तालिकारूपेण निम्न लिखित समन्वय किया जासकता है।

"भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता"

नामक

खण्डचतुष्टयात्मक-उद्बोधक-सामयिक निबन्ध की रूपरेखा

---

(१)-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड (स्तम्भद्वयात्मक)

५०० पृष्ठात्मक
- १-असदाख्यानस्वरूपमीमांसा (प्रथमस्तम्भ) (१)
- २-विश्वस्वरूपमीमांसा (द्वितीयस्तम्भ) (२)

१

—*—

(२)-'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीयखण्ड (स्तम्भद्वयात्मक)

६०० पृष्ठात्मक
- १-निष्ठा-भावुकतास्वरूपमीमांसा (प्रथमस्तम्भ) (३)
- २-मानवस्वरूपमीमांसा (द्वितीयस्तम्भ) (४)

❀-द्वितीयखण्डानुगत-परिशिष्टखण्ड २०० पृष्ठात्मक

मानवकर्त्तव्यस्वरूपमीमांसा'-नामक

२

—*—

(३)-'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश' नामक तृतीयखण्ड
(पञ्चस्तम्भात्मक)

१०० पृष्ठात्मक

१-भारतीय धर्म्म, तथा नीति का स्वरूप परिचय, एवं मुक्त-प्रक्रान्ता राष्ट्रीय--प्रगति का संक्षिप्त इतिहास (प्रथमस्तम्भ) (५)

२-अभिनव स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के उद्बोधनार्थ श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश (द्वितीयस्तम्भ) (६)

३-रक्तक्रान्तिमूलक प्रतीच्य--साम्यवाद, तथा श्वेतक्रान्तिमूलक प्राच्य (भारतीय) साम्यवाद का नीर--क्षीर--विवेक (तृतीयस्तम्भ) (७)

४--श्वेतक्रान्ति का घोषणापत्र (चतुर्थस्तम्भ) (८)

५--पुरातन भारतीय राष्ट्रमानव की चिरन्तना राष्ट्रनिर्म्माण--पद्धति, एवं उसकी अलौकिक, तथा लौकिक कामनाओं का चिरन्तन इतिवृत्त (पञ्चमस्तम्भ) (९)

❀-तृतीयखण्डानुगत परिशिष्टखण्ड ३०० पृष्ठात्मक

*--श्वेतक्रान्तिघोषणामीमांसा

*--स्वतन्त्रराष्ट्रकामनामीमांसा

३

---*---

(४)-'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक चतुर्थखण्ड
(स्तम्भत्रयी से समन्वित)

८०० पृष्ठात्मक

१--दिग्देशकालानुगत पारिभाषिक--स्तम्भ (प्रथमस्तम्भ) (१०)

२--सूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वय--स्तम्भ (द्वितीयस्तम्भ) (११)

३--दिग्देशकालानुबन्धी-आचार--स्तम्भ (तृतीयस्तम्भ) (१२)

ॐ-चतुर्थखण्डानुगत परिशिष्ट--८०० पृष्ठात्मक

*-प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा

*-योगक्षेम-स्वरूप-मीमांसा

*-निष्ठा--भावुकता-सूत्रस्वरूप--मीमांसा

४

——*——

सोऽयं-खण्डचतुष्टयात्मकः-३६०० पृष्ठात्मकः-सामयिक-उद्बोधनात्मकः-

'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'

नामकः

सामयिक--निबन्धः

——*——

१०३--शास्त्रतत्त्वमात्रभक्त विद्वानों का सामयिक परितोष, तत्त्वचिन्तनमूला सर्वनिरपेक्षा चिन्तननिष्ठा की महती उपयोगिता, एवं सर्वनिरपेक्षता ही तच्चिन्तन में सम्भाविता सफलता—

श्रुतिसिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्ववाद के प्रति ही अपनी निष्ठाएँ समर्पित करते रहने वाले शास्त्रमात्रभक्त सांस्कृतिक-विद्वानों के मानस-परितोष के लिए भी उक्त उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के सम्बन्ध में प्रसङ्गधिया किञ्चिदिव निवेदन कर देना हम अत्र अनिवार्य्य मान रहे हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से पराङ्मुख बनते आरहे श्रुतिसिद्ध-ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्व के उपासक साहित्य-सेवी को इस दिशा में आंशिक-सफलता भी उसी अवस्था में उपलब्ध होसकती है, जबकि वह दिग्देशकालानुबन्धिनी न केवल सामाजिकी, राष्ट्रीया, एवं विश्वानुबन्धिनी समा-विषमा-भूत-भौतिकी, तथा समाजनीति-राष्ट्रनीतिलक्षणा राजनीति, विश्वनीतिलक्षणा अन्तर्राष्ट्रीयनीति आदि आदि लोक व्यासङ्गों से ही अपने आपको निरपेक्ष-तटस्थ बनाए रहे, अपितु यथाशक्य अपनी पारिवारिकी-व्यवस्थाओं से भी अपने आपको निरपेक्ष, तथा तटस्थ ही प्रमाणित करता रहे। गुहानिहिता इस ऐकान्तिकी चिन्तन-स्वाध्यायनिष्ठा के माध्यम से ही विलुप्तप्राया, विस्मृतप्राया इस ज्ञानविज्ञानविधि का आंशिक-बोध प्राप्त किया जासकता है।

१०४-पराश्रयमूला भावुकता से ही सांस्कृतिक-निष्ठा से पराङ्मुखता, एवं तत्स्वरूप-विश्लेषण—

अन्यथा पुत्रैषणामूलिका वित्तैषणा के समुत्तेजक पारिवारिक-व्यासङ्ग-व्यामोहन, वित्तैषणा गर्भिता लोकैषणा के समुत्तेजक सामाजिक-व्यामोहन, एवं केवल लोकैषणा के समुत्तेजक राष्ट्रीय, और अन्तर्राष्ट्रीय व्या-

मोहन आजके भयावह लोकलिप्सात्मक युग में क्षणमात्र के लिए भी संस्कृतिनिष्ठ,स्वाध्यायनिष्ठ, साहित्यसेवी को चिन्तनशील नहीं बने रहने देसकते । आज ही नहीं, हम समझते हैं–सदा से ही ज्ञानविज्ञान के इस रहस्य-पूर्ण स्वाध्याय-चिन्तन-क्षेत्र के लिए तो तदुपासक के सम्बन्ध में स्वयं शास्त्र के द्वारा भी गुहानिहितवृत्ति ही प्रमुख बनी रही होगी । तभी तो —'**तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्, तत्-तदेवावक्लृप्तम्**' जैसी विस्पष्टभाषा में ब्रह्म (तत्त्व) के उपासक ब्राह्मण के लिए तो सत्तानिरपेक्षालक्षणा, अतएव सर्वनिरपेक्षात्मिका तटस्थता ही व्यवस्थित हुई है । और यह भी सुनिश्चित है कि. इस माङ्गलिकी व्यवस्था की उपेक्षा करते रहने वाले त्रिसहस्रवार्षिक भारतीय ब्राह्मण की पराश्रयमूला अमुकामुक–सापेक्षताओंनें हीं इस की मूलनिधि से इसे पराङ्मुख ही बनाए रक्खा है । और इसी तथ्य के आधार पर हमें भी अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, स्वाध्यायनिष्ठा के संरक्षणानुबन्ध से हमें भी दिग्देशकालानुबन्धिनी पारिवारिकी–सामाजिकी–राष्ट्रीया, किंवा अन्तर्राष्ट्रीया, आदि आदि किसी भी समस्या के प्रति कदापि आकर्षित नहीं होना चाहिए ।

१०५--जरामर्य्यसत्त्रानुगता हमारी निरपेक्षा साहित्याराधना के सम्बन्ध में विद्वानों से किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन—

अन्तरात्मा को ही साक्षी मानते हुए हम यह निवेदन कर देने में यत्किञ्चित् भी संकोच का अनुभव नहीं कर रहे क, स्वाध्यायकाल से आरम्भ कर वर्त्तमान क्षण पर्य्यन्त की साहित्योपासनावधि में हमने प्रयासपूर्वक ही तथाकथित सभी सापेक्षताओं से आत्मपरित्राण का ही प्रयास प्रक्रान्त-रक्खा है । एवं एकमात्र इसी परित्राण के अनुग्रह से त्रिशत् [३०] वर्षावधि के भुक्त स्वाध्यायकाल में हमने **शतपथ-उपनिषत्-गीता-पुराण-स्मृति-आगम** आदि आदि शास्त्रीय-शब्दों के ही मनन निदिध्यासनादि के चिन्तनपथ का अनुगमन प्रक्रान्त रक्खा है, जिसके परिणामस्वरूप ही इन शब्दों की तन्मौलिक ग्रन्थों के आधार पर ही अशीतिसहस्रपृष्ठात्मिका शब्द-राशि-समन्वित होसकी है । वही सनातनक्रम आज भी प्रक्रान्त है, एवं जरामर्य्यसत्त्रवत् जीवनपर्य्यन्त प्रक्रान्त ही रहेगा । नास्त्यत्र सन्देहलेशावसरः ।

१०६--'उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धों' के सम्बन्ध में सापेक्षता की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

ऐसी स्थिति में—प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से आकर्षितान्तःकरण सांस्कृतिक विद्वान् हमें यह मान लेने के लिए क्या विवश नहीं करसकते कि, "**भारतीय हिन्दू मानव, औ उसकी भावुकता**'—'**श्वेत-क्रान्ति-का महान् सन्देश**'—'**संस्कृति, और सभ्यता का चिरन्तन इतिवृत्त**'—'**भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा**' आदि आदि उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धों की अभिव्यक्ति करते हुए हम समाज-राष्ट्रादि व्यासङ्गों में आसक्त होते हुए अपनी मूल-ज्ञानविज्ञानचिन्तन-निष्ठा से पराङ्मुख ही होते जारहे हैं" ? । सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन इन निबन्धों के-'**सामयिक**'–'**उद्बोधनात्मक**'–'**महान् सन्देश**'–**सांस्कृतिक-आयोजन**'–'**हिन्दू–मानव**'–'**भावुकता**' '**सभ्यता**'-**इतिवृ**.' आदि आदि अभिधानुगत शब्दों के आधार पर ही हमारे अमुक वेदभक्त सहयोगी ऐसा कुछ मान बैठे होंगे कि,-हमने भी दिग्देशकालात्मक-प्रवाह में प्रवाहित होते हुए स्वाध्यायानुगता-ज्ञान-विज्ञान-चिन्तनधारा को जलाञ्जलि समर्पित कर किसी लोकैषणा के, अथवा तो वित्तैषणा के आकर्षण से ही इस प्रावाहिक-पथ को अपना लिया है, इति नु सर्वथा अब्रह्मण्यमेव !

१०७-सांस्कृतिक-अधःपतन के सम्बन्ध में विद्वानों से कतिपय सामयिक-प्रश्न, एवं तदद्द्वारा हमारा निःसीम उत्पीड़न—

क्या समाधान है इस 'अब्रह्मण्यमेव' का ?, इसी प्रश्न के समन्वय के लिए हमें इस अप्रिय, किन्तु अनिवार्य्य प्रसङ्ग का उपक्रम करना पड़ रहा है । श्रुति-स्मृति-पुराणादि-आगमसिद्धा ज्ञानविज्ञाननिष्ठा, एवं तदनुगता तत्त्वमीमांसा के आलोडन-विलोडन में, हम समझते हैं, विगत तीन सहस्रवर्षों में प्रतिभासम्पन्न सुविख्यातनामा भारतीय विद्वानों की ओर से न्यून प्रयास नहीं हुआ है। वेदों की प्रामाण्यनिष्ठा, स्मार्त्त आचारोद्घोष, पौराणिक कथाव्यासङ्ग, आगमीया-तत्त्वानुगति, आदि आदि सभी तो शास्त्रीय क्षेत्र तदवधि में उपास्य रहे हैं विद्वानों के लिए। इन सब वाग्विजृम्भणों के विद्यमान रहते हुए भी क्यों भारतराष्ट्र का पारम्परिक पतन हुआ ?। और आज जैसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतराष्ट्र में तो वह सांस्कृतिक-अधःपतन क्यों चरम सीमा का ही अनुगामी बन गया ?, क्या ये प्रश्न समाहित होसके हैं शास्त्रभक्त विद्वानों के द्वारा ?। क्या शास्त्रने केवल तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त इन अनिवार्य्य प्रश्नों की कोई मीमांसा नहीं की ? । क्या भारतीय श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों का सुसूक्ष्म प्राणात्मक विवर्त्तों से अनुप्राणित केवल मानसिक, अधिक से अधिक बुद्धिवादात्मक बौद्धिक-चिन्तन के अतिरिक्त और कोई आचारात्मक-व्यावहारिक लक्ष्य कभी रहा ही नहीं ?, क्या भारतीय सांस्कृतिक तात्त्विक-शास्त्र के साथ विश्वेश्वर प्रजापति के महिमामय, सत्यं-शिवं-सुन्दरं-लक्षण पाञ्चमहाभौतिक प्रत्यक्षदृष्ट इस विश्व से अनुप्राणिता अभ्युदयसिद्धि के व्यावहारिक प्रकारों से कदापि कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा ?, इन्हीं कतिपय प्रश्नोंनें सहसा हमें उत्पीड़ित कर दिया, जो कि उत्पीडन उत्तरोत्तर निःसीम ही बनता जारहा है भारतराष्ट्र के त्रिसहस्र-वार्षिक पतन को देख सुन कर ।

१०८-केवल तत्त्वभक्त विद्वानों की ही राजन्यवृत्ति, किंवा सत्ताश्रयता का नग्नचित्रण—

निःसन्देह शास्त्र का दार्शनिक पक्ष जहाँ गच्छतः स्खलन-रूपेण भारतीय प्रजा के लिए उक्त अवधि में केवल वाग्विग्लापनरूपेण अनुरञ्जनमात्र का ही साधक बना रहा, वहाँ तदनुगता आचारष्ठिात्मिका कर्त्तव्य-निष्ठा की दृष्टि से शास्त्रैकशरणता का उद्घोष करने वाले सांस्कृतिक विद्वानों की दृष्टि दिग्देशकालानुगता-सत्तासभ्यताओं के द्वारा आविष्कृत काल्पनिक आचाराभासों की ही अनुगमिनी बनती रही, और बनी हुई है आज तो विशेषरूपेण । सहजभाषा में हमें यह स्पष्ट कर देने में भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होरही कि, जिन एतद्देशीय विद्वानोंनें सत्तासापेक्षता से तटस्थ मानने की उच्चघोषणाएँ कीं हैं, वे ही संस्कृति-साहित्य-धर्म्म आदि के व्याज (छल) से तथाविधा सत्तासापेक्षताओं के प्रचण्ड समर्थक बनते हुए शास्त्र की सहजसिद्धा तत्प्रतिनिरपेक्षता का अभिभव ही करते आरहे हैं ।

१०९-शास्त्रतत्त्वमात्रासक्त इन भारतीय विद्वानों की निरपेक्षता का प्रच्छन्न रहस्य, निरपेक्षतानुगता इन की 'राजभक्ति', और ब्रिटिशराज्य के यशोगानकर्त्ता हमारे ये राष्ट्रीय-विद्वान्—

क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य स्पष्ट है । सुनते हैं-ब्रिटिशसत्तातन्त्रयुग में धर्म्मनिष्ठ ? भारतीय विद्वानों की यह प्रचण्ड घोषणा थी कि,-'**हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है**' । उधर तत्सत्तातन्त्र भी-'**ब्रिटिशराज्य**

किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता' इस व्यामोहनात्मिका, सर्वथा प्रतारणात्मिका घोषणा का अनुगामी बना हुआ था। लोकनिष्ठाकुशल ब्रिटिशराज्य की '**धर्म्मनिरपेक्षता**' जहाँ दिग्देशकालिक–व्यामोहनात्मक राजनैतिक–प्रलोभनों, स्वार्थों की तात्कालिकरूपेण संरक्षिका बनती हुई अमुक दृष्टि से कुछ सामायिक अर्थ रखती थी, वहाँ विद्वानों की सत्तानिरपेक्षता–राष्ट्रव्यवस्था-निरपेक्षता, एवं तदनुगता समाजादि निरपेक्षता–आदि के गर्भ में तो प्रचण्डा वैसी '**राजभक्ति**' ही पुष्पित पल्लवित होती रहती थी, जिस के संरक्षण के लिए ही जहाँ तच्छासनयुग में प्रायः भारतराष्ट्र के सभी वर्ग '**राष्ट्रस्वातन्त्र्ययज्ञ**' में येनकेनरूपेण योग प्रदान करना अपना धर्म्म मान रहे थे, वहाँ भारतीय धर्म्म का महान् प्रतिनिधि ? शास्त्रभक्त, सत्तानिरपेक्ष ?, केवल तत्त्वमीमांसक ? हमारा तथाकथित विद्वद्वर्ग तो सामन्तसत्तानुगत ब्रिटिशसत्तातन्त्र के यशोगान में हीं तल्लीन बना हुआ था।

११०–लोक–वित्तैषणा-समन्विता भावुकता से अनुप्राणित विद्वद्वर्ग, एवं केवल निरपेक्ष–तत्त्वचिन्तन के उद्घोषक भी इस वर्ग की तत्त्वनिष्ठा, तथा आचारनिष्ठा से आत्यन्तिक-पराङ्मुखता—

युगधर्म्मानुगता वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के, किंवा लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के, अथवा तो विशुद्धा ही लोकैषणा के गर्त्त में आपाद-मस्तक निमज्जित हमारे देश के इस विद्वद्वर्गने हीं तत्तत्सत्तातन्त्रों की दिग्देश–कालनिबन्धना मान्यताओं को शास्त्र के द्वारा समर्थन प्रदान कर भारतराष्ट्र की तत्त्वानुगता मौलिक-आचारनिष्ठा से राष्ट्रप्रजा को भी पराङ्मुख किया है, एवं सत्तातन्त्रों को भी लक्ष्यच्युत बनाया है। यही इस विद्वद्वर्ग की काल्पनिक निरपेक्षता का वह प्रच्छन्न इतिवृत्त है, जिस के संरक्षण के लिए ही यह वर्ग विगत कतिपय शताब्दियों से केवल '**तत्त्ववाद**' की घोषणा करता हुआ वस्तुगत्या न तो '**तत्त्वसमन्वयनिष्ठा**'-लक्षणा '**तत्त्वमीमांसा**' के चिन्तन से ही कोई सम्बन्ध रख रहा, एवं न तत्त्वानुगता पारम्परिकी आचारनिष्ठा से ही इस का कोई सम्बन्ध।

१११–तात्कालिक लाभ–प्रवर्त्तिका लोकमान्यताओं का महान् पण्डित यह संस्कृतिनिष्ठ ? विद्वद्वर्ग, और इस की अवसरवादिता से अनुप्राणिता- निरपेक्षता, सापेक्षता का ताण्डव—

संस्कृतसाहित्य के सुप्रसिद्ध '**यत्र शाब्दिकाः०**' * इत्यादि आभाणक को चरितार्थ करते रहने वाला यह वर्ग दिग्देशकालनिबन्धन तात्कालिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए आकुल–व्याकुल ही बना रहता है। यथावसर, यथाकाल, परिवार-समाज-राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्रादि अनुबन्धों से अपने आप को सुप्रसिद्ध–'दुग्धधौत' न्यायानुबन्ध से कभी सर्वथा '**निरपेक्ष**' प्रमाणित कर लेता है, तो कभी '**युगधर्म्मों की सगुणप्रतिमा**' हीं बन बैठता है। विगत तीन सहस्र वर्षों से इस की तत्त्वमूला कोई निश्चित आचारनिष्ठा रही ही नहीं।

*–यत्र शाब्दिकास्तत्र तार्किकाः, यत्र तार्किकास्तत्र शाब्दिकाः ।
यत्र नोभयोस्तत्र चोभयोः, यत्र चोभयोस्तत्र नोभयोः ॥

अपितु उक्ता अवधि में यह विविध–भाव–विन्यासों के माध्यम से **अवसरवादी** ही बनता आरहा है। आचारनिष्ठा-शून्या, तत्स्थाने च सामयिक–लाभप्रवर्त्तिका मान्यताएँ हीं इस की आराध्या बनतीं आ रहीं हैं विगत अवधि से, जो कि मान्यताएँ वर्त्तमानयुग में तो अत्यन्त ही उग्ररूप में परिणत हो गईं हैं।

११२–आचारनिष्ठात्मक धर्म्म से पराङ्मुखा ज्ञानविज्ञान--चिन्तन--धारा की आत्यन्तिक निरर्थकता, एवं–'आचारः परमो धर्म्मः' का माङ्गलिक संस्मरण—

युगधर्म्मानुगता **मान्यताओं** को, तदनुप्राणित **'बुद्धिवाद'** को, तत्समर्थक तथाविध ही **मतवादविशेषों** को, तथैव च अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात काल्पनिक **'वाग्विजृम्भणों'** को ही **'शास्त्र'** मानते, और मनवाते रहने वाले अवसरवादी तथोक्त वर्ग के अनुग्रह से ही तो श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रों का ज्ञानविज्ञानात्मक वह आचरपक्ष उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है तीन सहस्र वर्षों से, जिस आचारपक्ष की अभिभूति से ही ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्ववाद भी केवल वाग्विग्लापन ही बन कर परिसमाप्त हो जाता है ÷। तभी तो -- **'आचारः परमो धर्म्मः'** इत्यादि रूप से **'आचार'** को ही परमधर्म्म माना है आर्ष मानवश्रेष्ठोंनें। इस आचारनिष्ठा के सम्बन्ध से ही स्वयं श्रुतिशास्त्रने भी-**'तस्माद्धर्म्मं-परमं वदन्ति'** (शतपथ) इत्यादि रूपेण-आचारात्मक धर्म्म को ही **'परम'** उपाधि प्रदान की है। आचारधर्म्मलक्षण निष्ठात्मक कर्त्तव्यकर्म्म से आत्यन्तिक रूपेण पराःपरावत होजाने वाली वाग्विग्लापनमात्रैकसारा निष्कैवल्या इस तत्त्वचर्चाने हीं तो भारतराष्ट्र को अभ्युदय-निःश्रेयस् पथ से पराङ्मुख किया है उक्त अवधि में। ऋषिप्रज्ञाने निरी ज्ञानविज्ञानचर्चा को ही कदापि सुख-शान्ति-समृद्धि-प्रवर्त्तक अभ्युदय-निःश्रेयस् के प्रति तबतक कारणता प्रदान नहीं की, जबतक कि इस तत्त्वज्ञान, और तदनुगत विज्ञान को आचारात्मक, कर्त्तव्यनिष्ठात्मक **'धर्म्म'** से समन्वित नहीं कर दिया जाता। अतएव **'धर्म्म'** को ही-**'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** इत्यादि रूपेण सर्वसंसाधक माना गया है।

११३–कल्पनाप्रसूत अध्यात्मवाद की भित्ति पर प्रतिष्ठित विद्वद्वर्ग के काल्पनिक सिद्धान्त, एवं तदनुग्रहेणैव अष्टविध उपग्रहों का आविर्भाव—

निष्कैवल्य **ज्ञान**, तथा बुद्धिवाद का परितोषकमात्र ऐकान्तिक **विज्ञान**, इसप्रकार के ज्ञान-विज्ञानाभिनिवेशने हीं भारतीय विद्वत्-प्रज्ञाओं को आचारनिष्ठात्मक धर्म्म से पराङ्मुख किया है। इसी पराङ्मुखताने कालान्तर में इसे अन्ततोगत्वा ज्ञान–विज्ञाननिष्ठा से भी बहिर्भूत ही प्रमाणित कर दिया है। और यों आरम्भ का ज्ञानविज्ञानवादी, किन्तु धर्म्म के (आचार के) प्रति निरपेक्ष बन जाने वाला यही भारतीय विद्वान् अपनी काल्पनिक-आध्यात्मिक-मान्यताओं को ही अपना **'सिद्धान्त'** बनाता हुआ, **अधिदैवत-ब्रह्माण्ड** के आचारनिबन्धन-समस्त-विश्वसौन्दर्य्य से वञ्चित होता हुआ केवल-**'दार्शनिक'** ही बना रह गया है, जिस की इस दार्शनिकताने हीं भारतीय आचारधर्म्म को न केवल अभिभूत ही कर लिया है, अपितु इस महाग्रहग्राहात्मक प्रथम ग्रह के (दर्शन के) आधार पर ही आगे चल कर सर्वविनाशक वैसे मतवादात्मक आठ उपग्रह और उत्पन्न हो पड़े हैं, जिन के मलीमस इतिवृत्त के लिए, एवं इन नवग्रहग्राहों से होने वाली अनिष्ट-परम्पराओं के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही निबन्ध का **द्वितीयखण्ड** उपनिबद्ध हुआ है।

÷ नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

११४-तत्त्वानुगता आचारनिष्ठा का समर्थक-'दिग्देशकालमीमांसा' नामक सामयिक निबन्ध—

आचारधर्म्मों से निरपेक्ष, तटस्थ बन जाने वाली, किंवा आचारधर्म्म से द्रोह कर बैठने वाली दार्शनिक प्रज्ञा मानव में जिस महाभयावह-'बुद्धिवाद' को अभिव्यक्त कर देती है, जिस घोरघोरतम बुद्धिवाद से मानव आचारनिष्ठा का अन्यतम शत्रु बन जाता है, उस बुद्धिवाद के नग्नतम स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही तो हमें प्रस्तुत-'**दिग्देशकालमीमांसा**' का अनुगम करना पड़ा है। जो बुद्धिवाद एकमात्र दिग्देशकालमर्य्यादों को ही अपना प्रधान आलम्बन बना कर केवल बौद्धिक-ज्ञान, विज्ञान के शुष्कतत्त्ववादात्मक, अतएव निष्फलतम वाग्विजृम्भणों का सर्ज्जन करता हुआ, मानव को **संविन्मूला सहजप्रज्ञा** से पराःपरावत करता हुआ इसे अभिनिविष्ट ही बना देता है स्वकाल्पनिकी मान्यताओं में, उसी सर्वविनाशक बुद्धिवाद के स्वरूप-विश्लेषण के लिए दिग्देशकालमीमांसा, एवं विशेषरूपेण इसका-'**दिग्देशकालानुगता आचारमीमांसा**' नामक तृतीय प्रकरण उपनिबद्ध हुआ है।

११५--ज्ञानविज्ञानप्रचारविजृम्भणात्मिका आचारशून्या हमारी प्रचारैषणा, एवं तद्द्वारा ही विगतयुगे स्वाध्यायनिष्ठा--विच्युति—

हमें स्वयं अवनतशिरस्कतापूर्वक यह मान लेना पड़ रहा है कि, अपनी आरम्भ की स्वाध्याय-प्रक्रान्ति में हम स्वयं भी अभिनिवेशमूलक तथोक्त बुद्धिवाद की ही जघन्यतमा उपासना में तल्लीन थे, जिसके परिणाम-स्वरूप, किंवा घोरघोर-तम दुष्परिणाम-स्वरूप ही हमारे अन्तस्तल में भी तद्युग में वही '**प्रचार-व्यामोहन**' जागरूक होपड़ा था, जिस इस प्रचाराभिनिवेशने हीं हमें अनन्तकाल के प्रतीकभूत 'सम्वत्सर' (वर्ष) की अनेक प्रक्रमधाराओं पर्य्यन्त (अनेक वर्षों पर्य्यन्त) इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही प्रमाणित करते हुए तदवधि में स्वाध्यायनिष्ठा से भी पराङ्मुख बनाए रक्खा, एवं आचारभावों से भी सर्वथैव पराःपरावत। आचारशून्या-ज्ञानविज्ञानात्मिका इस प्रचारैषणा से, तदनुगत वाग्विजृम्भण से हमारा कितना, और कैसा अनिष्ट हुआ है ?, इन प्रश्नों की वेदना-परम्पराओं का यथार्थ अनुभव तो मादृश भुक्तभोगी, अथवा तो सर्वसाक्षी हृदयस्थ अन्तर्य्यामी ही कर रहे होंगे।

११६--निष्ठाविच्युतिमूला अन्तर्वेदना, तदनुप्राणिता महती समस्या, एवं तदाधारेणैव निष्ठा-भावुकता--शब्दों के स्वरूपदर्शन से सान्निध्य—

इसी वेदनाने अन्ततोगत्त्वा प्रश्नात्मिका वह महती समस्या समारे सम्मुख उपस्थित कर ही तो दी, जिस समस्या के महान् अनुग्रहने हीं कालान्तर में **निष्ठा**, और **भावुकता**, जैसे रहस्य-पूर्ण शब्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर लिया। एवं इसी आकर्षणानुग्रह से हमें अपनी भ्रान्तिपरम्पराओं का '**स्वरूपबोध**' उपलब्ध हुआ। इसी उपलब्धि के अनुग्रह से उपलब्ध तदनुबन्धी '**भावुकता**' शब्द के चिरन्तनेतिवृत्त के ही स्वरूपदर्शन से हमें उस महती समस्या का आंशिक समाधान भी उपलब्ध होगया, जो समस्या निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र के पारम्परिक-पतन-का कारण बनती चली आरही है। इसी उपलब्धि को शब्दद्वारा संकलित करने का संकल्प जागरूक हुआ, और वही संकल्प प्रज्ञानब्रह्मानुग्रह से मूर्त्तरूप में परिणत होता हुआ निबन्धरूपेण अत्यन्त प्रणतभाव से राष्ट्रप्रजा के प्रति आज समर्पित हो रहा है।

११७--चिन्तनशील स्वाध्यायनिष्ठ वर्ग से अनुगत हमारा मूलसाहित्य, तथा युगधर्म्मानुगत वर्ग से अनुगत तूलसाहित्य—

प्रस्तुत सामयिक निबन्ध से कदापि ज्ञानविज्ञाननिष्ठ सांस्कृतिक विद्वानों को इस आपातरमणीया भ्रान्ति का अनुगामी नहीं बन जाना चाहिए कि, इन **सामयिक-निबन्धों** में श्रुतिसिद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूप-विश्लेषण से अन्यथा ही किसी काल्पनिक-मतवाद का हम सर्ज्जन करने जारहे हैं। अपितु इसके सम्बन्ध में तो हमारी धारणात्मिका न केल ऐसी मान्यता ही है, अपितु संविन्मूला दृढतमा श्रद्धासमन्विता यह आस्था ही है कि, अनेक शताब्दियों से अन्तर्म्मुखा, अतएव निरतिशयरूपेण गहन-गम्भीरतमा, अतएव च आत्यन्तिकरूपेणैव दुर्बोध्या ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषण से अनुप्राणित, अतएव अत्यन्त विस्तृत **शतपथब्राह्मणभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, शारीरिकभाष्य,** आदि आदि प्रधान-मौलिक-साहित्य के अनुशीलन से निरपेक्ष, तटस्थ बन जाने वाली, त्रिसहस्रवर्षावधि की आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक-दासताओं से उत्तरोत्तर स्वरूप-विमुख ही बनती रहने वाली दिग्देशकालव्यामुग्धा भारतीय प्रजा के उद्बोधन के लिए तो आज वे **सामयिक-निबन्ध** ही अनुरूप प्रमाणित होंगे, जिनमें संक्षेप से उपलालनात्मक-अनुरञ्जन-भावों के माध्यम से भारतीय-तत्त्ववादमूला ज्ञानविज्ञानात्मिका **संस्कृति,** तन्मूलक **सांस्कृतिक-आचार,** एवं तदनुप्राणित **सांस्कृतिक-आयोजन,** आदि आदि सभी भारतीय-विभूतियों का आंशिक स्वरूप-समन्वय सम्भावित होगा।

११८--तूलसाहित्यात्मक उद्बोधनात्मक लोकसाहित्य की श्रुतिमूला तत्त्वप्रतिष्ठानुगति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-निष्ठा-संरक्षणोपायावलम्बन—

इन उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्धों में निरूपित विषयों का किसी भी अर्वाचीना काल्पनिकी मान्यता से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु मन्त्रसंहिताभाग के कतिपय सूक्त, ब्राह्मणसाहित्य के सृष्टिविज्ञानप्रतिपादक सन्दर्भ, उपनिषदों से अनुप्राणित ब्रह्मविज्ञानानुगत स्थलविशेष, स्मृतिशास्त्रोपबृंहित आचारसूत्र, आर्य्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र से अनुप्राणित तात्त्विक-आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्प, डामर, जामल, दगार्गल, ज्योतिष्चक्र (खगोल), भुवनकोश (भूगोल), मन्वन्तर, सर्ग, प्रतिसर्ग, आदि आदि रहस्यपूर्ण विषय, आगमशास्त्रीय षड्विध--आम्नाय, आदि आदि के आधार पर ही नैबन्धिक-विषयों के स्वरूप-समन्वय की चेष्टा हुई है। प्रत्यक्ष-प्रमाणन के लिए निबन्ध का प्रस्तुत चतुर्थखण्ड ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

११९--प्रस्तुत--"राष्ट्रीय-साहित्य' का द्विधा वर्गीकरण, और उसकी स्वरूपदिशा—

तदित्थं-**मौलिकसाहित्य,** तथा **सामयिक-साहित्य,** रूप से हमने इस **राष्ट्रीय-साहित्य,** किंवा **विश्वसाहित्य** का द्विधा वर्गीकरणमात्र कर दिया है, **विस्तार,** तथा **संक्षेप**-भावद्वयी के अनुबन्ध से। **मूलसाहित्य अशीतिसहस्र पृष्ठों में, तथा तूलसाहित्य [सामयिक साहित्य] पञ्चसहस्र पृष्ठों में अद्यावधि सम्पन्न हुआ है।** जिस वर्गविशेषात्मिका सांस्कृतिक-प्रज्ञा के जीवन का लक्ष्य ही चिन्तन-मनन-स्वाध्याय है, गुहानिहित उन स्वाध्यायनिष्ठ व्यक्तिविशेषों के अनुरञ्जन से ही **'मूलसाहित्य'** का सम्बन्ध है।

अस्मदादि सामान्य प्रजावर्ग कदापि इत्थंभूता अनन्या स्वाध्यायनिष्ठा का अनुगामी नहीं बन सकता, विशेषतः संस्कृति, धर्म्म-निरपेक्ष, दिग्देशकालविमोहनात्मक प्रक्रान्त युग में। दूसरा **'तूलसाहित्य'** ही अस्मच्छ्दृश-बाह्यप्रकृतिपरायण महानुभावों का सर्वात्मना नहीं, तो आंशिकरूपेण तो परितोष कर ही सकता है, निश्चयेन करेगा ही।

१२०-वर्त्तमान मानव का 'उपयोगिता' मूलक महान् व्यामोहन, भारतीय- संस्कृति के सम्बन्ध में जनतन्त्रप्रेमी आज के मानव के भावुकतापूर्ण उद्गार, और हमारी स्तब्धता—

तथोपलब्धि से सम्बन्ध रखने वाली हमारी तथाविधा निश्चयात्मिका भावना के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत प्रास्ताविक में किञ्चिदिव आवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। वर्त्तमानयुग की सर्वमूर्द्धन्या एक विशेष प्रवृत्ति-**'समय'-'उपयोगिता'-'उपादेयता'--'आवश्यकता'** आदि आदि कतिपय भावुकतापूर्ण अनुबन्धों से सर्वात्मना समन्विता है। सर्वसामान्य की कौन कहे, जो प्रज्ञाएँ भारतीय शास्त्र पर, तत्संस्कृति, तत्परम्पराओं के प्रति आस्था-श्रद्धा रखने वालीं हैं, जिह्नोंने अपनी वयस्कता में तथाविध सांस्कृतिक-रचनाओं के माध्यम से अपनी इस आस्था को मूर्त्तरूप प्रदान किया है, दशाबर्षात्मक-भुक्त-प्रक्रान्त-आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रयुग में वे सन्निष्ठ--प्रज्ञाएँ भीं इसी आपातरमणीया **'उपयोगिता'** जैसे महान् अम्ब, महान् यत्त की अनुगामिनीं प्रमाणित होगई हैं। जब उन के श्रीमुख से भी कार्णाकर्णिपरम्परया हमें यह श्रुति उपलब्ध होती है कि-**'वर्त्तमानयुग में परात्पर-अव्यय-अक्षर-महदुक्थ-वैराजिक-ब्रह्मोद्य-ब्रह्म-उक्थामद-परिमर-आदि आदि की चर्चा से क्या-लाभ, क्या उपयोगिता जनजीवन में इन की ?''** तो हम सर्वथा स्तब्ध ही बने रह जाते हैं।

१२१-'उपयोगिता' के काल्पनिक विजृम्भण का स्वरूप-दिग्दर्शन, निष्कारणभाव--निबन्धना भारतीय-संस्कृति, एवं तन्मूलक स्वधर्म्मात्मक भारतीय कर्त्तव्यकर्म्म की निष्कारणता का दिग्दर्शन--

नितान्त भावुकतापूर्ण इस काल्पनिक-**'उपयोगितावाद'** का एकमात्र जनक दिग्देशकालव्यामोहन ही माना गया है, जो आज की ही घटना नहीं है। अपितु सदा से ही तथाविधा भावुकप्रज्ञाएँ इसी **'उपयोगितावाद'** के व्यामोहन से व्यामुग्धा बनतीं हुईं अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधिका इस सांस्कृतिक-निधि से वञ्चित होतीं रहीं हैं, जैसा कि देवयुगीय अमुक इतिवृत्त के-**'अश्रद्धा वै मनुष्यान् विवेद। किंकाम्या यजेमहि'** इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। ज्ञान-विज्ञान-पाथोधि-तलस्पर्शी, विदित -वेदितव्य, अधिगत-याथातथ्य, इस राष्ट्र के महामहर्षि बहिर्मुख मानव की भावुकतापूर्णा कारणतामूला इस उपयोगिता से सर्वात्मना सुपरिचित थे। अतएव इस सांस्कृतिक-निधि के अनन्योपासक ब्राह्मण के लिए आरम्भ में हीं उह्नोंने यह विधान बना देना विस्मृत नहीं किया कि,-**'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'**। उद्बोधनात्मक इस महान् आदेश का-**'निष्कारणम्'** शब्द पूर्वोपात्त-**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** इस श्रौत उद्बोधनसूत्र का ही रूपान्तर है। ऋषिप्रदिष्ट, एवं अपौरुषेय वेदशास्त्रसिद्ध इसी तथ्य का एतद्देशीया स्मार्त्ती

उपनिषत् (गीता) के द्वारा–'**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' इस माङ्गलिकसूत्र से स्वरूपोपबृंहण हुआ है।

१२२–मानव की-'मानव' उपाधि के सम्बन्ध में मानव की सहज जिज्ञासा, एवं बुद्धि-मनः-शरीर-अनुबन्धत्रयी के माध्यम से 'मानव' स्वरूपान्वेषण-प्रयास, तथा तन्निष्फलता—

दैनंदिनीय अशन–पान–गमन–हसन–नर्त्तन–वादन–आदि आदि प्रत्यक्षतम भूत–भौतिक–अनुबन्धों को ही '**मानवजीवन**' की '**उपयोगिता**' का एकमात्र मापदण्ड मानते रहने वाले विशुद्धतम भूताविष्ट भूतवादी मानव को तो '**मानव**' अभिधा से भी समन्वित नहीं किया जासकता, नहीं हीं किया गया सम्भवतः विश्व के किसी भी मानवीय सुसंस्कृत–सुसभ्य–मानवीय क्षेत्र में। निबन्ध के '**मानवस्वरूपमीमांसा**' नामक द्वितीय खण्ड में विशदरूपेण यह स्पष्ट किया गया है कि, प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक '**शरीर**' का नाम कदापि मानव नहीं हैं। क्योंकि पाञ्चभौतिक–'शरीर' नामक प्रत्यक्षदृष्ट भूतपिण्ड से कृतशरीगी लोष्ट–पाषाण–धातु–वृक्ष–वनौषधि–आदि आदि असंज्ञजीवात्मक जड़पदार्थ किसी भी देश के '**मानव** 'के लिए–'**मानव**' उपाधि से समलङ्कृत होते देखे सुने नहीं गए। नापि इन्द्रियाधिष्ठाता, **सर्वेन्द्रिय**, अतएव **अनिन्द्रिय** नामक '**प्रज्ञान**' नामक चान्द्रमन को इसीलिए '**मानव**' उपाधि नहीं दी जासकती कि, कृमि, कीट, काक, गिद्ध आदि पक्षी, रासभ उष्ट्र–आदि पशु, आदि आदि सेन्द्रिय–समनस्क (किन्तु बुद्धि से अनभिव्यक्त) प्राणियों को भी किसी भी कोशकार ने-'**मानव**' अभिधा से समन्वित नहीं किया। तथैव च शुक–पिकादि–पक्षी–विशेष, अश्व-गजादि पशु–विशेष उन बुद्धिजीवी विशेष प्राणियों को भी '**मानव**' संज्ञा से किसी ने भी समलङ्कृत नहीं किया, जो शरीर और मन के साथ साथ लोकबुद्धि के भी सत्पात्र प्रमाणित होरहे हैं।

१२३–दृष्टिमूला सृष्टिबिन्दु के माध्यम से मानवस्वरूपान्वेषण-प्रयास, एवं तद्द्वारा बुद्धि–मनः–शरीरत्रयी से अतीत गुह्यब्रह्मात्मक 'मानव' स्वरूप के दर्शन—

यही वह दृष्टिमूला सृष्टिबिन्दु है, जिसने मानव को सर्वथा परोक्ष उस '**मानव**' स्वरूप की ओर आकर्षित किया है, जिस अत्यन्त दुरधिगम्य '**मानवस्वरूप**' के स्वरूप–दिग्दर्शन के लिए हमें एक स्वतन्त्र खण्ड का ही आश्रय लेना पड़ा है। वह ऐसा कौन सा सुगुप्ततम, शरीर–इन्द्रिय–मनो–बुद्धि से अतीत गुह्यब्रह्म (रहस्यपूर्ण तत्त्व) है, जिसने केवल शरीरधर्म्मा जड़पदार्थों से, शरीर–मनोधर्म्मा सामान्य प्राणियों से, तथा शरीर-मनो-बुद्धिधर्म्मा विशेष प्राणियों से अमुक प्राणी को पृथक् प्रमाणित करते हुए उसे-'**मानव**' अभिधा से समन्वित कर रक्खा है ?, इस प्रश्न का जो भी गुह्यब्रह्मात्मक समाधान है, वही '**मानव**' की स्वरूप–व्याख्या है, जिस की इस सर्वोत्कृष्टता, गुह्यता के अनुबन्ध से ही पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपङ्कज से ये ही रहस्यपूर्ण उद्गार विनिःसृत होपड़े हैं कि—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि–नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'।

—महाभारते

१२४–बुद्ध्यनुगता 'विद्वत्ता', मनोऽनुगता 'प्राज्ञता', एवं शरीरानुगता 'स्वस्थता' से अतीता विलक्षणा 'मानवता', एवं तन्निबन्धन प्राणी का ही 'मानवत्त्व'—

दृढ़तम, अतएव स्वस्थतम बलिष्ठ, तथा आयामादि भावान्वित (लम्बा–चौड़ा) शरीर कदापि 'मानव' की 'मानवता' का मापदण्ड नहीं है। तथैव मनोनिबन्धन मानसिक यच्चयावत् कला–कौशलों में पारङ्गत मनोधर्म्मा मानव भी इस मापदण्ड से असंस्पृष्ट ही बना रह जाता है। तथैव च बुद्धिगम्य, किंवा बुद्धिवादात्मक तत्त्वविजृम्भणों का पर-पारदर्शी धुरन्धर विद्वान् भी इस मापदण्ड से पृथक् ही रह जाता है। सहज भाषानुसार यदि कोई मानव शरीर, मन, बुद्धि, इन तीनों तन्त्रों से सर्वात्मना अभिव्यक्त, अतएव स्वास्थ, मनीषी, तथा बुद्धिमान् विद्वान् भी है, तब भी भारतीय पारिभाषिकी 'मानवता' से तबतक उस की यह स्वास्थता, प्रज्ञाशीलता, तथा बुद्धिमत्ता विद्वता समन्वित नहीं मानी जासकती, जबतक कि इन तीनों से अतीत किसी विलक्षणा 'मानवता' से सम्बन्ध रखने वाले विलक्षण ही 'तत्त्व विशेष' की अभिव्यक्ति के साथ इस मानवशरीरी का सहजसिद्ध भी अन्तर्य्याम सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं होजाता।

१२५–बुद्धिप्रतिष्ठात्मक कालात्मक सूर्य्य, मनःप्रतिष्ठात्मक दिगात्मक चन्द्रमा, एवं शरीरप्रतिष्ठात्मक देशात्मक भूपिण्ड, एवं तीनों विवर्त्तों का केवल 'प्रकृति' पर ही अवसान—

पाञ्चभौतिक शरीर का उक्थ (प्रभव), ब्रह्म (प्रतिष्ठा), साम (परायण) ही भारतीय विज्ञानकाण्ड में 'पार्थिव–विवर्त्त' माना गया है। भूपिण्ड ही मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का अधिष्ठाता है। और इसी को–'देश' कहा गया है। प्रज्ञा–प्राणात्मक, सर्वेन्द्रिय नामक सौम्य मन का उक्थ–ब्रह्म–साम भार्गवसोममय चन्द्रमा माना गया है * । चन्द्रमा हीं–'अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनुसार आप्य–छन्दोरूप-दिग्भाव है। एवं यही-'दिक्' है। धिषणा, प्राणमयी बुद्धि का सर्वस्व सावत्राग्निमय सूर्य्य है। यही सम्वत्सर का प्रवर्त्तक बनता हुआ–'काल' है। कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, तथा देशात्मक भूपिण्ड, ये तीन हीं प्राकृतिक विवर्त्त क्रमशः बुद्धि, मन, और शरीर के आरम्भक बने हुए हैं, यही निवेदन-निष्कर्ष है।

१२६–दिग् देश-कालातीत, सौरब्रह्माण्डातीत, महद्ब्रह्मगर्भित, मनुर्लक्षण अव्ययात्म-ब्रह्म, तदनुप्राणित 'मानव', और मानव का लोकोत्तर-स्वरूप—

क्या सौरब्रह्माण्ड पर ही विश्वानुबन्धी तत्त्ववाद परिसमाप्त है ?। नहीं। सौरब्रह्माण्ड तो महाविश्व की महामहिमा के समतुलन में बिन्दुमात्र ही माना गया है भारतीय विज्ञानकाण्ड में। अतएव च पुराणशास्त्र

---

*–एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः । चन्द्रमा मनसो जातः । मनश्चन्द्रेण लीयते । अन्नमयं हि सौम्य मनः । (श्रुतयः) ।

ने समस्त सौरब्रह्माण्ड की आपोमय--भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति सरस्वान्--समुद्र के समतुलन में वही सत्ता मानी है, जो कि सत्ता प्रत्यक्ष-दृष्ट-पार्थिव समुद्र में एक बुद्बुद् की है । अतएव स्वयं मन्त्रसंहिताने-'**द्रप्सस्चस्कन्द**' (ऋक्संहिता) रूपेण सौरब्रह्माण्ड को उस पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म का एक ÷ '**द्रप्स**' ही माना है । मानव के बुद्धिवाद से सम्बन्ध रखने वाली दिग्देशकालत्रयी इसी **भूः-चान्द्र-सूर्य्य**-समष्ट्यात्मक तथोक्त बिन्दुभावमात्र पर ही परिसमाप्त है । इस दिग्देशकालत्रयी को, भूः--चन्द्रमा-सूर्य्य-रूप समस्त सौर ब्रह्माण्ड को जो तत्त्व अपने एकांश (यत्किञ्चिदंश) में निमज्जित किए हुए है, दिग्देशकालव्याप्त, किन्तु दिग्देशकालातीत, सर्वातीत, सर्वरूप महद्गर्भान्वित वही रहस्यपूर्ण तत्त्वविशेष वह '**तुरीय**' (चतुर्थ) '**अव्ययात्मब्रह्म**' है, जो अपने '**श्वोवसीयस्**'--नामक--काममय--मनोभाव से '**मनुर्म्मय**' प्रमाणित होरहा है । विश्वकेन्द्रस्थ, विश्वाध्यक्ष, विश्वातीत यही '**आत्ममनु**' ('**अव्ययात्मब्रह्म**')अमुक प्राणी की--'**मानव**' अभिधा की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । आत्ममनु हीं मानव की '**मानवता**' का एकमात्र मापदण्ड है, जो आत्ममनु मानवेतर समस्त विवर्त्तों में जहाँ '**अर्क**' (रश्मि) रूप से प्रतिष्ठित है, वहाँ मानव में वही स्वतन्त्र--'उक्थ' रूप से, अपने परिपूर्ण स्वरूप से अभिव्यक्त होरहा है, जिस इस गहनतम गुह्यतम '**मानवब्रह्म**' के स्वरूप-दर्शन पाठकों को निबन्ध के द्वितीयखण्ड में हीं होसकेंगे ।

१२७- पार्थिव शरीर, चान्द्र मन, सौरी बुद्धि, तथा दिग्-देश-कालातीत आत्मब्रह्म, एवं तन्निबन्धन सर्गों के सर्वथा विभिन्न चार श्रेणिविभाग, और तदनुगत मानवीय--वचन--समन्वय--

प्रकृत में उक्त तथ्य के माध्यम से यही निवेदनीय है कि, मानव की उपयोगिता, अनुपयोगिता की मीमांसा कदापि मानवीय बुद्धि--मनः-शरीर--नामक काल-दिक्-देश--भावों के माध्यम से ही सर्वाङ्गीण नहीं बन जाया करती । जबतक मानव अपने शाश्वतब्रह्मलक्षण मनुरूप श्वोवसीयस्मनो नामक अव्ययात्म--ब्रह्मरूप मानवभाव की स्वानुगता अभिव्यक्ति का अनुगामी नहीं बन जाता, सहज भाषानुसार जबतक यह आत्मनिष्ठ नहीं बन जाता, तबतक कदापि इस के **कालात्मक, दिगात्मक,** तथा **देशात्मक बुद्धिः--मनः--शरीर**--तन्त्र आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वमूला '**मानव**' अभिधा को अन्वर्थ नही हीं प्रमाणित करसकते । अव--श्य ही उस अवस्था में मानव मनुनिर्बन्धना स्वात्मकेन्द्रप्रतिष्ठा से पराङ्मुख बना रहता हुआ **बुद्धिजीवी, मनोजीवी,** एवं **शरीरजीवी**, एवं पूर्वोक्त प्राणियों, भूतों में से ही किसी के प्राकृत-पथ का अनुगामी बनता हुआ प्राकृत-पशु-पक्षी-आदि की सृष्टि को ही समलङ्कृत किया करता है । मानव के तथोक्त आत्मभाव-निबन्धन गुह्यतम '**मानवस्वरूप**' के आधार पर ही मानवधर्म्म--व्यवस्थापक भगवान् मनुने भी पूर्वोक्त श्रेणिवि--भाग का समन्वय किया है । एवं तदाधारेणैव उन्होंने भी शरीरधर्म्मा भौतिकपदाथ, शरीरमनो--धर्म्मा सामान्य प्राणी, तथा शरीर-मनो-बुद्धिधर्म्मा विशेषप्राणी, एवं आत्मनिष्ठ **मानव**, ये चार प्रधान वर्ग व्यवस्थित करते हुए ही मानव की सर्वापेक्षया श्रेष्ठता स्थापित की है, जैसा कि--'**भूतानां प्राणिनः**

÷ छोटी छोटी बिन्दुएँ '**पृषत्**' हैं, सामान्यबिन्दु '**बिन्दु**' है । एवं स्थूलबिन्दु ही--'**द्रप्स**' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि हमारी (राजस्थानी) प्रान्तीय--भाषा में--'**टपका**' नाम से प्रसिद्ध है ।

श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः' (मनुः * १।९६।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है, जिस की कि विशद व्याख्या द्वितीय खण्डे--एव द्रष्टव्या ।

१२८–केवल शरीर-मनो–बुद्धि–धर्म्मा पश्वादि प्राणियों की प्राकृत–उपयोगिता के अनुबन्ध से मानव की उपयोगिता से समतुलित–'भाव' का चित्रण—

हाँ, तो हमने यह देखा कि, मानव केवल बुद्धि–मनः–शरीर–धर्म्मा ही नहीं है । अपितु ये तीनों तन्त्र तो मानव, तथा मानवेतर सभी प्राणियों में समतुलित हैं। और इस दृष्टि से तो मानव के लिए दिग्देशकालातीत, अचिन्त्य, ज्ञानविज्ञानात्मक किसी भी रहस्यबोध की, तत्समन्वय की, तदाचरण की उसीप्रकार कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसेकि मानवेतर वर्गों के लिए इन सब–सांस्कृतिक–ज्ञानविज्ञानात्मक–तथ्यों की कोई भी उपयोगिता नहीं है । अपितु **परात्पर--अव्यय--अक्षर--यज्ञ–तप--दान--इष्ट--आपूर्त्त-दत्त–आदि** आदि किसी भी शास्त्रीय तथ्य की किसी भी उपयोगिता–अनुपयोगिता से कोई भी सम्पर्क न रखते हुए भी यावदायुर्भोगपर्य्यन्त ये सभी मानवेतर प्राणी–वर्ग खाते–पीते–हँसते–खेलते–नाचते–कूदते–रोते–विलखते–यथाप्रकृति अपना प्राकृत–जीवन समाप्त कर ही तो लेते हैं ।

१२९--भूत–भविष्यत् के सदसत् परिणामों से तटस्थ–निरपेक्ष–मानवेतर प्राणीवर्ग की केवल वर्त्तमानोपयोगिता, एवं तद्विमोहनासक्त जनतन्त्रवादी वर्त्तमानोपयोगितावादी आज का मानव—

सचमुच महद्भाग्य ही माना जायगा इन प्राणियों का कि, न तो इन्हें कभी **भूत** की ही कोई चिन्ता रहती, न **भविष्यत्** की चिन्ता से ही ये कभी व्यग्र बनते, एवं न इन्हें कभी अपने सहजसिद्ध प्राकृत-ज्ञानशिक्षण के लिए किन्हीं नितान्त-अनुपयोगी स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-निदिध्यासनादि विजृम्भणों का ही अनुगामी बनना पड़ता । और यों स्वच्छन्दरूपेण सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र की बने रहने वाले, यथाकाम–यथाभोग-परायण–कुशल ये पश्वादि महा–भाग सचमुच उस मानव को महामूर्ख ही मानते रहते होंगे अपने मनोराज्य में, जो कि मूर्खमानव भौतिक–वर्त्तमान–जीवन की प्रत्यक्षसिद्धा–मूर्त्ता–व्यक्ता–दिग्देशकालनिबन्धना–अशनपानपरायणात्मिका काम–भोग–रति जैसे महतोमहीयान् ? उपयोगी ? तथ्यों की यदा कदा उपेक्षा कर··········इत्यालप्यालमेव ।

१३०–बुद्धि–मनः–शरीर–लक्षण सत्यं–शिवं–सुन्दरं–रूप आचारात्मक, दिग्देशकालात्मक विश्वसौन्दर्य्य का प्रतिद्वन्द्वी काल्पनिक आत्मवादी दार्शनिक मानव, और तन्निबन्धना क्षणिक–दुःख–शून्य-भावनिबन्धना काल्पनिक-उययोगिता—

क्या इस का यह तात्पर्य्य है कि, शाश्वतब्रह्मात्मलक्षण मनु के सम्बन्ध से ही **'मानव'** अभिधा के अधिकारी बने रहने वाले आत्मनिष्ठ मानव के लिए **सौर** बुद्धितन्त्र, और तदनुगत काल, चान्द्र-मनस्तन्त्र,

---

* केवल–शरीरधर्म्मयुक्तानि भूतानि प्रथमस्थाने प्रतिष्ठितानि । तदपेक्षया मनःशरीरधर्म्मान्विताः-प्राणिनः श्रेष्ठाः सामान्याः । तदपेक्षया च मनःशरीरबुद्ध्युपजीविनो विशेषप्राणिनः श्रेष्ठाः । तदपेक्षाया, सर्वापेक्षया वा शरीर-मनो-बुद्धि-समन्विताः-आत्मनिष्ठा मानवा एव--श्रेष्ठाः ।

और तदनुबन्धिनी दिक्, तथा पार्थिव शरीरतन्त्र, और तदनुबन्धी देश, भावों की कोई भी उपगिता नहीं है ? । आज तो इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर-'**ओमित्येत्**' (**हाँ, कोई उपयोग नहीं**) इसी रूप से इसलिए दिया जासकेगा कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से प्रक्रान्ता, आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा-शून्या, तत्त्वमीमांसात्मिका, केवल वाग्विजृम्भणलक्षणा दार्शनिकता के निविड़तम, घोरघोरतम मलीमस वारुण-पाश से आबद्धा सुबद्धा भारतीया आस्तिकप्रजा भी कालसाक्षीभूत, अतएव कालात्मक, '**हिरण्य**' नामक सौरसम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित '**सत्यभाव**' से, दिक्साक्षीभूत, अतएव दिगात्मक, '**परिप्लव**' नामक चान्द्र-सम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित '**शिवभाव**' से, एवं देशसाक्षीभूत, अतएव देशात्मक, '**इलान्द**' नामक पार्थिव-सम्वत्सरमण्डल से अनुप्राणित '**सुन्दरभाव**' से, '**रोदसीब्रह्माण्ड**' नामक त्रैलोक्य के-**सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डात्मक सत्यं-शिवं-सुन्दरं**-लक्षण विश्व के सहज सत्य-शिव-सुन्दर-भावों से सर्वथैव पराङ्मुखा बनती हुई, तत्स्थाने च विश्वातीत, दिग्देशकालातीत '**आत्मब्रह्म**' नामक किसी अचिन्त्य-'**आत्मतत्त्व**' के प्रति ही अपनी भावुकताएँ समर्पित करती हुई, अनात्मवादी काल्पनिक मतवादों की हीं भाँति इस सनातन विश्वसत्य को क्षणिकं,-क्षणिकं, अतएव **शून्यं-शून्यं**, अतएव च दुःखं-दुःखं, अतएव च **स्वलक्षणं-स्वलक्षणं** ही घोषित करती हुई **शरीर-मनो**-बुद्धि भावों से, एवं तदनुगत **अर्थ-काम-धर्म्म**-भावों से आत्यन्तिक रूपेणैव पराः-परावता ही प्रमाणित होगई है ।

१३१-काल्पनिक जगन्मिथ्यात्ववादमूला काल्पनिकी आत्मभावना, तन्निग्रहेणैव भारतीय-आचारनिष्ठा-परम्परा का त्रिसहस्रवर्षात्मक अभिभव, एवं विद्या, तथा अविद्या से सम्बन्ध रखने वाले द्विविध तमोभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

जगन्मिथ्यात्ववादी, आचारशून्य दार्शनिकों की महती अनुकम्पा ! से, एवं तदाधारेणैव आविर्भूत-तिरोभूत उन सन्त-साधु-आदि महाभागों के नितान्त भावुकतापूर्ण-'**जग भूँठा रे साधो-भूँठा**' इत्यादि अनर्गल प्रलापों से प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से आकर्षिता भारतीय प्रजा सचमुच अपने **बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आचारों, प्रकृतिसिद्ध सनातन-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठाओं** को जलाञ्जलि समर्पित करती हुई विगत तीन सहस्र वर्षों से आचारशून्या केवल '**आत्मभावना**' का ही शून्यतम वैसा उद्घोष ही करती चली आरही है, जिस इस काल्पनिक उद्घोष के बल पर ही आततायी-आक्रान्ता वर्गों के द्वारा तथोक्ता अवधि में इसकी **बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक-विभूतियों** का उत्तरोत्तर अपहरण ही होता आरहा है । जिसप्रकार दिग्देशकालातीता आत्मप्रतिष्ठा को अवलम्ब बनाए बिना दिग्देशकालात्मिका आचारनिष्ठा अनाचाररूपा अन्धतमोलक्षणा बनती हुई केवल '**अविद्या**' ही बनी रह जाती है, तथैव विश्वानुगता आचारनिष्ठा के बिना विश्वातीता आत्मनिष्ठा तो तदपेक्षया भी कहीं अधिकरूपेण तमोभावानुगता ही मानी गई है ऋषिदृष्टि में * ।

***-अन्धं तमः प्रविशन्ति, ये-अविद्यामुपासते ।**
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
—यजुःसंहिता, तथा ईशोपनिषत्

१३२–आत्मनिष्ठावञ्चित, दिग्देशकालविमूढ उपयोगितावादी मानवों की 'उपयोगिता' का पशुजगत्समतुलित सम्पूर्ण इतिवृत्त, एवं तत्प्रति–सांस्कृतिक–मानवश्रेष्ठ की तटस्थता—

इत्थंभूता, जगन्मिथ्यात्त्वमूला, अतएव च क्षणिक-शून्य-दुःख-स्वलक्षणात्मिका काल्पनिकी 'आत्म-मान्यता' (भावुकता) की अनुगामिनी त्रिसहस्त्रवर्षवयस्का भारतीय–प्रजा की दृष्टि में तो सचमुच बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक आचारभावों की कोई भी उपयोगिता उसीप्रकार नहीं है, जैसे कि दिग्देशकालविमूढ, अत–एव बुद्धि–मनः–शरीरविमूढ, अनात्मवादी आहारविहारमात्रपरायण, यथाजात, प्राकृत, अतएव पशुसमान–धर्म्मा मानवों की दृष्टि में दिग्देशकालातीत, आत्मानुबन्धी सनातन **ज्ञान-विज्ञान-भावों** की, तदनुगता **संस्कृति** की, तन्मूलक शास्त्रीय–**सांस्कृतिक–आचारों** की, तथा तदनुप्राणित व्रतोत्सवपर्वादि **सांस्कृतिक–आयोजनों** की, आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक–विभूतियों की न पुरायुगों में कोई उपयोगिता रही, न आज ही कोई उपयोगिता है। अतएव इत्थंभूत जो महानुभाव भारतीया इस सनातन-सांस्कृतिक-निधि को आहारविहारमात्रानु–बन्ध से यदि जनजीवन के लिए अनुपयोगी मान रहे हैं, एवं तदपेक्षया ही यदि वे इस भारतीया मूलनिधि के प्रति सर्वात्मना अपने आपको निरपेक्ष–तटस्थ मानते, और बलपूर्वक मनवाते रहने मात्र को ही अपने जीवन की महती उपयोगिता अनुभूत करते जारहे हैं, तो उन महानुभावों के सम्बन्ध में कुछ भी न कहना हीं श्रेयः–पन्था है ÷ ।

१३३–सहजसिद्ध मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीरा–त्मक चतुष्पर्वा स्वरूप का दिग्-दर्शन, एवं तत्स्वरूप–माध्यम से ही मानव के उपयोगी–अनुपयोगी–भावों का सम्भावित–प्रयास—

इयं हि वस्तुस्थितिः । न तो जड़–भौतिक–पिण्डों की भाँति केवल **'शरीर'** का ही नाम **'मानव'** है। न शरीर–मनो–जीवी सामान्य पश्वादि प्राणियों की भाँति केवल **'मन'** का ही नाम मानव है। नापि शरीर-मनो–बुद्धि–जीवी विशेष–प्राणियों की भाँति केवल **'बुद्धि'** का ही नाम मानव है। एवं नापि इन तीनों तन्त्रों से असंस्पृष्ट, किंवा पराङ्मुख, विश्वातीत–निर्विशेष **'आत्मब्रह्म'** का ही नाम मानव है। अपितु इत्थंभूत आत्मब्रह्म की दिग्देशकालातीता अनन्ता–सनातना–शाश्वत–प्रतिष्ठा से समन्वित, अतएव **आत्मच्छन्द** से छन्दित–मर्य्यादित दिगदेशकालात्मक मनः-शरीर–बुद्धितन्त्रों की समष्टिरूप चतुष्पर्वात्मक, महासत्त्व, महा-प्राण वर्गविशेष का ही नाम–**'मानव'** है, जिस इत्थंभूत चतुष्पर्वा महान् मानव के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली **उपयोगिता**, तथा **अनुपयोगिता** की मीमांसा इसके **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-इन चारों मानवीय-पर्वों के माध्यम से ही समन्वित होसकती है। **नान्यः पन्था विद्यते–अयनाय।**

÷ **ये त्वेदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मानवाः ॥**
सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥

—गीता

१३४–आर्षभावनिबन्धना 'पुरुष' अभिधा, तदनुगत 'पुरुषार्थ', एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित त्रिविध–प्रकृत्यर्थ, और पुरुषार्थ–प्रकृत्यर्थ–निबन्धन–मानवीय कर्त्तव्य की स्वरूप-दिशा का सङ्केत—

चतुःस्वरूपात्मक तथाविध श्रेष्ठतम प्राणीविशेष का ही नाम 'मानव' है, और इसी की आर्ष–अभिधा है–'पुरुष'। स्वयं शास्त्रने इस पुरुष के पुरुषत्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखने वाली 'उपयोगिता' की सुविशदा स्वरूप–मीमांसा की है, जो कि उपयोगिता पुरुष के 'अर्थ' (प्रयोजन, लक्ष्य) की संसाधिका बनती हुई 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हुई है। पुरुष से अतिरिक्त (मानवेतिरिक्त) अन्यान्य भूत-भौतिक सामान्य-प्राणीवर्गों की भी उपयोगिताएँ उसी शास्त्र के द्वारा निर्णीत, तथा व्यवस्थित हैं, जो प्रकृत्यैव उन से समन्वित होती रहतीं हैं। पुरुष (मानव) जहाँ आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से समन्वित होता हुआ 'पुरुष' है, अर्थात्–'अप्राकृत' है, वहाँ पुरुषेतर यच्चयावत् प्राणीवर्ग इस 'पुरुष' (अव्ययात्मपुरुष) की स्वस्वरूपानुगता अभि–व्यक्ति से असंस्पृष्ट रहते हुए विशुद्धरूपेण–'प्राकृत' ही हैं। अतएव इन के उपयोगितात्मक 'अर्थ' शास्त्रीय-परिभाषा में–'प्रकृत्यर्थ' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। तदित्थं-अप्राकृत–पुरुषात्मक मानव, तथा प्राकृत-प्रकृत्यात्मक प्राणीवर्ग, भेद से ईश्वर–प्रजापति का सर्ग पुरुष, और प्रकृति, इन दो महिमाविवर्त्तों में विभक्त होरहा है, जो कि दोनों हीं सर्गविवर्त्त (सृष्टिधाराएँ) 'धाता-यथापूर्वमकल्पयत्' रूपेण परिभ्रममाण ब्रह्माण्डचक्र से समन्वित होतीं हुई सनातन हीं हैं। इन दोनों विवर्त्तों की पृथक्--पृथक्--विधा विभिन्ना उपयोगिताओं के लिए ही क्रमशः पुरुषार्थ, तथा प्रकृत्यर्थ, नामक दो तन्त्र विभक्तरूपेणैव व्यवस्थित हैं। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव सर्वथा दुरधिगम्य ही माना गया है इन दोनों तन्त्रों का स्वरूप--समन्वय, जिसके लिए एकमात्र शास्त्र-निष्ठा ही अस्मदादि सामान्य जनों के लिए शरणीकरणीया है। हम कदापि अपनी दिग्देशकालात्मिका सीमित प्रज्ञा से इस तथ्य की उपयोगिता–अनुपयोगिता, किंवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं करसकते--'तस्माच्छास्त्रमेवास्माकं प्रमाणम्' *।

१३५–मानव की पुरुषार्थचतुष्टयी, एवं मानवेतर प्राणियों की प्रकृत्यर्थत्रयी, एवं दोनों विभक्त तन्त्रों का स्वरूप दिग्दर्शन —

अब यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है कि, मानव का 'पुरुषार्थ' जहाँ एकविधपुरुष (दिग्देशकालातीत अव्ययब्रह्मात्मक , तथा इत्थंभूत एकविध पुरुष के आधार पर प्रतिष्ठिता–काल--दिक्--देशात्मिका सौरी–चान्द्री–पार्थिवी, बौद्धिकी--मानसी–शारीरिकी--लक्षणा त्रिविधा--प्रकृति के

*--यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः॥
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि॥२॥
—गीता

भेद से दो विभिन्न प्रमुख--विवर्त्तों में परिणत होता हुआ चार विभिन्न सामान्य--महिमाभावों में विभक्त होरहा है, वहाँ पुरुषाव्ययात्मा के स्वस्वरूपाभिव्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव केवल प्राकृत, अतएव च भूत-भविष्यत्-के--सम--विषय--परिणामों से पराःपरावत, दिग्देशकालात्मक--प्रत्यक्षसिद्ध--व्यक्त--मूर्त्त--भूत--भौतिक--प्राकृतिक विश्व को ही स्वप्रतिष्ठा बनाए रखने वाले, अतएव च केवल प्रत्यक्षवादी, मानवेतर--पश्वादि प्राणियों के प्रकृत्यर्थ **बौद्धिक, मानसिक, तथा शारीरिक,** केवल इन त्रिविध प्रकृत्यर्थभावों के ही अनुगामी बने रहते हैं। सहजभाषा में **मानवानुबन्धी पुरुषार्थ जहाँ चार हैं, वहाँ मानवेतर पश्वादि से अनुप्राणित प्रकृत्यर्थ तीन ही हैं,** जैसाकि--परिलेख से स्पष्ट है।

(१) पुरुषस्याप्राकृतस्य--पुरुषार्थचतुष्टयी--उपयोगिताचतुष्टयी वा

१--अव्ययात्मानुगतः———पुरुषार्थरूपः———पुरुषार्थः (१)--परमपुरुषार्थः

२--कालात्मकः--बुद्धितन्त्रानुगतः--प्रकृत्यर्थरूपः———पुरुषार्थः (१)

३--दिगात्मकः--मनस्तन्त्रानुगतः--प्रकृतिविकृत्यर्थरूपः—पुरुषार्थः (२)

४--देशात्मकः--शरीतन्त्रानुगतः--विकाररूपः———पुरुषार्थः (३)

(२ से ४) } -सामान्या पुरुषार्थत्रयी --प्रकृत्यर्थत्रयी वा—

(१ से ४) } प्रथमा पुरुषार्थचतुष्टयी

(२) प्राकृतपशुविवर्त्तरूपा—प्रकृत्यर्थत्रयी, उपयोगितात्रयी वा.

१--वर्त्तमानकालिक-बुद्धितन्त्रानुगतः--प्रकृत्यर्थः (१)

२--वर्त्तमानकालिक-मनस्तन्त्रानुगतः--प्रकृत्यर्थः (२)

३--वर्त्तमानकालिक-शरीरतन्त्रानुगतः--प्रकृत्यर्थः (३)

} —प्रकृत्यर्थत्रयी

} द्वितीया—प्रकृत्यर्थत्रयी

१३६–'पर' पुरुष से अनुप्राणित 'पुरुषार्थ' की स्वरूप–परिभाषा, एवं आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्वानुगत मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–नामक चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक दहरोत्तरसम्बन्ध—

क्या तात्पर्य्य ?, प्रश्न का तात्पर्य्य अब स्पष्टतम है प्रज्ञाशील, आत्मनिष्ठ–मानवों के लिए। अव्यय–पुरुषात्मक ब्रह्मानुगत, तदभिन्न मानवीय अव्ययपुरुष (**परपुरुष**) का परमपुरुषार्थात्मक प्रधान पुरुषार्थ ही **'मोक्षपुरुषार्थ'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इत्थंभूत परमपुरुषार्थ की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित बुद्धि का पुरुषार्थ ही–**'धर्म्मपुरुषार्थ'** कहलाया है। इत्थंभूत–आत्ममोक्ष, बुद्धिधर्म्म–से मर्य्यादित, अतएव आत्म–बुद्धयनुगत–मन का पुरुषार्थ ही **'कामपुरुषार्थ'** कहलाया है। एवं इत्थंभूत आत्म-बुद्धि-मनोऽनुगत-मोक्ष-धर्म्म-कामान्वित–शरीर का पुरुषार्थ ही **'अर्थपुरुषार्थ'** कहलाया है, जिन इन चारों पुरुषार्थों का वैज्ञानिक–समन्वय द्वितीय-खण्ड में गतार्थ होगया है। **'अर्थ'** वही **'अर्थ'** माना जायगा, जिसके मूल में सत्त्वप्रधान मनोमय **'काम'** प्रतिष्ठित रहेगा। **'काम'** वही **'काम'** कहलाएगा, जिसका आधार बुद्धयनुगत **'धर्म्म'** बना रहेगा। एवं **'धर्म्म'** वही **'धर्म्म'** माना जायगा, जिसकी प्रतिष्ठा **'आत्मसाम्य'** होगा। यों चारों हीं दहरोत्तरसम्बन्ध से मानव की चतुर्विधा उपयोगिताओं का यथाक्षेत्र समन्वय करते हुए सचमुच ही तो मानव को–**'सगुणब्रह्म'** की श्रेणि में परिणत कर देंगे।

१३७–आत्म-बुद्धयनुबन्धी मोक्ष–धर्म्मों से असंस्पृष्ट, मनः–शरीर–मात्र–प्रधान कामार्थ-मात्रपरायण पशुजगत्, एवं तत्समतुलित मानववर्ग—

मानवेतर प्राणीवर्ग की उपयोगिता के पूर्व में हमने तीन प्रकृत्यर्थक्षेत्र बतलाए हैं, जिनका अन्ततोगत्वा **काम**, और **अर्थ**, इन दो प्रकृत्यर्थों पर ही पर्य्यवसान होजाता है। कारण स्पष्ट है। मानवीया सौरी बुद्धि दिग्देशकालातीत आत्मभाव से अनुप्राणिता बनती हुई जहाँ सशक्ता–सबला–बनी रहती है, अतएव ऐसी उद्बुद्धा आत्मभावान्विता बुद्धि जहाँ सेन्द्रिय–मन पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित रखती हुई स्वस्वरूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त रहती है, वहाँ मानवेतर प्राणियों की यही सौरी बुद्धि आत्मप्रतिष्ठा के अभाव से निर्बला-अशक्ता बन जाती है। अतएव ऐसी **'पशुबुद्धि'** मनोभाव से ही अनुप्राणिता होती हुई मनोवशवर्त्तिनी हीं बन जाती है। और परिणामस्वरूप ऐसी मनोवशवर्त्तिनी प्राकृतबुद्धि का मानसिक-इच्छातन्त्र के अतिरिक्त कदापि स्वतन्त्ररूपेण उपयोग उसीप्रकार सम्भव नहीं है इस प्राणीजगत् में, जैसे कि आत्मस्वरूपविस्मृत मानव की बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बनती हुई अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व ही परिसमाप्त कर लेती है। अतएव मानवेतर प्राणियों में बुद्धिगर्भित **मनस्तन्त्र**, तथा **मनोऽनुगत शरीरतन्त्र**, ये दो ही प्राकृत तन्त्र शेष रह जाते हैं। परिणामस्वरूप मनोऽनुगत **काम**, तथा, शरीरानुगत **अर्थ**, ये दो ही प्रकृत्यर्थ इस प्राणीजगत् में प्रधान बने रहते हैं। यही इस प्राकृत–प्राणीवर्ग की **अर्थ-कामशक्ति** है, जिस इत्थंभूता आसक्ति के कारण हीं **बुद्धयनुगत धर्म्म** के तात्त्विकबोध (ज्ञान), तथा तदाचरण से प्राणीजगत् का उसीप्रकार कोई भी सम्पर्क नहीं रहता, जैसेकि अर्थकामासक्त मानवों के सम्बन्ध में भी धर्म्मशास्त्रने यही मन्तव्य अभिव्यक्त किया है *।

---

*–अर्थ–कामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥
—मनुः २।१३। (अर्थकामलिप्सासंस्पृष्टानामेव धर्म्मोपदेशः)।

१३८–कामार्थप्रधाना अतएव 'पशुजगत' से समतुलिता 'उपयोगिता' का महान् व्यामोहन, एवं इत्थंभूत पशुधर्म्मात्मक तात्कालिक उपयोगितावाद के व्यामोहन से ही मानव का सांस्कृतिक–अधःपतन—

अलमतिपल्लवितेन । कारणतामूला उस उपादेयता के अनुबन्ध से ही इन पुरुषार्थ-प्रकृत्यर्थ–भावों का स्वरूप–दिग्दर्शन प्रासङ्गिक बन गया, जिस महान् अम्ब–यत्न–रूप इस उपयोगितावादने हीं वर्त्तमानयुग के भारतीय–मानव को भी अपनी पुरुषार्थमूला उस मानवीया महत्त्वशालिनी सांस्कृतिक–विभूति से आत्यन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख प्रमाणित कर दिया है । जिस निधि के अनुग्रह से ही इसने 'मानव' के रहस्यपूर्ण तत्त्व का समन्वय कर तद्द्वारा ही ऐहलौकिक–सुख–समृद्धि–साधक अभ्युदयपथों का, तथा पारलौकिक–शान्ति-तृप्ति–साधक–निःश्रेयस् पथों का आविष्कार कर 'मानवता' का सर्वात्मना संरक्षण करते हुए सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व किया था, तथाविध पुरुषार्थ की उपेक्षा कर बैठने वाले, तत्स्थाने च आपातरमणीय तात्कालिक–कामार्थों में आसक्त हो जाने वाले उसी भारतीय–मानवने दिग्देशकालनिबन्धन–वर्त्तमानकालात्मक–तात्–कालिक–लोकैषणात्मक वित्तैषणामूलक व्यामोहनों से सर्वात्मना आकर्षित होते हुए, सर्वथा पशुजगत् से सम–तुलिता 'उपयोगिता' को अग्रणी बनाते हुए आज तो अपना सर्वात्मना अधःपतन ही करा लिया है ।

१३९–युगधर्म्मात्मक-भोजन, भाषण, पर्य्यटन, प्रतीच्य-भौतिक-विधि-विधानानुसरण, आदि आदि दिग्देशकालानुबन्धी कला-कौशलों के प्रति सर्वथा अनुपयुक्त भारतीय सांस्कृतिक–वाङ्मय, एवं तत्सम्बन्ध में उपयोगितावादियों की विप्रतिपत्ति का सर्वात्मना समादर—

अवश्य ही प्रतिदिन सायं प्रातः होने वाले गलाधःकरणानुकूलव्यापारलक्षण भोजनसमारोह में, दिग्-देशकालानुन्धी–प्रतीच्यभावपथानुसारी भूतभौतिक-चर्व्वणाप्रधान विधि–विधानों के प्रचार–प्रसार में, मनोविनो-दात्मक नृत्य–गान–वादनादि अमुकामुक आयोजन–विजृम्भणों में, युगधर्म्माक्रान्त, सर्वथा प्रदर्शनात्मक भाषण–उद्घाटनादि समारोहों में, तथैव च अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात तथाविध–ही महतोमहीयान् युगधर्म्मात्मक कौशल–प्रदर्शनों में तो न तो आज ही भारतीय–सांस्कृतिक–निधि की कोई उपयोगिता है, नापि पूर्वयुगों में हीं कभी भी इत्थंभूत युगधर्म्मात्मक विजृम्भणों के प्रति इस निधि की कोई उपयोगिता मानी गई । और इसी दृष्टि से हमने प्रारम्भ में हीं–'ओमित्येत्' कहते हुए स्वयं हीं प्रणतभाव से यह मान लिया है कि, "वर्त्तमानयुगानुगता, केवल मनःशरीरानुगता, कामार्थमात्रप्रधाना मान्यताओं की दृष्टि से तो सांस्कृतिक–निधि की कोई भी उपयोगिता नहीं है" । अतएव च तथाभूत उपयोगितावाद का, कारणतावाद का उद्घाटक मानव जो भी आक्रोश अभिव्यक्त करना चाहे इस मूलनिधि पर, अवश्यमेव सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रतापूर्वक वह सभी कुछ करसकता है, कहसकता है । क्योंकि तथाविध प्राकृत मानव के सभी आक्रोश शास्त्रने उसीप्रकार क्षम्य ही माने हैं, जैसे कि·········आलप्यालमेव !

१४०–युगधर्म्म-प्रवाहाक्रान्त, अतएव दिग्देशकालविमूढ संस्कृतज्ञ विद्वानों की, तथा मेधावी संस्कृत-छात्रों की भी उपयोगिता-कारणता-उन्नति-आदि वाक्छलों के व्याज से प्रवाहानुगति—

हम उस समय आश्चर्य्य–स्तब्ध ही बने रह जाते हैं, जबकि आज भारतराष्ट्र के वे ब्राह्मणविद्वान् भी तथाविधा उपयोगिता, कारणता, तन्मूला युगधर्म्मानुगता उन्नति के माध्यम से अपना–'निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" यह सांस्कृतिकसूत्र विस्मृत ही करते जारहे हैं। तथैव संस्कृतसंस्थाओं के सुयोग्य मेधावी छात्रों का तथाविध स्वाध्यायचिन्तन तो उत्तरोत्तर होता जारहा है शिथिल, एवं तत्स्थाने च बी. ए., एम्. ए. की उपाधियों का आकर्षण एकमात्र इसी दिग्देशकालानुबन्धिनी उपयोगिता के आकर्षण से होता जारहा है उत्तरोत्तर-पुष्पित पल्लवित, जिसउपयोगिता की परिसमाप्ति है-योगक्षेमव्यवस्था, जो कि स्वतन्त्ररूपेण इन उपाधियों में कौशल प्राप्त करते रहने वाले, साथ ही युगधर्म्मानुगता पी. एच्. डी.-डी. लिट्-उपाधियों को समलङ्कृत करते जाने वाले पुरुषार्थियों ! के समतुलन में इन संस्कृत के छात्रों के लिए तो संदिग्धा ही बनी रहती है।

१४१–'योगः कर्म्मसु कौशलम्' मूलक-'योग' शब्द, एवं तदनुप्राणित प्रकृतिसिद्ध वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म-नामक चतुर्विध 'सिद्धयोग'—

'योगः कर्म्मसु कौशलम्' ही–'योग' शब्द की तात्त्विक व्याख्या है, एवं–'समत्त्वं योग उच्यते' के अनुसार पूर्वप्रदर्शित 'समब्रह्म' नामक अव्यात्मब्रह्म के 'समदर्शन' (नतु समवर्त्तन) से अनुप्राणित ब्रह्म (ज्ञान), और कर्म्म का साम्य हीं 'समत्त्व' की परिभाषा है। आत्मसाम्यमूला बुद्धि ही इस समत्त्व-योगात्मक 'योग' की अन्यतमा अधिकारिणी मानी गई है। इत्थंभूत आत्मसाम्यमूलक, बुद्धियोगात्मक इसी योग के बुद्धि के सुप्रसिद्ध-धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-नामक चार महिमाविवर्त्तों के माध्यम से चार स्वतन्त्र विवर्त्त होजाते हैं, जिन इन चारों योगों का स्वतन्त्र–निबन्ध में हीं स्वरूपविश्लेषण हुआ है *। राजर्षिविद्यानुगत, वैराग्यभावप्रवर्त्तक, आसक्तिबन्धननिवर्त्तक, बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग, सिद्धविद्यानुगत, ज्ञानभावप्रवर्त्तक, अविद्याबन्धननिवर्त्तक, ज्ञानयोगात्मक बुद्धियोग, राजविद्यानुगत, ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तक, अस्मिताबन्धननिवर्त्तक, भक्तियोगात्मक बुद्धियोग, तथा आर्षविद्यानुगत, धर्म्मप्रवर्त्तक, अभिनिवेशनिवर्त्तक, कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग, ये चारों 'बुद्धियोगात्मक योग' पूर्वनिर्दिष्ट मानवीय चारों पर्वों से ही क्रमशः अनुप्राणित हैं।

१४२–आत्मानुगत वैराग्यबुद्धियोग, बुद्ध्यनुगत ज्ञानबुद्धियोग, मनोऽनुगत ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग, तथा शरीरानुगत धर्म्मबुद्धियोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

मानव के प्रथम आत्मपर्व से अनुप्राणित 'योग' का ही नाम–'वैराग्यबुद्धियोग' है, द्वितीय बुद्धिपर्वानुगत योग ही 'ज्ञानबुद्धियोग' है, तृतीय मनःपर्वानुगत योग ही–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' है, एवं चतुर्थ शरीरपर्वानुगत

---

* देखिए ! सहस्रपृष्ठात्मक–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत–'घ' कारविभागात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र खण्ड। (निबन्ध प्रकाशित होगया है)।

योग ही 'धर्म्मबुद्धियोग' है। ये हैं सिद्धावस्थापन्न 'सिद्धयोग', जिन्हें प्राप्त करने के लिए ही मानव को साध्यावस्थापन्न चतुर्विध 'साध्ययोगों' का आश्रय लेना पड़ता है, जो कि साध्ययोग ही 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मानुगत 'मोक्षयोग' नामक साध्ययोग से वैराग्यबुद्धियोग की, बुद्ध्यनुगत 'धर्म्मयोग' नामक साध्ययोग से 'ज्ञानबुद्धियोग' की, मनोऽनुगत'कामयोग' से 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' की, तथा शरीरानुगत 'अर्थयोग' से 'धर्म्मबुद्धियोग' की अभिव्यक्ति ही प्रकृतिसिद्धा है।

१४३–समन्वयोगात्मक पुरुषार्थलक्षण चतुर्विध सिद्धयोगों के संसाधक क्रत्वर्थलक्षण चतुर्विध साध्ययोगों का 'उप' भाव, एवं तदनुगत-'उपयोग' भाव, और तन्निबन्धना 'उपयोगिता'—

समत्वयोगात्मिका सिद्धयोगचतुष्टयी ही वह 'योग' है, जिसे–'सिद्धयोग' माना गया है। सिद्धावस्थापन्न (सहजसिद्ध) इन चारों नित्ययोगों के समीप जो भी मानव के आत्मादि चारों पर्वों को लेजाने की क्षमता रखते हैं, उन्हें हीं–इसी योगसामीप्य–मात्रानुबन्ध से कहा जाता है–'उप--योग'। योग के-उप (समीप) प्रतिष्ठित 'साध्ययोग' को ही इस सनातना निर्वचनपद्धति के अनुसार–'उपयोग' शब्द से व्यवहृत जिया जायगा। और ये साध्यावस्थापन्न चतुर्विध उपयोग वे ही मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ–नामक पूर्वनिर्दिष्ट सुप्रसिद्ध चार 'पुरुषार्थ' माने जायँगे। इस उपयोगात्मिका साध्या योगचतुष्टयी की ही 'उपयोगिता' स्वीकार की जायगी चतुष्पर्वा मानव के सहजसिद्ध योगात्मक स्वरूपानुबन्ध से। उपयोगभावापन्ना, अतएव लोकभावुकतासंरक्षणव्याजेन उपयोगिता–जिज्ञासा की पूरिका इस–उपयोगिनी चर्चा का निम्न लिखित परिलेख से सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है।

---

(१)–राजर्षिविद्यानुगतः, वैराग्यभावप्रवर्त्तकः, आसक्तिनिवर्त्तकः, अबुद्धियोगात्मकः–
'वैराग्यबुद्धियोगः,' प्रथमः (आत्मपर्वात्मकः)

(२)–सिद्धविद्यानुगतः, ज्ञानभावप्रवर्त्तकः, अविद्यानिवर्त्तकः, ज्ञानयोगात्मकः–
'ज्ञानबुद्धियोगः', द्वितीयः (बुद्धिपर्वात्मकः)

(३)–राजविद्यानुगतः, ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तकः, अस्मितानिवर्त्तकः, भक्तियोगात्मकः–
'ज्ञानबुद्धियोगः', तृतीयः (मनःपर्वात्मकः)

(४)–आर्षविद्यानुगतः, धर्म्मप्रवर्त्तकः, अभिनिवेशनिवर्त्तकः, कर्म्मयोगात्मकः–
'धर्म्मबुद्धियोगः', चतुर्थः (शरीरपर्वात्मकः)

---

(१)–आत्मानुगते-सिद्धावस्थापन्ने-वैराग्यबुद्धियोगे-दिग्देशकालातीते उपोद्बलकः-

'साध्य-मोक्षयोगः'-प्रथमः पुरुषार्थः- उपयोगो वा

(२)–बुद्ध्यनुगते-सिद्धावस्थापन्ने-ज्ञानबुद्धियोगे-कालात्मके-उपोद्बलकः-

'साध्य-धर्म्मयोगः'-द्वितीयः पुरुषार्थः,-उपयोगो वा

(३)–मनोऽनुगते-सिद्धावस्थापन्ने-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगे-दिगात्मके-उपोद्बलकः-

'साध्य-कामयोगः'-तृतीयः-पुरुषार्थः, उपयोगो वा

(४)–शरीरानुगते-सिद्धावस्थापन्ने-धर्म्मबुद्धियोगे-देशात्मके-उपोद्बलकः-

'साध्य-अर्थयोगः'-चतुर्थः पुरुषार्थः, उपयोगो वा

१४४–'उपयोगिता' की व्यावहारिकता के मूलस्रोत का 'कोशत्त्व', एवं 'कोश' के सम्बन्ध में व्यावहारिक-उपयोगितावादियों से प्रश्न—

वर्त्तमानयुगानुगत, काल्पनिक, उपयोगितावाद की भावुकतापूर्णा आपातरमणीया दृष्टि का–हम समझते हैं, उक्त दोनों तालिकाओं से पर्य्याप्त समाधान होजाना चाहिए। यदि नहीं तो, फिर उन उपयोगितावादियों के स्वयं के ही कामार्थक्षेत्र तथाविधा अनेक समस्याओं के अनुगामी बन जायँगे, जिन के निराकरण के लिए वे किसी भी समाधान से सम्पर्क स्थापित कर ही न सकेंगे। उदाहरण के लिए सञ्चित कोश को ही लक्ष्य बनाइए। सञ्चित कोश का क्या दैनंदिनीय जीवन में प्रत्यक्ष में कोई उपयोग है ?। स्पष्ट है कि, कदापि प्रत्यक्ष में कोश का कोई भी उपयोग नहीं है। किन्तु कोश माना जाता है सर्वात्मना संरक्षणीय इसीलिए कि, प्रावाहिक जीवन की व्यवस्था के लिए आवश्यकता के अनुपात से कोशस्थ द्रव्य का ही उपयोग होता रहता है। जिस का उपयोग हो रहा है, किंवा जो उपयोगिता में आ रहा है, उस का मूलस्रोत कोश ही प्रमाणित होरहा है। ठीक यही स्थिति हमें उस परोक्षा ज्ञानविज्ञाननिधि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

१४५–सर्वव्यवहाराधिष्ठाता सर्वाधार 'कोशब्रह्म' का स्वरूप-संस्मरण—

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि, पञ्चमहाभूतात्मक, पञ्चप्राणात्मक, चतुर्विध मनोरूप, अष्टविध बुद्ध्यात्मक, तथा अष्टादशधा विभक्त–प्राकृतात्मात्मक विश्वविवर्त्त का मूलाधिष्ठाता, 'क्षर' नाम की 'अपरा-प्रकृति' से, 'अक्षर' नाम की 'पराप्रकृति' से समन्वित, पञ्चकलोपेत विश्वाध्यक्ष, विश्वेश्वर इसी उपयोगितावाद की दृष्टि से वेदशास्त्र में 'कोशब्रह्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। बात उस उपयोगितावाद की चल पड़ी, जिस महाभूत–महायक्षने भारतीय सांस्कृतिक–प्रज्ञाओं को भी आज भूतावेशवत् सर्वात्मना आविष्ट ही

कर लिया है । अतएव उदाहरणात्मक **'कोश'** (**अर्थ-सम्पत्ति**) से लक्षीभूत इस **'कोशब्रह्म'** के सम्बन्ध में, एवं तत्सम्बन्धिनी उपयोगिता के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देना उपयोगितावादियों की दृष्टि में तो अप्रासङ्गिक नहीं हीं माना जायगा ।

१४६–मात्राभावानुबन्धी आनन्द-विज्ञान–ज्ञान–कर्म्म–अर्थ–नामक व्यावहारिक महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं इनका सर्वानुगतित्त्व—

आमोद, प्रमोद, हर्ष, उल्लास, आदि आदि अवान्तर भेदों से अनेकधा विभक्त **'सुख'** नामक सुप्रसिद्ध अनुभूतभाव से तो सभी उपयोगितावादी सुपरिचित होंगे हीं । तथैव आधिभौतिक–आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिनाक्षत्रिक–आधियाज्ञिक–आदि भेदेन स्थूल भेदों में विभक्त, तथा असंख्यसंख्यात अवान्तर शाखाओं में विभक्त, इसी वैविध्य के कारण **'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्'** निर्वचनानुसार **'विज्ञान'** * नाम से प्रसिद्ध तत्त्व भी सर्वात्मना सुपरिचित नहीं *, तो अपरिचित भी नहीं है तथाविध मानववर्ग के लिए । तथैव च **मति, प्रज्ञा, मनीषा, चित्, संवित्, अनुभूति, चिन्तन, मनन,** आदि आदि भेदेन परःशत महिमाभावों में विभक्त **'ज्ञान'** नामक तत्त्व का नाम भी अश्रुत नहीं है उपयोगितावादियों के लिए । एवमेव **गमन–हसन–रुदन–अशन–पान–धावन**–आदि आदि भेदेन सहस्रधा विभक्त **'कर्म्म'** भी परिचय से पृथक् नहीं माना जासकता । तथैव च **गुणभूत–अणुभूत–रेणुभूत–महाभूत–सत्त्वभूत**–आदि आदि भेदभिन्न भूतात्मक **'अर्थ'** का नाम भी उपयोगितावादियों के उपासनाक्षेत्र से बहिर्भूत नहीं माना जासकता ।

१४७- व्यावहारिक मात्राभावों के उपभोक्ता के सम्बन्ध में उपयोगितावादियों से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

तदित्थं सुखात्मक **समृद्धानन्द, विज्ञान, ज्ञान, कर्म्म, अर्थ,** ये पाँचों हीं तत्त्व उपयोगितावादियों के लिए कदापि अमान्य तो नहीं माने जासकते । अवश्य ही इन पाँचों हीं सुप्रसिद्ध तत्त्वों–भावों–पदार्थों की उपयोगिता में किसी भी उपयोगितावादी को स्वाप्निक सन्देह भी नहीं होसकता । अब क्षणमात्र के लिए इन पाँचों उपयोगी तत्त्वों को विश्राम प्रदान कर इनका उपयोग करने वाले सर्गों को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए । कौन है इनसे उपयोग लेने वाला ? । क्या एकमात्र आपही हैं इनके उपभोक्ता ? । अर्थात् क्या एकमात्र मानव का ही स्वत्वाधिकार है इनके उपभोग में ? । नेति होवाच । उदारवादियों की उदारता से अनुप्राणित यही उत्तर समीचीन होगा कि, इस महाविश्व में जितने भी प्राणी हैं, सभी को इनके उपयोग का उत्तरदायित्व प्राप्त है ।

१४८--उपभोक्ता-प्राणियों के असंख्य-विवर्त्त, एवं तदनुबन्धिनी असंख्य-संख्याता उपयोगिताएँ —

ओमित्येतत् । तो क्या कृमि–कीट–पक्षी–पशु–मानवादि भेद भिन्न सभी उपभोक्ताओं के **आनन्द–विज्ञान–ज्ञान–कर्म्म–अर्थ**–समानधर्म्मा हैं ?, किंवा एकजातीय हैं ? । प्रश्न सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने

*-विशेष विवेचन के लिए देखिए–**'भारतीय दृष्टिकोण से–'विज्ञान' शब्द का समन्वय'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध । (निबन्ध प्रकाशित है) ।

वाली उस '**महत्प्रकृति**' से सम्बन्ध रख रहा है, जिसके **आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति**, रूपेण तीन महान्, एवं प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं। इन तीनों के प्रत्येक के अवान्तर अगणित भेद होजाते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम-'**आकृतिमहान्**' को ही लीजिए। चतुरशीतिकल (८४ कलायुक्त) पितृप्राण के सहस्रधात्मक सहस्रधा व्युदूहन से केवल आकृतिमहान् के ही-'८४००००० (चौरासीलाख) वर्गभेद होजाते हैं तथोक्त उप-भोक्ताओं के। योनिभावानुगत ये वर्ग (प्रत्येक वर्ग) पुनः असंख्य-संख्यायुक्त व्यक्तिनिबन्धन-प्रकृतिमहान्, तथा अहङ्कृतिमहान्-नामक विवर्त्तों से समन्वित होजाते हैं, जिस इस तात्त्विक विस्तार से '**उपयोगिता**' जैसे महान् आकर्षक विषय के अनुयायियों में हम शिरोवेदना उत्पन्न नहीं करना चाहते।

१४९-सम्पूर्ण मात्राभावों के मूलकोशात्मक, पञ्चकोशात्मक 'कोशब्रह्म' की सर्वानुस्यू-तता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासा—

वक्तव्यांश उक्त निदर्शन से केवल यही है कि, प्रत्येक योनि (जिस में अगणित व्यक्तियाँ हैं) की आनन्द-विज्ञानादि की मात्राएँ सर्वथा प्रातिस्विक, एव विभिन्न नाम-रूप गुणात्मक हीं हैं। अतएव अनन्त महिमा-विवर्त्त होजाते हैं इन उपयोगी आनन्द-विज्ञानादि विवर्त्तों के, जिन का कि मानवबुद्धि यथावत् परिगणन भी तो नहीं करसकती। विभक्त-भावों के अनुबन्ध से इन उपभोग्य उपयोगी विवर्त्तों के साथ-'**मात्रा**' शब्द सम-न्वित कर दिया है भारतीय महर्षियोंने। अतएव उपयोग में आने वाले उक्त विवर्त्त यत्र तत्र **आनन्दमात्रा, विज्ञानमात्रा, ज्ञानमात्रा,** आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं। ये ही व्यावहारिक आनन्द-विज्ञानादि हैं, जिन यच्चयावत् मात्राभावों * का जो एक, अभिन्न महाकोश है, उसी का नाम है दिग्देशकालातीत, किन्तु दिग्-देशकालव्यापक वह कोशब्रह्म, जिस के छन्दोमय पाँचों हीं कोश क्रमशः **आनन्दमयकोश, विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश, प्राणमयकोश, वाङ्मयकोश,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। व्यवहारजगत् के व्यवहर्त्ता असंख्य संख्यात-वर्गों की परस्पर सर्वथा विभिन्ना **आनन्द-विज्ञान-ज्ञान-कर्म्म-अर्थ**-नाम की मात्राएँ इसी पञ्चकोशात्मक उसी महान् कोश से व्यवहारानुपात से, किंवा व्यवहर्त्ता की योग्यता-शक्ति-आदि के अनुपात से विनिर्गत होतीं रहतीं हैं, जैसा कि-'**एतस्यैवानन्दस्य--मात्रामुपादाय-अन्यानि--भूतानि-उपजीवन्ति**' (बृहदारण्यकोपनिषत्--) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है।

१५०-पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मब्रह्म, तदनुबन्धी मात्राभावों का सृष्टिभेद से वितान, एवं एकमात्र आत्मनिष्ठ 'मानव' का ही पूर्णरूपेण तत्सह-साम्य-समन्वय—

अत्यन्त ही विलक्षण है पञ्चकोशात्मक, अतएव **आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्-रूप** वह विश्वेश्वर विश्वात्मा, जिन इन दिग्देशकालानन्त-विभूति-विवर्त्तों के समतुलन में दिग्देशकालनिबन्धन मात्रा-विवर्त्तों का यत्किञ्चित् भी महत्त्व उसी प्रकार नहीं है, जैसे कि विश्वगर्भ-भुक्त प्राणियों के श्रेणि-विभा-गात्मक मात्रानन्दादि विवर्त्तों में पूर्व-पूर्व-विवर्त्तों के समतुलन में--उत्तर उत्तर के मात्रानन्दादि विवर्त्तों का अकि-ञ्चित्कर ही स्वरूप है। यह तो एकमात्र महान् मानव का ही पुरुषार्थ है, जिसने सम्पूर्ण मात्रानन्दादि

*-अतएव राजस्थान में-'**मात्रा**' शब्द खण्ड--खण्डानुगता वित्तसम्पत्ति के लिए भी उपयुक्त होता देखा गया है।

विवर्त्तों को उस घनभावापन्न कोशानन्दादि विवर्त्तों में अपीत कर तत्सम ही भूमाभाव प्राप्त कर लिया है, इति नमो नमस्तस्मै आत्मनिष्ठाय–मानवश्रेष्ठाय प्रणतभावेन ।

१५१–स्वतन्त्र-'भोक्तृत्त्व' से वञ्चित मानवेतर वर्ग, तन्निबन्धना-'जायस्व-म्रियस्व' व्यवस्था, एवं भूतसर्गानुबन्धिनी आनन्दमात्रानुगता तारतम्य-व्यवस्था—

केवल मनः–शरीरोपजीवी मानवेतर प्राणियों के मात्राभावों की तो मीमांसा ही अप्राकृत मान ली है ऋषियोंनें इसीलिए कि, उन में-'भोक्ता' जैसा स्वतन्त्र आत्मा स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है ही नहीं । अपितु-प्रकृतिमात्र की प्रेरणा से उत्पन्न होते रहना, एवं खाते पीते हुए मर जाना हीं इस वर्ग का सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस की-'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त कोई भी मीमांसा सम्भव ही नहीं है । अतएव ऋषिने मात्रानन्द की मीमांसा का उपक्रमस्थान 'मानव' को ही माना है । **मानव** से आरम्भ कर चतुर्द्दशविध-भूतसर्ग के सर्वान्त के चान्द्र जीवात्मक -'ब्रह्म' पर्य्यन्त व्याप्त श्रेणि-विभागों के आधार पर ही श्रुतिशास्त्र ने मात्रानन्द के तारतम्य की मीमांसा की है । (देखिए बृ० उप० ५ अध्याय-३ ब्राह्मण) ।

१५२–मात्राभावाधिष्ठाता कोशब्रह्म के पञ्चकोशों का संस्मरण, कोशविनिर्गता मात्राओं की उपयोगिता से अनुप्राणिता मौलिक--'उपयोगिता' का किञ्चिदिव निदर्शन—

जिस कोशब्रह्म के अन्तिम पर्व को हमने **'वाङ्मयकोश'** कहा है, वही तैत्तिरीय उपनिषत् में–**'अन्न-ब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । कोशब्रह्म का वाग्भाग ही **'आकाश'** है, इस का अभिव्यक्त रूप ही **'वायु'** है, तदभिव्यक्तरूप ही–**'तेज'** है, तदभिव्यक्ति ही-'जल' है, एवं तदभिव्यक्ति ही **'पृथिवी'** (मृत्) है । यों पाँचों भूत वाङ्मय ही बने हुए हैं, जैसा कि–**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'-अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि से स्पष्ट है । वाङ्मय ये पाँचों भूत ही विकारावस्था में आकर प्राणियों के **'अन्न'** बनते हैं । आकाश शब्दान्नरूप में, वायु श्वास-प्रश्वासान्नरूप में, तेज पञ्चज्योतिरन्नरूप में, जल पेयान्नरूप में, तथा-पृथिवी यव-गोधूम-तृणान्नादिरूप में उपयुक्त होरहे हैं । इसी तथ्य की दृष्टि से वाङ्मय कोश को महर्षि तित्तिरिने-**'अन्नमयकोश'** नाम से व्यवहृत कर दिया है, जिस से परे तत्सूक्ष्म **प्राणमयकोश**, तत्पर **मनोमयकोश**, तत्पर **विज्ञानमयकोश**, एवं तत्पर **आनन्दमयकोश** प्रतिष्ठित है । इहीं पञ्चविध कोशों से मात्राएँ ले ले कर सम्पूर्ण **चर-चर-उपजीवित** हैं । और हम समझते हैं–ऋषि के निम्न लिखित स्पष्टतम, उपयोगिता–सूचक-उद्बोधनसूत्रों के तथ्य से अब भी अपने आप को असंस्पृष्ट-बनाए रखने की लोककला में कुशल जो महानुभाव कोशब्रह्मानुगता **भारतीय-संस्कृति**, तदनुप्राणित **भारतीय-सांस्कृतिक आचार**, एवं तत्प्रसूत **भारतीय-सांस्कृतिक--आयोजनों** की व्यावहारिकी उपयोगिता में भावुकतामूलक अपने व्यक्तित्त्व के विमोहन के कारण सन्देह करते हैं, उन के सम्बन्ध में तो--**'न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति'** यह लौकिक न्याय ही महान् पुरस्कार प्रमाणित होता रहेगा । आत्मनिष्ठ, अतएव शास्त्रनिष्ठ भारतीय मानवने तो न कभी उपयोगिता--अनुपयोगिता जैसी कुत्सित मीमांसा का ही अनुगमन किया, नापि इत्थंभूत कारणता-वाद को अपनी लक्ष्यभूमि ही बनाया । अपितु इसने तो निम्न लिखित शब्दों में कोशब्रह्म का यशोगान ही ही प्रक्रान्त रक्खा है कि—

अन्नं, प्राणः, मनः, विज्ञानं, आनन्दः, ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नात्, प्राणात्, मनसः, विज्ञानाद्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन, प्राणेन, मनसा, विज्ञानेन आनन्देन जातानि जीवन्ति। अन्नं-प्राणं-मनः-विज्ञानं-आनदं-प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता *।

—तैत्तिरीय-उपनिषत्

१५३-आत्मभावनिबन्धना प्राणप्रधाना मौलिक उपयोगिताओं के प्रति उपयोगितावादी की निरपेक्षता, एवं तन्निबन्धना लोकोपयोगान्विता महती विप्रतिपत्ति का उत्थान—

क्या उपयोगितावाद का महतोमहीयान् विजृम्भण, किंवा दिग्देशकालव्यामोहनात्मक, कारणतावादात्मक, बुद्धिवाद उपरत होगया उक्त निवेदन से ?। अभी नहीं। इसलिए नहीं कि, जिनकी ओर से '**उपयोगितावाद**' का अभ्व आवेशपूर्वक उपस्थित होता रहता है, उनकी दृष्टि में न तो वर्त्तमान से अतिरिक्त दिग्देशकालातीत किसी अनन्त आत्मा का ही कोई महत्त्व, न आत्मानुबन्धी मोक्ष, तथा सत्त्वबुद्ध्यनुगत **धर्म्म** की ही कोई अपेक्षा। अपितु वह वर्ग तो इन दोनों से ही अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष, तटस्थ मान कर ही, तत्स्थाने च प्रत्यक्षदृष्ट-वर्त्तमानात्मक-दिग्देशकाल की भूतोन्नति को ही जीवन की चरम उपयोगिता मानता हुआ तथाविधा शास्त्रीया उपयोगिता की उपेक्षा में ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के विसर्ज्जन में आविष्ट होरहा है। अतएव जबतक इसी की मान्यता से अनुप्राणिता लौकिकी-प्रत्यक्षसिद्धा-भूतभौतिकी-उपयोगिता की ओर इसका ध्यान आकर्षित नहीं करा दिया जाता, तबतक इस दिग्देशकालप्रेमी, अतएव केवल-वर्त्तमानवादी का कदापि अनुरञ्जन सम्भव नहीं है।

१५४-आज का भौतिक-जनजीवन, तत्सञ्चालक उपयोगितावादी प्रमुखवर्ग, एवं-'सांस्कृतिक-उपयोगिता' के सम्बन्ध में वर्त्तमानानुबन्ध से अनुरञ्जन का आत्यन्तिक अभाव—

निष्कर्ष यही है कि, दिग्देशकालातीता, अतएव "अमूर्त्त-अव्यक्त, अतएव च अप्रत्यक्ष-भावापन्न आत्मानन्द, तदनुबन्धी सुसूक्ष्म-ज्ञान-विज्ञान, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्यादि लक्षणा आध्यात्मिक विभूतियाँ, मोक्ष, धर्म्म, परलोक, स्वर्ग, आचार, योग, समत्त्व, आदि आदि भूतातीत उपयोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है आज के जन-जीवनीय-उपयोगी-क्षेत्रों से" ऐसी मान्यता है हमारे आज के उपयोगितावादी आत्मबन्धुओं की। इत्थंभूता आपातरमणीया काल्पनिकी मान्यता में केवल आज का तथाविध मानव ही अपराधी नहीं है। अपितु यह अपराध तो त्रिसहस्रवार्षिकी उस **दार्शनिकता** की कृपा के ही प्रसून हैं, जिसने अध्यात्मवाद का

---

*-इस श्रुति के ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वसमन्वय के लिए देखिए—'**तैत्तिरीयोपनिषद्विज्ञानभाष्य**'। (यह अभी अप्रकाशित है)।

अर्थ केवल लोकातीत-आत्मब्रह्म मानते हुए तदपेक्षया समस्त विश्व को, एवं विश्वानुबन्धी व्यक्त-मूर्त्त-कर्म्म को मिथ्या ही घोषित कर दिया है, जैसाकि पूर्व में सत्यं, शिवं, सुन्दरं-लक्षण, ईश्वरीय-महिमाविवर्त्तरूप विश्व के स्वरूप-दिग्दर्शन से स्पष्ट किया जाचुका है।

१५५-मौलिक-संस्कृति के स्वरूप-विश्लेषक शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न-परम्परा, एवं दार्शनिक प्रज्ञा के वाग्विजृम्भण से प्रश्न की महती सम्प्रश्नात्मकता—

क्या औपनिषद ज्ञान मानव का प्रत्यक्षजगत् से विच्छेद कराने के लिए ही प्रवृत्त हुआ है ?। क्या औपनिषद् ज्ञान-विज्ञान-भावों का मानवव्यक्ति के बुद्धि-मनः-शरीर-निबन्धन प्राकृत स्वरूपों से, तदनुगता पारिवारिकी व्यवस्थाओं से, तन्मूलक सामाजिक-अनुबन्धों से, तदनुगत राष्ट्रीय विधि-विधानों से, एवं तदनुप्राणिता विश्वसमस्याओं से सर्वात्मना पार्थक्य कर देना हीं एकमात्र परम-पुरुषार्थ है ?। क्या लोकविभूतिरूप भोग्य-भोक्ता-प्रजा-पशु-कीर्त्ति-यश-आदि आदि दिग्देशकालानुबन्धिनी वर्त्तमानकालानुगता सामयिकी उपयोगिताओं के साथ भारतीय तत्त्ववाद का, तद्रूपा संस्कृति का, एवं तदभिन्न आचार-आयोजनों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ?। ऐसा ही तो बतलाया जारहा है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से इस भावुक-भारतीय मानव को दार्शनिक-प्रमुख उन नवग्रहग्राहात्मक नवविध उद्बोधक भारतीय विद्वानों के द्वारा, जिनके कि आचारशून्य इन अकाण्ड-ताण्डवों के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही हमें निबन्ध में एक स्वतन्त्र खण्ड-(द्वितीय-खण्ड) उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

१५६-नवग्रहग्राहात्मक दार्शनिक वारुणपाश से आबद्ध भारतीय प्रज्ञातन्त्रों का शास्त्रीया लोकानुबन्धिनी आचारनिष्ठाओं से पारम्परिक स्खलन, एवं तत्परिणाम-स्वरूप ही लोकोपयोगिता से शास्त्र की पराङ्मुखता—

नवग्रहग्राहों के वारुणपाश-बन्धन से ही भारतीय प्रजा उस समस्त लोक-सौन्दर्य्य से, लौकिक समृद्धि-विभूति-परम्पराओं से तीन सहस्र-वर्षों से निरन्तर उत्तरोत्तर वञ्चित ही होती आरही है, जिस इस कल्पनाप्रसूता भावुकतापूर्णा त्याग-तपस्या-बलिदान-त्रयी से ही इसके व्यक्त-मूर्त-उपयोगी-क्षेत्र इसकी प्रज्ञा से सर्वथा ही पराङ्मुख होगए है, जिस पराङ्मुखता का उत्तरदायित्व समन्वित होपड़ा है उन्हीं नवग्रहों की कृपा से उस भारतीय मौलिक शास्त्र के साथ भी, जिसने कदापि भौतिक उपयोगितावाद का विरोध नहीं किया है। यही नही, पाठकों को यह जान कर तो आश्चर्य्य ही होगा कि, वेदशास्त्र के कर्म्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मणग्रन्थों में तो पारलौकिकी-उपयोगिताओं के साथ साथ ऐहलौकिकी-समृद्धियों का सह समन्वय हुआ ही है। किन्तु जगन्मिथ्यावादी जिन दार्शनिकोंनें वेद के जिस उपनिषद्भाग को केवल ज्ञानकाण्डात्मक, अतएव दिग्देशकालातीत लोकातीत परोक्ष आत्मब्रह्ममात्र का प्रतिपादक मानने, एवं मनवाने की भावुकतापूर्णा भ्रान्ति कर रक्खी है, वे उपनिषद्ग्रन्थ भी अपने आत्मस्वरूपनिरूपण-प्रसङ्गों के उपसंहार में भौतिकी उपयोगिताओं को सर्वात्मना सह-समन्वित ही मान रहे हैं। सहजभाषा में-स्वस्वरूपबोधात्मक-पूर्वोक्त पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मब्रह्म के बोध का फल यदि आत्मनिःश्रेयस् है, तो उसी उपनिषत् की दृष्टि में, उसी स्थल के द्वारा वही आत्मबोध लौकिक-अभ्युदय का भी निमित्त माना गया है। पारलौकिक-आत्मनिःश्रेयस् ही ऐहलौकिक अभ्युदय की भी मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित की गई है उसी उपनिषच्छास्त्र के द्वारा।

१५७-सूक्ष्म, तथा स्थूल-भावों के माध्यम से ही सम्भावित उपयोगितावाद का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में एक तात्त्विक प्रश्न—

युक्तं चैतत् । सूक्ष्म ही स्थूल की आधारभूमि है । आत्मा ही विश्व की प्रतिष्ठा है । क्या स्थूल-शरीर का सूक्ष्म प्राण की प्रतिष्ठा के बिना कोई उपयोग है ? । क्रियाशक्तिमय सूक्ष्मप्राण क्या ज्ञानशक्तिमय सूक्ष्मतर मन की इच्छा के बिना क्रिया में प्रवृत्त होसकता है ? । क्या सूक्ष्मतमा विज्ञानबुद्धि के बिना निष्कैवल्य मन व्यवस्थित-मर्य्यादित कामनाओं का अनुगामी बन सकता है ? । सर्वान्ते च सर्वान्तरतम आनन्दमय ब्रह्म से अनुप्राणिता रसानुभूति को अवलम्ब बनाए बिना क्या विज्ञानबुद्धि प्रकृतिस्था बनी रह सकती है ?। और क्या ये ही प्रश्न यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त नहीं हैं कि, सूक्ष्मजगत् को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना स्थूलजगत् से सम्बन्ध रखने वालीं उपयोगिताओं का स्वरूप व्यवस्था-कौशल-पूर्वक सुसम्पन्न हो ही नहीं सकता । हां, तो कौनसीं हैं वे लौकिक-उपयोगिताएँ, जिनका आज के युग में **'जनजीवन'** से सम्बन्ध माना जारहा है, एवं जिन वर्त्तमानयुगीया उपयोगियाताओं से ही सर्वात्मना समाकर्षित **'उपयोगितावादी'** महानुभाव इनके समतुलन में **लोकातीत-सांस्कृतिक-निधियों को अनुपयोगी**-प्रमाणित करने के लिए प्रतिक्षण आवेश-पूर्वक जागरूक ही बने रहते हैं ? ।

१५८-मूलसंस्कृति से निरपेक्ष जनतन्त्र की उपयोगिताओं का षड्विध-वर्गीकरण, एवं तत्स्वरूप-दिग्दर्शन—

आज के युग की सर्वाधिक-महती उपयोगिता है-**'रोटी, और कपड़ा'** । अर्थात् **अन्नवस्त्र**, अर्थात् शास्त्रीय भाषा में-**'योगक्षेमव्यवस्था'**, अर्थात्-सामान्या-व्यावहारिकी भाषा में-दैनिक-जीवन के उपयोग में आने वाले भूत-भौतिक **'भोग्य-पदार्थ'** । दूसरा उपयोगी स्वयं वह **'भोक्ता'** है, जो इन भोग्यों के उपभोग से सम्बन्ध रखता है । तीसरा विवर्त्त **'सन्तति'** रूपा **'प्रजा'** का है । चौथा उपयोगी विवर्त्त-**'पशु-सम्पत्ति'** है, जिसका कृषि में भी उपयोग है, एवं अन्यान्य भी उपयोग हैं । पाँचवाँ उपयोगी वह **लौकिक-ज्ञान** है, जिसके द्वारा भोक्ता भोग्यों से भी अनुगत होता रहता है, एवं प्रजापालन, तथा पशुसंरक्षण में भी सफल बनता रहता है । एवं सर्वान्त का उपयोगी तथ्य है वह-**'नाम'**, जिसकी प्रच्छन्ना बुभुक्षा मानवीय मन का सहज स्वभाव माना गया है, एवं जो नामख्याति **कीर्त्ति, यश**, आदि नामों से प्रसिद्ध है । अलमतिपल्लवितेन । एक लौकिक मनुष्य की लौकिक-कामनाएँ, लौकिक उपयोगिताएँ इन्हीं [1]**भोग्य**-[2]**भोक्ता**-[3]प्रजा [4]**पशु**-[5]**ज्ञान**-[6]**नामख्याति**, इन षड्विध सामान्य-अनुबन्धों पर ही परिसमाप्त हैं, जिनकी सीमा में ही अन्यान्य यच्चयावत् लौकिक उपयोगिताएँ अन्तर्गर्भित हैं ।

१५९-उपनिषदों की सुप्रसिद्धा भार्गवी-वारुणी-विद्या से अनुप्राणिता ६ प्रकार की लोकोपयोगिताओं का आत्यन्तिक-समर्थन—

क्या उक्त लौकिकी-उपयोगिताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है भारतीय तत्त्ववाद का ?, जिस इस हेत्वाभास के माध्यम से ही आज के ये उपयोगितावादी-**'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'** न्याय को सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित करते हुए झटिति अपने इत्थंभूत ही अविचारितरमणीय उद्गार अभिव्यक्त कर

ही तो पड़ते हैं कि-"आज के जनजीवन में परात्पर-परोरजा-अव्यय-अक्षर-ब्रह्म-संस्कृति-आचार-आदि आदि से समन्विता तत्त्वचर्चा की क्या उपयोगिता ?", इति नु सर्वथा इसलिए अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! हीं कि-शास्त्र अपनी तात्त्विकी आत्ममूला संस्कृति के बोध को ही तथाविधा-तथोक्ता लौकिकी उपयोगिताओं के प्रति प्रमुख कारण मान रहा है, जैसाकि-'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते०' इत्यादि लक्षणा भार्गवी वारुणीविद्या से अनुप्राणिता पूर्वनिर्दिष्टा तैत्तिरीय श्रुति के ही निम्नलिखित उपसंहार स्थल से सर्वात्मना प्रमाणित होरहा है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या-परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । य एवं वेद-(सः) प्रतितिष्ठति (प्रतिष्ठितो भवति लोके)। अन्नवान् (भवति), अन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया, पशुभि, र्ब्रह्मवर्चसेन (ज्ञानेन)। महान् (भवति) कीर्त्या (यशसा)।

—तै० उपनिषत्

१६०–षड्विध लौकिक-उपयोगिताओं के मूलाधिष्ठानरूप तीन प्राकृत-विवर्त्त—

उक्त श्रुति का तात्त्विक अर्थ स्पष्टतम है । ये ६ओं फल 'प्राकृतफल' हैं, 'लौकिकफल' हैं । मानव का पुरुषभाग जहाँ एकविध है, वहाँ प्रकृतिभाग तीन महिमाविवर्त्तों में विभक्त हो रहा है, जोकि प्रकृति के तीनों विवर्त्त क्रमशः कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, तथा देशात्मक भूपिण्ड नामों से पूर्वनिर्दिष्ट हैं । ये ही तीनों विवर्त्त मानव के (पुरुष के) क्रमशः बुद्धि, मन, शरीर, नामक तीन प्राकृत विवर्त्त हैं, जिनका दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृतिक उपयोगी-तन्त्रों से ही प्रधान सम्बन्ध माना है उपनिषच्छ्रुति ने ।

१६१–'दैवतानि च भूतानि च' मूलक 'पदम्', और पुनःपदम्', एवं तन्निबन्धन स्पृश्य-पिण्ड, दृश्यमण्डल-भावों का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धी प्राकृत-विवर्त्त—

प्रकृति के ये तीनों हीं विवर्त्त सुप्रसिद्धा तात्त्विकी पदम्, पुनःपदम्, लक्षणा द्विधा विभक्ता परिभाषा से समन्वित होते हुए दो दो अवान्तर भावों में विभक्त हो रहे हैं, जिस इस रहस्यपूर्ण तथ्य के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है । प्रसङ्गसमन्वयात्मिका सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, भारतीय विज्ञानदृष्टि से पाञ्चभौतिक विश्व का प्रत्येक पदार्थ-'**दैवतानि च भूतानि च**' इस श्रुति के अनुसार देवता, और भूत, इन दो भावों का ही समन्वितरूप है । भूत का आधारभूत सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व ही-'देवता' है, जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-नाम से सुप्रसिद्ध पञ्चविध भौतिक-तन्मात्राओं के धामच्छद (स्थानावरोधक) धर्म्म से असंस्पृष्ट रहता हुआ विशुद्ध अधामच्छद तत्त्व है । इसी की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित रहने वाला धामच्छद (स्थान अवरुद्ध करने वाला) स्पृश्यपिण्ड ही 'भूत' है । भूत ही वस्तुपिण्ड है, जिसका आधारभूत-भूतपिण्डहृदयस्थ (केन्द्रस्थ) प्राण उपने हृदयावच्छिन्न उक्थबिम्बरूप से अर्क-रश्मि-रूप में परिणत होता हुआ, अर्करूपा इन्हीं प्राणरश्मियों से भूतपिण्ड को परितः-आसमन्तात् (चारों ओर से, किंवा

सब ओर से) परिवेष्टित करता हुआ, इसी भूपिण्ड को अपना केन्द्रस्थान बनाता हुआ अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है, जो कि प्राणात्मक महिमामण्डल विज्ञानभाषा में **साहस्री-महिमा-वषट्कार-उक्थामद-साम**-आदि विभिन्न अभिधाओं से व्यवहृत हुआ है । इसी प्राणमण्डल का साङ्केतिक नाम है-**'पुनःपदम्'**, एवं प्राणमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित भूतपिण्ड का नाम है-**'पदम्'** । और यों प्रत्येक भौतिक-पदार्थ **प्राण-मण्डल**, तथा **भूतपिण्ड**-रूप से इन **पुनःपदं**, तथा **पदम्**-भावों से नित्य समन्वित रहता है ।

१६२-काल-दिक्-देशात्मक सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-विवर्त्तों के पिण्ड-मण्डल-भाव, और 'उपयोगिता'-

प्राणमण्डलात्मक पुनःपद हीं तद्भूतपिण्ड का ज्योतिर्म्मण्डल है, जिस के माध्यम से ही ज्योतिर्म्मयी प्राणात्मिका रश्मियों के प्रतिफलनात्मक वितानात्मक **'साम'** से वस्तुपिण्ड की आकृति दृश्या बना करती है, जब कि स्वयं वस्तुपिण्डात्मक **पदम्** केवल स्पृश्य ही माना गया है। **भूतपिण्ड ही स्पृश्य बनता है, एवं प्राणमण्डल ही दृश्य बनता है । जिसका हम स्पर्श करसकते हैं, कदापि उसे देख नहीं सकते । एवं जिसे हम देख सकते हैं, कदापि उसका स्पर्श सम्भव ही नहीं है** । दृश्याधिष्ठाता प्राणमण्डलात्मक देवभावापन्न पुनःपदं, एवं स्पृश्याधिष्ठाता भूतपिण्डात्मक भूतभावापन्न पदं, इन दोनों सामान्य--भावों का पूर्वोक्त सूर्य्य–चन्द्र–भू–विवर्त्तों के साथ भी सम्बन्ध हो रहा है, यही प्राकृत वक्तव्य है ।

१६३–कालात्मक सूर्य्य से अनुप्राणित ज्ञान, और यश, दिगात्मक-चन्द्रमा से अनुप्राणित पशु, और प्रजा, तथा देशात्मक भूपिण्ड से अनुप्राणित भोग्य, और भोक्ता, एवं षड्विध लौकिक-उपयोगी-विवर्त्त--

सूर्य्यपिण्ड भूतपिण्ड है, तत्प्राणात्मक महिमामण्डलात्मक ज्योतिर्म्मण्डल ही इसका साममण्डल है, और यही 'पुनःपदम्' है । तथैव चन्द्रमा, और भूविवर्त्त में भी पिण्ड, और मण्डलरूप से दोनों विवर्त्त समन्वित हैं । इन तीनों के प्राणात्मक ज्योतिर्म्मण्डल ही क्रमशः **स्वज्योतिः--परज्योतिः--रूपज्योति**-नामक मण्डल कहलाए हैं । मण्डलात्मक इन तीनों पिण्डों को लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधारेणैव तैतिरीय--उपनिषत् के तथाकथित ६ ओं लोक-विवर्त्तों का समन्वयानुग्रह कीजिए । [1]**भूपिण्ड**, और रूपज्योतिर्म्मय [2]**भौम-मण्डल**, इन दोनों पार्थिव विवर्त्तों से ही क्रमशः [1]**अन्न**, और [2]**अन्नाद**, इन दो भावों का सम्बन्ध है । [1]**चन्द्रपिण्ड**, और रूपज्योतिर्म्मय [2]**चान्द्रमण्डल**, इन दोनों चान्द्र--विवर्त्तों से ही क्रमशः **पशु**, और **प्रजा**, इन दो भावों का सम्बन्ध है । एवमेव [1]**सूर्य्यपिण्ड**, तथा स्वज्योतिर्म्मय [2]**सौरमण्डल**, इन दोनों सौर-विवर्त्तों से ही क्रमशः **ब्रह्मवर्चस्** , तथा **कीर्त्ति**, इन दो भावों का सम्बन्ध है । कैसे है ?, क्यों है ?, इत्यादि जिज्ञासापूर्त्ति का आधार तो एकमात्र चिरन्तना स्वाध्यायनिष्ठा ही मानी जायगी । सैव शरणीकरणीया जिज्ञासुभिः ।

१६४–मानवीय-बुद्धि, मन, शरीर, के साथ तथोक्ता षड्विध उपयोगिताओ का तालिका-माध्यमेन स्वरूप-समन्वय--

प्रकृत में इस निदर्शन से एतावन्मात्र ही निवेदनीय है कि, मानव की [1]**सौरी**-[2]**चान्द्री**-[3]**पार्थिवी** [1]**बुद्धि**--[2]**मनः**--[3]**शरीर**--निबन्धना त्रिविधा प्रकृति ही मानव का [1]**काल**--[2]**दिक्**--[3]**देशात्मक** प्राकृतिक-व्यक्त-मूर्त्त-प्रत्यक्ष-स्वरूप है । प्रत्येक की उपयोगिता के क्षेत्र दो दो भावों में विभक्त हैं । सम्भूय ६

प्राकृत-उपयोग निष्पन्न होजाते हैं, जिन का ही श्रुतिने संक्षेप से सङ्केत कर दिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

प्राकृतिक–उपयोगी–भावानां–मूलभावाः–षड्विधाः—

१	१–सूर्य्यपिण्डः [पदम्-भूतानि] —ब्रह्मवर्चस् २–सौरमण्डलम् [पुनःपदम्-प्राणाः]-कीर्त्तिः	बुद्धितन्त्रानुगतः–कालभावः
२	१–चान्द्रपिण्डः [पदम्-भूतानि]—पशवः २–चान्द्रमण्डलम् [पुनःपदम्-प्राणाः]-प्रजाः	मनस्तन्त्रानुगतः–दिग्भावः
३	१–भूपिण्डः [पदम्–भूतानि]—अन्नम् २–पार्थिवमण्डलम् [पुनःपदम्-प्राणाः]-अन्नादः	शरीरतन्त्रानुगतः–देशभावः

दिग्देशकालानुगताः–व्यक्तभावाः–उपयोगितावादसमर्थकाः—

१–ब्रह्मवर्च्चस्--[भोगसाधनभूता–ज्ञानशक्तिः] २–कीर्त्तिः——[भोगफलात्मिका–नामख्यातिः]	सौरी–उपयोगद्वयी
१–पशवः——[कृषि-वाणिज्यादि-साधकाः] २–प्रजाः——[पुत्र-पौत्रादयः-सन्तानभावाः]	चान्द्री–उपयोगद्वयी
१–अन्नम्——[भोग्यपदार्थाः–भूतभौतिकाः] २–अन्नादः——[भोक्तारो मानवाः]	पार्थिवी–उपयोगद्वयी

१६५–षड्विध प्राकृत उपयोगिताओं की मूलप्रतिष्ठारूप महान् उपयोगी अव्ययात्मब्रह्म–

प्रासङ्गिकरूपेण समुपस्थिता उपयोगिता–अनुपयोगिता की तथोक्ता मीमांसा के अनन्तर किसी भी प्रज्ञाशील, किन्तु ईश्वरनिष्ठ मानवश्रेष्ठ को तो भारतीय **सांस्कृतिक-निधि** के सम्बन्ध में इत्थंभूत अनार्षभावापन्न **उपयोगितावाद** का प्रश्नोत्थान भी मलीमस ही प्रतीत होगा। अतएव इस प्रासङ्गिक–प्रसङ्ग को अत्रैव उपरत कर हम पाठकों का ध्यान पुनः मानव की उस '**मानवता**' की ओर ही आकर्षित करना चाहते हैं, जिसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, **पार्थिव-शरीर**, **चान्द्र-मन**, एवं **सौरी–बुद्धि**, इन तीन प्राकृत–तन्त्रों से कदापि मानव तबतक '**मानव**' अभिधा का तो उपभोक्ता नहीं बन सकता, जबतक कि, वह इन तीनों प्राकृत तन्त्रों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले **अव्ययात्मब्रह्म** को इन तीनों की प्रतिष्ठा नहीं बना लेता।

१६६–अव्ययात्मनिबन्धन 'मानव' की 'मानवता' से अनुप्राणित भारतीय आचार–निष्ठापथ, और तन्निबन्धन मूल–तूल–भेदात्मक राष्ट्रीय–साहित्य का (त्रयीवेद-मूर्त्ति भारताग्नि) राष्ट्रदेवताके पावन–चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पण–

जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध, रहस्यपूर्ण, किन्तु ऋजुतम (सरलम) उपायविशेष से '**मानव**' की '**मानवता**' के एकमात्र मापदण्ड उस '**अव्ययात्मा**' की स्वस्वरूपेण अभिव्यक्ति सम्भव बन जाया करती है, वही उपायविशेष '**आचारनिष्ठा**' नाम से प्रसिद्ध है। त्रिसहस्रवार्षिकी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से इत्थंभूता जो आचारनिष्ठा भारतीय-भावुक–प्रज्ञा के लिए सर्वात्मना विस्मृति-पथानुगामिनी हीं बन गई है, सर्वनाशकारिणी उसी भावुकता के निरोध के लिए, एवं तत्स्थाने च मतवाद–सम्प्रदायवादादि दिग्देशकालानुबन्धों से सर्वथैव असंस्पृष्टा मानवीया आचारनिष्ठा के आंशिक–आराधन के लिए ही **राष्ट्रभाषा–हिन्दी** में हमने राष्ट्रदेवता के पावन चरणों में **मूल-तूल**–भेदेन द्विधा विभक्त शब्दप्रसून अत्यन्त प्रणतभाव से आस्था–श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देना अपना वर्णोचित आचार ही मान लिया है।

१६७–तत्त्वस्वरूपविश्लेषणात्मक 'मूलसाहित्य', एवं आचारस्वरूप–विश्लेषणात्मक 'तूल-साहित्य', तथा तदनुबन्धिनी उपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

मूलसाहित्य तत्त्वविश्लेषणात्मक, एवं तूलसाहित्य आचारविश्लेषणात्मक है। कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, मूलसाहित्य की तत्त्वचर्चा आचार से, तथा तूलसाहित्य की आचारचर्चा तत्त्व से सर्वात्मना पृथक् है। अपितु इन दोनों हीं साहित्यों में गौण–प्रधान–रूपेण दोनों हीं दृष्टिकोणों का यथाशक्य अनुगमन हुआ है। अशीतिसहस्रपृष्ठसंख्या में अबतक सम्पन्न मूलसाहित्य के सम्बन्ध में हमें यह निवेदन कर देने में कोई संकोच नहीं होरहा कि, इस विस्तृत–साहित्य की उपयोगिता का प्रधान क्षेत्र संस्कृति के स्वाध्यायनिष्ठ परिगणित-विशेषवर्ग से ही अनुप्राणित है। विलुप्तप्राया ज्ञान–विज्ञानात्मिका परिभाषाओं के तात्त्विक स्वरूप–विश्लेषण से ही प्रमुखरूपेण सम्पन्न यह मूलसाहित्य सर्वसामान्य की '**उपयोगिता**' का सर्वात्मना समर्थन तबतक तो नहीं हीं करसकता, जबतक कि, सर्वसामान्यवर्ग अपनी इस मूलनिधि के पारम्परिक–तत्त्वानुगत–आचारात्मक स्वरूप के बोध से समन्वित होता हुआ तत्प्रति जिज्ञासु नहीं बन जाता।

१६८–सामयिक-उपयोगितावाद से अनुप्राणित तूलसाहित्य, एवं तदनुगत चिन्तन-स्वाध्याय, तथा आचारण से अनुगता निष्ठा से ही सम्भावित राष्ट्र-अभ्युदय—

सर्वसामान्य की जिज्ञासा जागरूक करने जैसे पावन, माङ्गलिक उद्देश्य से ही हमनें–मूलसाहित्य के आधार पर, उन्हीं श्रौत–स्मार्त्त–पौराणिक–तात्त्विक–सन्दर्भों के प्रासङ्गिक–विश्लेषण–के माध्यम से **'सामयिक-उपयोगितावाद'** की दिग्देशकालानुगता मान्यता का समादर करते हुए उद्बोधनात्मक **सामयिक-साहित्य** सङ्कलित किया है, जो अपने विगत पञ्चवर्षीय काल में अबतक षट्सहस्रपृष्ठानुगत बन चुका है, जिस में अनुमानतः चार-सहस्रपृष्ठात्मक साहित्य तो यही प्रक्रान्त निबन्ध है, जिसका कि चतुर्थखण्ड पाठकों के समक्ष उपस्थित है। एकसहस्रपृष्ठात्मक **'भारतीय सांस्कृतिक आयोजन'** नामक निबन्ध है। तदतिरिक्त कतिपय सामान्य (छोटे) निबन्ध हैं। और यही उद्बोधनात्मक-प्रस्तुत–सामयिक (तूल) साहित्य का स्वरूप-दिग्दर्शन है। इन सामयिक–निबन्धों के सम्बन्ध में आत्मनिष्ठापूर्वक, किन्तु अत्यन्त ही प्रणतभाव से हमें यह निवेदन कर देने की भी धृष्टता कर ही लेनी पड़ रही है कि, यदि इन निबन्धों में से एक भी खण्ड के प्रति आद्योपान्तरूपेण पाठकों का ध्यान आकर्षित होगया, तो निश्चयेन दिग्देशकालानुन्धी वर्त्तमानयुगानुगत यत्रयावत् आपात-रमणीय विजृम्भणों की उपेक्षा कर वे असंदिग्धरूपेण अपने राष्ट्र की मूलनिधि के **चिन्तन-स्वाध्याय**, तथा आचरण की ओर प्रवृत्त हो ही जायँगे।

१६९–पुनःप्रक्रान्ता प्रकाशनप्रवृत्ति से अनुप्राणित 'तत्त्वशोध-संस्थान' का दिग्देश-कालानुबन्धी कृतज्ञता-ज्ञापन

सचमुच ही भावुकता को प्रतिक्षण बल प्रदान करने वाले दिग्देशकालव्यामोहनने हीं आज हमें अपनी मूलनिधि, मूलसंस्कृति, एवं आचारादि से निरतिशयरूपेण पराःपरावत ही प्रमाणित कर दिया है। दिग्देशकाल-भावों के इसी व्यामोहन के प्रति भारतीय-प्रज्ञा के व्याज से विश्वमानवों को ही जागरूक कर देने की मङ्गल-कामना से निबन्ध में–**'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रस्तुत चतुर्थखण्ड समाविष्ट होगया है, जो कि **'सत्तासापेक्षकालानुग्रह'** से ही आज प्रकाशित होरहा है, जिस **सत्तासापेक्षतानुगता-प्रकाशन--प्रवृत्ति** के सम्बन्ध में भी **कृतज्ञता–ज्ञापन** के रूप में किञ्चिदिव निवेदन कर देना दिग्देशकालधर्म्मसम्मत ही मान लिया जायगा।

अनुमानतः तीन वर्ष पूर्व हमारी शारीरिक–अस्वस्थता के अनुबन्ध से सुहृद्वर माननीय डॉ० **श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल** महाभाग के प्रयास से प्रस्तुत–साहित्य की प्रकाशन–प्रचारादि–व्यवस्थाओं के कालिक–अनुबन्धों के आधार पर (सामयिक विधि-विधानों के आधार पर)–**'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान–जयपुर'** नामक संस्थान अभिव्यक्त हुआ, जिसे त्रिंशत्सहस्रात्मक प्राथमिक, और अयाचितप्राय ही सहयोग हमारे चिरन्तन उन सांस्कृतिक–सहयोगियों से ही उपलब्ध हुआ, जिनके द्वारा सदा से ही

---

*–संस्थान की कार्य्यप्रगति के लिए आरम्भ में **सर्वश्री माननीय कुडीलालजी सेकसरिया, स० मा० श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका** तथा **स० मा० जगदीशप्रसादजी सेकसरिया** से तीसहजार का सात्त्विक सहयोग बिना किसी **सन्धा** (शर्त्त) के उपलब्ध हुआ था।

हमारी सांस्कृतिक-प्रवृत्तियाँ गच्छतः-स्खलनरूपेण अद्यावधि प्रक्रान्त रहीं हैं। एवं भविष्य में भी प्रक्रान्त रहेंगी। इसी प्राथमिक निधि से संस्थान ने एक ओर प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रान्त की, एवं दूसरी ओर संस्थान के न केवल मन्त्री ही, अपितु इसके सर्वस्वभूत श्रीवासुदेवशरण महाभागने सर्वप्रथम **'राजस्थान--सत्तातन्त्र'** के प्रति आवेदन-निवेदन समर्पित किए कार्य्यरूपरेखा के माध्यम से।

अनुमानतः २५०० (पचीससौ) पृष्ठात्मक साहित्य के प्रकाशन में, तत्त्वस्वाध्यायजिज्ञासु कतिपय छात्रों की छात्रवृत्तिपरम्परा में, तथा अन्यान्य-कार्य्यालयादि परिशिष्टव्ययों में एक वर्ष में हीं वह प्राथमिक निधि परिसमाप्त होगई, जिससे मन्त्रीमहाभाग का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। सम्भवतः इसी चिन्ता से परित्राण प्राप्त करने के लिए आपने भारतराष्ट्र के महामहिम परमसम्मान्य **राष्ट्रपति महाभाग** का ध्यान इस संस्थान की ओर आकर्षित किया। और राष्ट्रपतिमहाभागने राष्ट्रपतिभवन में **पञ्चदिवसीय व्याख्यान-माला** के आधार पर इस कार्य्य की उपयोगिता अनुभूत करने का निःसीम अनुग्रह अभिव्यक्त किया। एवं अनुग्रहपूर्वक आपने संस्थान के-**'प्रधान-संरक्षक'** बन जाने की स्वीकृति से संस्थान को उपकृत किया।

किन्तु अनेक दैशिक-कालिक-मम-विषय-समस्याओं के कारण संस्थान की कार्य्यप्रगति में आचारात्मिका प्रेरणा कार्य्यन्वित न होसकी निरन्तर दो वर्षपर्य्यन्त, जबकि संस्थान के सम्मान्य मन्त्री महाभागने इस अवधि में यत्र तत्र अनुधावन में, विशेषतः **'राजस्थानसत्ता'** द्वार के प्रति पुनः-पुनः अनुधावन में कोई न्यूनता नहीं की। अन्ततोगत्वा उत्तरप्रदेश के प्रधानमन्त्री संस्कृतिनिष्ठ माननीय सर्वश्री **डॉ० सम्पूर्णानन्दजी** महाभाग का ही ध्यान (गत मार्चमास में) संस्थान में प्राथमिक सहायता के रूप से आकर्षित हुआ। आपके इस प्राथमिक अनुदान की ओर जब राजस्थानसत्ता का ध्यान आकर्षित किया गया, तो इसके प्रधानमन्त्री माननीय सर्वश्री **मोहनलालसुखाड़िया** जो महाभाग ने भी श्रीवासुदेवशरणमहाभाग की त्रिवार्षिकी सतत-आवेदन-निवेदन-प्रवृत्ति पर अनुग्रह करते हुए ही अमुक प्राथमिक सहयोग-प्रदान के आदेश की अभिव्यक्ति से संस्थान को उपकृत किया, जिसके लिए संस्थान दोनों हीं सत्ताधीशों के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य मान रहा है। इसी प्राथमिक-अनुदानद्वयी के माध्यम से अब अप्रैल सन् ५८ से संस्थान का प्रकाशन कार्य्य पुनः प्रक्रान्त हुआ है, जो विगत दो वर्षों से सर्वात्मना अवरुद्ध होचुका था।

२७०-संस्थान की भौतिक प्रवृत्ति के एकमात्र संवाहक संस्थान के सम्मान्य मन्त्रीमहाभाग, एवं तत्प्रेरणयैव सांस्कृतिक-साहित्य-प्रकाशन को जागरूकता—

दिग्देशकालधर्म्मानुगत उक्त संस्थान की बाह्य-मूर्त्त-सभी व्यवस्थाओं का प्रधान उत्तरदायित्व हमने (योग्यता के अभाव से) संस्थान के मन्त्रीमहाभाग से ही समन्वित मान लिया है। अतएव उनके इङ्गिताधार पर ही संस्थान की प्रवृत्तियाँ प्रक्रान्त हैं। प्रस्तुत **'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रथम-प्रकाशन नवीन-(अनुदान की अपेक्षा) डॉ० शरणमहाभाग की प्रेरणा का ही सुपरिणाम है। तदन्तर आप ही के परामर्श से दूसरा प्रकाशन-**'शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य'** नामक प्रकाशनानुगामी बनने जारहा है। तदनन्तर संस्थान जैसा, जो प्रकाशन अभीप्सित मानेगा, वही यथाकाल समुपस्थित होजायगा।

१७१–दिग्देशकालानुबन्धी प्रयासों का समादर, किन्तु सांस्कृतिक मौलिक-स्वरूप-संरक्षण के लिए अपेक्षिता सर्वनिरपेक्षा स्वाध्याय-निष्ठा का ही श्रुति के द्वारा समर्थन—

'**अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः**' न्याय से सामयिक-विधि-विधानात्मक, अतएव एकान्ततः दिग्देश--कालानुबन्धी, अतएव सत्तातन्त्रादि-सापेक्ष, अतएव च-'**तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः**' इत्यादि पूर्वोक्त श्रौत आदेश से सर्वथा ही प्रतिरूप इत्थंभूत प्रयास भी यद्यपि समादरणीय ही मान लिए जायँगे–युगधर्म्मानुबन्ध से। तथापि भारतीय **संस्कृति, तदाचार, तदायोजन,** नामक तीनों **श्रौत–स्मार्त्त–पौराणिक**–सांस्कृतिक विवर्त्त तो एतद्देशीय ब्राह्मण की आत्मसाद्यनुगता--तत्रैव प्रतिष्ठिता **बुद्धयनुगता चिन्तनधारा, मनोऽनुगता स्वाध्यायधारा,** तथा **शरीरानुगता आचारधारा,** इन तीनों की सह--समन्वयात्मिका, सर्वनिरपेक्षा, गुहानिहित-वृत्यनुगता ऐकान्तिकी--निष्ठा से ही अनुप्राणित माने गए हैं। बिना ऐसा किए तथोक्त--कालिक--अनुबन्धों से तात्कालिकरूपेण कण्डूमात्रोपशान्ति के अतिरिक्त और कोई भी नैष्ठिक परिणाम कदापि नहीं निकल सकता। **चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण**---निष्ठ सांस्कृतिक वर्ग के द्वारा ही जनतन्त्र की सांस्कृतिक-आचारनिष्ठाएँ व्यवस्थित रहा करतीं हैं। अतएव एवंविध **सांस्कृतिकवर्ग,** तथा तदनुवर्त्मा आस्थाश्रद्धाशील **जनतन्त्र,** इन दो महान् स्तम्भों के आधार पर ही यह राष्ट्रीया निधि अभ्युदय–पथानुगामिनी बन सकती है। बनी है इन्हीं दोनों स्तम्भों के आधार पर पुरायुगों में। और आज सांस्कृतिक--निष्ठा की दृष्टि से तो इन्हीं दोनों स्तम्भों का उद्बोधन–जागरण अपेक्षित है प्रमुखरूपेण, एवं सर्वतोभावेन।

१७२–'राजा कालस्य कारणम्' मूला सापेक्षता का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना सांस्कृतिक-समृद्धि—

तदर्थ ही तो हमने इस '**राष्ट्रीय-साहित्य**' का **मूल–तूल**–रूपेण द्विधा वर्गीकरण किया है। **मूल-साहित्य** जहाँ **राष्ट्रीय** विद्वद्वर्ग के प्रति–**आस्थापूर्वक** समर्पित है, वहाँ तूलसाहित्य **राष्ट्रीय जनतन्त्र** के प्रति **श्रद्धापूर्वक** अर्पित है। रही बात **सत्तातन्त्र** की, तो तत्सम्बन्ध में तो–'**राजा कालस्य कारणम्**' समाधान ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा। मनःशरीरानुबन्धिनी तात्कालिकी सभ्यताओं प्रति सापेक्ष सत्तातन्त्र के उदार मनोभावों के समाश्रय के बिना तो कदापि राष्ट्रीया संस्कृति अपने पूर्णाभिव्यक्तित्त्व से श्रद्धा (व्यक्त)–भावानुगता नहीं हीं बना करती, जैसाकि-'**यद्यु राजानं लभेत, समृद्धं तत्**' इत्यादि रूपेण पूर्व के मैत्रावरुणग्रह-श्रुतिसन्दर्भ के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। और सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन एकमात्र इसी सांस्कृतिक-समृद्धि के उद्देश्य से संस्कृतिनिष्ठ माननीय वासुदेवशरण महाभाग ने अपने उक्त **वैदिक-संस्थान को-'सत्तासंरक्षण'** से समन्वित किया भी है, जिसकी युगधर्म्मानुगता सफलता के प्रति आज भारतराष्ट्र का प्रत्येक संस्कृतिनिष्ठ मानव आशा–प्रतीक्षोन्मुख ही बना हुआ है।

१७३–पारिशेष्यात् व्यक्तित्त्वनिबन्धना अभिव्यक्ति, एवं-तदनुबन्धिनी'-उक्थवैराजिक' अभिधा की स्वरूप-दिशा का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन—

अब पारिशेष्यात् शेष रह जाना है यह साहित्यसेवी–भारतीय ब्राह्मण, जिसे अपने सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त किञ्चिदिव तो स्पष्टीकरण कर ही देना है, जिससे कि नीरक्षीरविवेक–चतुर, लोकप्रज्ञ सामयिक–

महानुभावों को हमारे व्यक्तितन्त्र से अनुप्राणित **'मानवाश्रम'** के सम्बन्ध में यातयामात्मिका आलोचना-प्रत्यालोचनाओं के लिए भविष्य में कष्ट न उठाना पड़े। **'भारतीय हिन्दू-मानव की भावुकता'** के स्वरूप-साक्षात्कार के साथ ही हमारा ध्यान-**'मानव'** के स्वरूप की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुआ, एवं साथ ही इस लक्षीभूत **'मानवस्वरूप'** के अनुपात से ही इसकी—**आचारनिष्ठात्मिका** (**व्यावहारिकी**) **'जीवनपद्धति'** की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित होपड़ा। एवं इस आकर्षण के आधार पर ही मानव की ज्ञानविज्ञान-समन्विता सहज जीवनपद्धति से सम्बन्ध रखने वाली उस आर्ष-अभिधा की भी सहजरूपेणैव अभिव्यक्ति होपड़ी, जो कि अभिधा तात्त्विकी परिभाषा में-**'उक्थवैराजिक'** नाम से प्रसिद्ध है।

१७४-हिरण्यगर्भ, और सर्वज्ञ से समन्वित विराट्-प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, उसकी 'उक्थ' रूपता, तदनुबन्धी 'उक्थविराट्', एवं तत्समतुलित 'मानव'—

स्थावर-(जड़)-जङ्गम (चेतन)-भावापन्न यह पाञ्चभौतिक महाविश्व जिस त्रिमूर्त्ति, विश्वेश्वर-प्रजापति की महिमा का विस्तार है, वही प्रजापति **'विराट्'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस विराट्तेज की अभिव्यक्ति हिरण्यगर्भात्मक-सर्वज्ञ-भाव के द्वारा हुआ करती है। यों सम्पूर्ण विश्व का मूल हिरण्यगर्भ-एवं **सर्वज्ञ**-से नित्य समन्वित **'विराट्प्रजापति'** ही प्रमाणित होरहे हैं। अवश्य ही सर्वव्यापक विश्व-व्यापक-विश्वेश्वर-विश्वात्मा-विश्वचर इस प्रजापति का कोई न कोई केन्द्रात्मक वैसा मूलबिम्ब भी होना हीं चाहिए, जिससे चारों ओर प्राणार्क (प्राणरश्मि) रूप से इसकी महिमा का विस्तार होरहा है। विराट्प्रजापति का वही नभ्य-केन्द्रिय-गर्भात्मक-सूक्ष्मतम, अतएव परोक्षतम गुहानिहित स्वरूप उसी साङ्केतिक परिभाषा के अनुसार-**'उक्थम्'** नाम से प्रसिद्ध है। इसी मूलबिम्ब से अर्कात्मिका प्राणरश्मियों का आसमन्तात् मण्डलरूपेण क्योंकि वितान-आतान-प्रसार-विस्तार-होरहा है, दूसरे शब्दों में इसी प्राजापत्य केन्द्रीय मूलबिम्ब से विश्व के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त भाव क्योंकि समुत्थित, उद्भूत, अभिव्यक्त हैं, अतएव-**'यत उत्तिष्ठन्ति सर्वे भावाः'** निर्वचन से इसे अवश्य ही '-क्थम्' कहा जासकता है। अपने सुसूक्ष्म केन्द्रभाव से यद्यपि वह उक्थ **'अणोरणीयान्'** है, तथापि अपने महिमाविस्तार से यही क्योंकि **'महतोमहीयान्'** भी है, अतएव इस उक्थ को-**'विराट्'** कहना भी अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है। जिसकी कोई इयत्ता नहीं, दिग्देशकाल जिसके कदापि मापदण्ड नहीं बन सकते, ऐसा है वह **'उक्थरूप विराट्'**, यही है विश्वाधिष्ठाता दिग्देशकालातीत प्रजापति। और सम्पूर्ण विश्व में इस उक्थात्मक विराट् प्रजापति का सर्वात्मक प्रतिरूप है एकमात्र **'पुरुष'**, अर्थात् **मानव**, जैसा कि—**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** इत्यादि से प्रसिद्ध है।

१७५-मानवेतर प्राणियों की-'अर्कवैराजिक', तथा मानव की-'उक्थवैराजिक' अभिधाओं का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन—

स्वतन्त्र पुरुषार्थ-प्रवर्त्तक, अतएव **'पुरुष'** अभिधा से सुप्रसिद्ध मानव उसी उक्त विराट्-मूर्त्ति प्रजापति का निकट का अपत्य, किंवा प्रतिमानात्मक प्रतिरूप है, अतएव इसे **'विराट्पुत्र'** कहा जासकता है। मर्त्यभावापन्न विश्व का अध्यक्ष उक्थविराट् क्योंकि-**'अमृतम्'** है, जरामरणरहित है, शाश्वत-सनातन है, अतएव तत्पुत्र मानव को भी अवश्य ही **'अमृतस्य पुत्रा अभूम'** इत्यादि के अनुसार **'अमृतपुत्र'**, अर्थात् **'सनातन'** हीं माना जायगा। अमृतविराट् की पूर्णाभिव्यक्ति के अनुबन्ध से ही इस मानव को **'वैराजिक'** (विराट् की

अभिव्यक्ति) कहा जायगा। यों '**ईश्वरोक्थविराट्**' से अभिन्न 'मानव'–'**मानवोक्थवैराजिक**' अभिधा से समन्वित होरहा है। मानवेतर विश्व के जड़-चेतनात्मक यच्चयावत् पदार्थ जहाँ ईश्वरीय-विराट् की शाश्वत अभिव्यक्ति (पूर्णाभिव्यक्ति) न होकर उस उक्थविराट् से '**सहस्रधा–महिमानः सहस्रम्**' रूपेण असंख्य रूपेण आसमन्तात्–विनिर्गता-व्याप्ता अर्कात्मिका रश्मिभावों से ही समन्वित हैं, वहाँ एकमात्र मानव हीं साक्षात् उक्थविराट् से अनुप्राणित है। अतएव अन्य सर्गों को जहाँ '**अर्कवैराजिक**' कहा जायगा, वहाँ-'**उक्थवैराजिक**' उपाधि का सम्मान तो एकमात्र मानव को ही उपलब्ध होगा।

१७६–समदर्शी विराट्प्रजापति के विषम-सृष्टिसर्गों के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं तत्समाधाता-'ब्रह्मोद्य' शब्द—

क्यों ? । समदर्शी विश्वेश्वर के विश्वप्राङ्गण में **मानव**, और **तदितर** वर्गों में इत्थंभूत वैषम्य क्यों ? । उत्तर उसी प्रजापति के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है। इसलिए कि, इस क्यों का जो भी कोई आलोचना-प्रत्यालोचनात्मक उत्तर होगा, उसका शब्दात्मिका उस वैखरी वाणी से ही सम्बन्ध रहेगा, जो वाणी दिग्देश-कालात्मिका व्यक्ता-मूर्त्ता भूतभौतिकी-'**विकृति**' लक्षणा प्रकृति से ही अनुप्राणिता है। प्रश्न का तात्त्विक-समाधान तो उस दिग्देशकालातीत विराट्पुरुष की स्वरूपस्थिति से ही अनुप्राणित है, जिसके सम्बन्ध में-'**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' यही सिद्धान्त है। अतएव तत्सम्बन्ध में कोई भी शब्दात्मक समाधान कदापि सम्भव है ही नहीं। हाँ, एक उपाय ऐसा अवश्य है, जिसके अनुगमन से कालान्तर में यह एक प्रश्न ही क्या, इत्थंभूत सभी प्रश्न सहजरूपेणैव समाहित होजाते हैं। उसी महत्त्वपूर्ण उपाय का नाम है—'**ब्रह्मोद्य**'।

१७७–'ब्रह्मोद्य' शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय—

प्रकृतिसिद्ध–तत्त्वार्थों के समन्वय से अनुप्राणित, चिन्तन–स्वाध्याय, तथा आचारात्मक ज्ञानविज्ञान–सिद्ध तत्त्वों के सम्बन्ध में तत्त्वनिष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ-विचारकों की संसत् में प्रक्रान्त विचारविमर्श ही-'**ब्रह्मोद्य**' कहलाया है, जिस का सरल अर्थ है- **ब्रह्मविचार** । रहस्यपूर्ण तत्त्व की एक पारिभाषिक संज्ञा-'**ब्रह्म**' भी मानी गई है *। वैसे भी गुह्यतम–सुसूक्ष्म प्रधान तत्त्व क्योंकि–'ब्रह्म' (विराट्प्रजापति) ही है। इसलिए भी 'ब्रह्म' शब्द तत्त्वानुगत बन गया है। भारतीय तत्त्वनिष्ठ, तथा आचारनिष्ठ ऋषिगण क्यों ?, कैसे ?, कहाँ ?, किससे ?, आदि आदि तात्त्विक प्रश्नों के समन्वय के लिए चिन्तन–स्वाध्याय–आचारात्मक विचारविमर्श का ही अनुगमन किया करते थे, तद्द्वारा ही, इस उपाय से ही प्रश्न समाहित होते थे। वही सुप्रसिद्ध-चिन्तन–प्रकार '**ब्रह्मोद्य**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है–(देखिए शत० १४।६।८।१।)।

१७८–'ईश्वरोक्थवैराजिक' का प्रतिरूप-'मानवोक्थवैराजिक,' एवं मानवानुबन्धी उक्थवैराजिक के सिध्द, साध्य-रूप दो विवर्त्त—

अलौकिक, **ईश्वरोक्थवैराजिक**, तथा लौकिक **मानवोक्थवैराजिक**, इन दोनों का ही साम्य क्यों हैं ?, इस 'क्यों ? का उत्तर तथोक्त '**ब्रह्मोद्य**' (तत्त्वविमर्श)' पर ही अवलम्बित है। प्रकृतिसिद्ध तत्त्वविवेक

---

*'**गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**' इत्यादि महाभारतीय वचन में 'ब्रह्म' शब्द रहस्यपूर्ण सुगुप्त–(परोक्ष) तत्त्व के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

के माध्यम से हमें सहजरूपेणैव प्रकृतिमूलक वर्गभेद के प्रति अपनी आस्थाएँ समर्पित कर ही देनीं पड़तीं हैं। इसी तथ्य के आधार पर अब हम मानवीया तत्त्वपूर्णा अभिधा के साथा-'**ब्रह्मोद्य**' शब्द का सम्बन्ध भी अनिवार्य्य मान लेते हैं। निष्कर्षतः अब इस आर्ष-अभिधा का सर्वाङ्गीण नाम होजाता है-'**मानवोक्थ-वैराजिकब्रह्मोद्य**', जिस का लोकमान्यतामात्र के संरक्षण के लिए अभी यही अक्षरार्थ-समन्वय पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि,-जहाँ जिस क्षेत्र में मानव के उक्थवैराजिक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली चिन्तन-स्वाध्याय-तथा आचारणात्मिका तत्त्वविचार-प्रणाली प्रक्रान्त हो, उसी क्षेत्र का नाम '**मानवोक्थवैरा-जिकब्रह्मोद्य**' है।'**मानवोक्थवैराजिक**' सिद्ध तत्त्व है, एवं-'**मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य**' साध्यभाव से अनु-प्राणित है।

१७६-छन्दोभ्यस्तानुगता 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' अभिधा का संस्कृतभाषानुगत-'मानवाश्रम'--नाम-समन्वय—

अवश्य ही पारिभाषिक-श्रौत तत्त्वों के विस्मृतप्राय हो जाने से आज तथाकथिता '**क्षेत्र-अभिधा**' सर्व-साधारण की कौन कहे, विद्वानों के लिए भी दुःसाध्या ही प्रमाणित होसकती है। इसे सुसाध्या बनाने की कामना से ही हमने तथोक्ता वैदिकी-पारिभाषिकी-अभिधा के साथ साथ उपनाम-मर्य्यादया सर्वसाधारण के लिए सुपरिचित '**मानवाश्रम**' नाम का सम्बन्ध समन्वित कर लिया है।

१८०--'आश्रम' शब्द की लोकप्रचलिता भावुकतापूर्णा-स्वरूप-व्याख्या—

जिसप्रकार ज्ञान-विज्ञान-सिद्ध सहस्रों तात्त्विक-शब्द मतवादात्मक-सम्प्रदायवादों की मान्यतानुगता व्याख्याओं के वारुणपाशबन्धन से अपने वास्तविक तत्त्वार्थों से पराङ्मुख होते आरहे हैं विगत तीन सहस्र वर्षात्मक दिग्देशकालव्यामोहनात्मक युगों से, तथैव '**आश्रम**' शब्द भी आज अपनी तत्त्वार्थता से सर्वथैव पराङ्मुख होगया है। जगन्मिथ्यात्त्वमूला-संसारासारात्मिका-दीनता-हीनता आदि से समन्वित, मलिम्लुच-पाप्माओं से आसमन्तात् परिवेष्टित, शून्य-भावों से अनुगत, पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रीय-लोक-तन्त्रों से सर्वथैव असंस्पृष्ट, शून्यं-शून्यं लक्षणे निर्ज्जने प्रान्ते अवस्थित, केवल परलोकचिन्तन-क्षेत्रात्मक, अमुक कल्पित स्थान-विशेषों का नाम हीं आज-'**आश्रम**' शब्द से अभिव्यक्त मान लिया गया है। इसी कल्पित मान्यता से आचारनिष्ठात्मक, सर्वाश्रममूर्द्धन्य उस-'**गृहस्थाश्रम**' का समस्त लोकाभ्युदयपक्ष सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन गया है, जिस अन्तर्म्मुखता के स्वरूपेतिवृत्त-विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। यहाँ तो हमें दो शब्दों में 'आश्रम' शब्द के तात्त्विक अर्थ की ओर ही दिग्देशकालप्रेमी तथाविध **आश्रमभक्तों** का ध्यान आकर्षित करा देना है।

१८१-पारिभाषिक तथ्यों की विस्मृति के दुष्परिणाम, एव भारतीय तात्त्विक शब्दों के 'अर्थ' के स्थान में अनर्थ-परम्पराओं का आविर्भाव—

अपने सापेक्षभावानुबन्धी अनेक अपेक्षाभावों से सहजरूपेणैव समन्वित '**आश्रम**' शब्द '**नित्य-सापेक्ष**' बन रहा है, जिस की यह सापेक्षता उसी तथाकथित 'ब्रह्मोद्य' नामक अत्यन्त रहस्यपूर्ण, अतएव सुसूक्ष्म तत्त्वसमन्वय पर ही अवलम्बित है, जिस तत्त्वसमन्वय का आज के उपयोगितावादी अपने व्यावहारिक--

जन–जीवन में कोई उपयोग नहीं मान रहे । सम्पूर्ण–उपयोगिताओं के आधार–स्तम्भरूप उस 'ब्रह्मोद्य' से अपरिचित रह जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि, आज तत्स्तम्भ पर प्रतिष्ठित तत्तच्छन्दों का अक्षरार्थबोध भी जनजीवनोपयोगितावादियों की प्रज्ञा से सर्वथैव पराङ्मुख होगया है । फलस्वरूप सभी शब्द अपनी तत्त्वार्थमर्य्यादाओं से वञ्चित होकर काल्पनिक अर्थों से समन्वित होते हुए अर्थ के स्थान में अनर्थ–परम्पराओं का ही सर्ज्जन करते जारहे हैं । **शब्द, और अर्थ के औत्पत्तिक-सम्बन्ध*** से अनुप्राणित भारतीय शब्द इतर भाषाओं की भाँति केवल साङ्केतिक-यदृच्छात्मक काल्पनिक शब्द नहीं हैं । अपितु प्रत्येक सांस्कृतिक शब्द अपनी **स्वर–वर्ण–पद–वाक्य–उपसर्ग–निपात–धातु–प्रकृति–प्रत्ययादि** की सच्छन्दस्का प्रकृतिसिद्धा ज्ञानविज्ञानात्मिका मर्य्यादा से ही नित्य समन्वित है, जिस के साथ दिग्देशकालानुबन्धिनी यत्किञ्चित् भी (मान्यतानुगता) कल्पना का समावेश होजाने से तच्छब्द का अर्थ सर्वथा अनर्थरूप में हीं परिणत होजाता है, और अनर्थात्मक वही शब्द **इष्ट** के स्थान में **अनिष्ट** का ही, **जनजीवन** के स्थान में **जनमृत्यु** का ही कारण बन जाया करता है ×। **'छन्दोभ्यस्ता'** नाम से प्रसिद्धा तत्त्वात्मिका वेदभाषा के इत्थंभूत सांस्कृतिक शब्दों के आधार पर ही अभिव्यक्त होने वाले, 'ब्राह्मी' भाषा नाम की **'सुरभारती' (संस्कृतभाषा)** के शब्द भी इसी तथाकथित तथ्य से समन्वित माने गए हैं, जैसा कि पाठक **'आश्रम'** शब्द, तथा तत्सापेक्ष अमुक शब्दों के तत्त्वानुगत निर्वचन के आधार पर स्वयं ही अनुभूत कर लेंगे । वैसे संस्कृतभाषा का सुप्रसिद्ध यह–**'आश्रम'** शब्द भी मूलतः वेदभाषा का ही शब्द है (देखिए–**गोपथब्राह्मण** १।२।८) । तथैव तत्सापेक्ष अन्य अमुक शब्द भी ।

१८२–सापेक्ष-'आश्रम' शब्द की मूलप्रतिष्ठारूप चतुष्पर्वा–षोडशकल-षोडशी-प्रजापति का पावन–संस्मरण—

'ईश्वरोक्थगौराजिक' अभिधा से समन्वित जिस विश्वेश्वर विराट्प्रजापति का पूर्व में यशोगान हुआ है, वह 'प्रजापति' अपनी अमुक तत्त्व-मर्य्यादा से 'षोडशी' नाम से प्रसिद्धा हुआ है । एककल, अतएव निष्कल **परात्पर**, पञ्चकल **अव्यय**, पञ्चकल **अक्षर**, एवं पञ्चकल **क्षर**, इन चारों प्राजापत्य विवर्त्तों की समन्वितावस्था ही तदनुगता, तद्भुक्ता, तद्रूपा सोहल कलाओं के कलात्मक अनुबन्ध से **'षोडशी–प्रजापति' (षोडशकल–सोलह–कलायुक्त, प्रजापति विराडीश्वर)** नाम से व्यवहृत हुई है । आस्तिक हिन्दूप्रजा के भगवान् इसी तथ्य के आधार पर सोलह कलाओं से परिपूर्ण बने हुए हैं । षोडशकल इस षोडशीप्रजापति का निष्कल परात्पर विवर्त्त विश्वमर्य्यादा से सर्वात्मना असंसृष्ट है । अतएव उसे हम छोड़ते हैं । अतएव अब शेष रह जाते हैं–**अव्यय, अक्षर, क्षर,** नामक तीन प्राजापत्य विवर्त्त । इन्हीं तीनों को आधार मान कर अब हमें **'आश्रम'** शब्द के, तथा तत्सापेक्ष अन्य शब्दों के तत्त्वार्थ–समन्वय का प्रयास करना है ।

***–औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (पू० मी०) ।**

×–दुष्टः शब्दः–स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

१८३–सर्वाधार षोडशीप्रजापति के अधिष्ठान, निमित्त, उपादानात्मक 'अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रं' विवर्त्तों का संस्मरण—

ज्ञानशक्तिघन **अव्यय** मनोरूप बनता हुआ–'**अमृतम्**' है, यही विश्व का **अधिष्ठानकारण है**। क्रियाशक्तिघन **अक्षर** प्राणरूप बनता हुआ–'**ब्रह्म**' है, यही विश्व का **निमित्तकारण** है। एवं अर्थशक्तिघन **क्षर** वाग्रूप बनता हुआ-'**शुक्रम्**' है। और यही विश्व का **उपादानकारण है**। यों एक ही आत्मप्रजापति (विराट्प्रजापति) अपने इन तीन महिमा–विवर्त्तों से **अमृतं–ब्रह्म–शुक्रम्**–रूप में परिणत होरहा है, जैसाकि–'**त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्**' [शत० १४।४।४।३।] इत्यादि से स्पष्ट है (१)। इति नु-अधिदैवतम्।

१८४–ईश्वरोक्थवैराजिकविराट् प्रजापति के कारण-सूक्ष्म, एवं स्थूल-शरीरों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अथाध्यात्मम्–अब इसी उक्त **ईश्वरोक्थवैराजिक-प्रजापति** का अध्यात्मलक्षण '**मानवोक्थवैराजिक-पुरुष (मानव)**' के साथ समतुलन कीजिए। तभी–'**आश्रम**' शब्दार्थ समन्वित होसकेगा। परात्पर से अभिन्न, अव्ययभावापन्न,–ज्ञानशक्तिघन, मनोरूप '**अमृताव्यय**' ही मानवीया अध्यात्मसंस्था के–**कारणशरीर** का '**साक्षी**' बनता है। अव्यय से अभिन्न, अक्षरभावापन्न, क्रियाशक्तिघन, प्राणरूप '**ब्रह्माक्षर**' ही मानव के–'**सूक्ष्मशरीर**' का '**निमित्त**' बनता है। एवं अक्षर से अभिन्न, क्षरभावापन्न, अर्थशक्तिघन, वाग्रूप '**शुक्रक्षर**' ही मानव के '**स्थूलशरीर**' का '**उपादान**' बनता है। यों ईश्वरानुगत आधिदैविक **[1]अमृताव्यय–[2]ब्रह्माक्षर-[3]शुक्रक्षर** नामक तीनों आत्मविवर्त्त हीं मानवसंस्था के **[1]कारण-[2]सूक्ष्म–[3]स्थूल**–नामक तीन शरीरों के क्रमशः **[1]साक्षी-[2]निमित्त-[3]उपादान** बने हुए हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता **है**–

अखण्डः—एककलः—निष्कलः — सर्वातीतः—परात्परः—परमेश्वरः

१–अमृताव्ययः-मनोघनः–स एव साक्षी	मानवीय–कारणशरीरस्य
२–ब्रह्माक्षरः—प्राणघनः–तदेव निमित्तम्	मानवीय–सूक्ष्मशरीरस्य
३–शुक्रक्षरः—वाग्घनः–तदेवोपादनम्	मानवीय–स्थूलशरीरस्य
इति—नु अधिदैवतम्	इति–नु–अध्यात्मम्

(१) यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

–यजुःसंहिता ८।३६।

१८५—अंशी ईश्वरविराट् का साक्षी-सुपर्णत्व, अंश-मानवविराट् का भोक्ता-सुपर्णत्व, दोनों का सम-साम्य, एवं दोनों शरीरों के मापदण्ड का सम-समन्वय—

मानव के चतुष्पर्वात्मक **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**—लक्षण पूर्वोक्त स्वरूपानुबन्ध से अत्र बात कुछ समझने जैसी है। परात्पराभिन्न-अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीनों आत्मानुबन्धी [ईश्वरानुबन्धी] **साक्षी-निमित्त-उपादानात्मक** महिमा-विवर्त्तों की समष्टि ही अधिदैवत, अध्यात्म, इन दो संस्थानों के भेद से पृथक् पृथक् रूपेण **अंशी-अंश**-उपाधियों के अनुबन्ध से क्रमशः **साक्षी**, और **भोक्ता**, इन दो भावों में परिणत होजाती है। वही ईश्वरात्मा अधिदैवत में अंशीरूपेण अभिव्यक्त रहता हुआ जहाँ–**'साक्षी'** है, वहाँ वही ईश्वरात्मा अध्यात्म में (१) अंशरूप से व्यक्त होता हुआ **'भोक्ता'** है। **अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक, (२) सहस्रवल्शावच्छिन्न, अश्वत्थमूर्त्ति ईश्वरविराट्रूप** अंशी उस साक्षी प्रजापति का अंशात्मक, अमृतब्रह्मशुक्रात्मक ही स्वरूप-**'मानवविराट्'** है। दोनों हीं इस समानता से **'सयुक्-सखा'** हैं, अभिन्न मित्र हैं, जिनमें एक [ईश्वर] **साक्षी** है, तो दूसरा **'भोक्ता'** है (३)। साक्षी महासुपर्णरूप ईश्वरात्मा विश्वात्मक अपने शरीर का सर्वस्व है, तो भोक्ता—सुपर्णरूप मानवात्मा शरीरात्मक अपने विश्व का सर्वस्व है। दोनों हीं शरीरधर्म्मा हैं, दोनों हीं सोपाधिक हैं। यही नहीं, दोनों के आत्मतन्त्रों का स्वरूप जहाँ समतुलित है, तथैव दोनों के कायविवर्त्तों [शरीरों] का मापदण्ड भी सर्वात्मना समतुलित ही है। ईश्वर का विश्वात्मक शरीर भी चतुरशीति-अङ्गुल-मित [चौरासी अङ्गुल का] ही है, तो मानव का शरीरात्मक विश्व भी चौरासी अङ्गुल का ही है। सार्द्ध-द्वादश [१२॥] अङ्गुलिमिता एक वितस्ति (बिलाँत) के सात अभिक्रमों से कृतशरीरी ईश्वर का

---

(१) **'अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके'।**
—वेदान्तसूत्र २।३।४३।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
—गीता १५।८।

(२) **ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।**
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेतामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥
—कठोपनिषत् ६।१।

(३) **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
ऋक्संहिता १।१६४।२०।

शरीर सचमुच ८४ अङ्गुल का ही है (१), जैसाकि सार्द्ध-दश (२) [१०॥] अङ्गुलिमित, गायत्रप्राणावच्छिन्न एक **प्रादेश** के आठ अभिक्रमों से कृतशरीरी मानव का स्वरूप भी स्वाङ्गुलिपरिमाण से ८४ अङ्गुलि का ही है। यही तो ईश्वर, और **मानव** का वह साम्य है, जो अन्य प्राणियों में सर्वथा अनुपलब्ध है।

२८६–सर्वभूतान्तरात्मा, हिरण्य, परिप्लव, इलान्द, पर्वों से समन्वित चतुष्पर्वा ईश्वरविराट्, एवं तत्समतुलित भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर, पर्वों से युक्त चतुष्पर्वा मानवविराट्—

ईश्वरात्मा का विश्वात्मक शरीर भी **त्रिविध** है, उसी प्रकार-जैसे कि मानवात्मा के **कारण-सूक्ष्म-स्थूल**–शरीर सुप्रसिद्ध हैं। सौरसम्वत्सरमण्डल उस ईश्वरविराट् का **कारणशरीर** है, चान्द्रसम्वत्सरमण्डल उसी का **सूक्ष्मशरीर** है, एव पार्थिवसम्वत्सरमण्डल उसी का **स्थूलशरीर** है। जिसप्रकार अंशीभूत, अमृत–ब्रह्म–शुक्रात्मक ईश्वरात्मा से ही, तथाविध ही अंशात्मक मानवात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, तथैव उसी ईश्वरात्मा के विश्वात्मक–महाशरीर के उक्त **सौर--चान्द्र--पार्थिव**–नामक तीनों सम्वत्सर-विवर्त्तों से क्रमशः मानव के **कारणशरीरात्मक विज्ञानशरीर, सूक्ष्मशरीरात्मक प्रज्ञानशरीर,** तथा **स्थूलशरीरात्मक भूतशरीर,** इन तीन शरीरविवर्त्तों की अभिव्यक्ति हुई है। सौरसम्वत्सरानुगत विज्ञानशरीर ही '**बुद्धि**' नाम से, चान्द्रसम्वत्सरानुगत प्रज्ञानशरीर ही '**मन**' नाम से, तथा पार्थिवसम्वत्सरानुगत भूतशरीर ही '**शरीर**' नाम से प्रसिद्ध हैं। तदित्थं–ईश्वरीय विराट्संस्था में भी **आत्मा,** तथा **शरीरत्रयी,** भेद से चार विवर्त्त समन्वित हो रहे हैं, एवं मानवीया विराट्संस्था में भी इन चारों विवर्त्तों का सम–साम्य प्रमाणित हो रहा है। व्यावहारिकी अभिधामात्र में अन्तर है। ईश्वरीय चारों विवर्त्त जहाँ क्रमशः **सर्वभूतान्तरात्मा, हिरण्य, परिप्लव, इलान्द,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं विज्ञानजगत् में, वहाँ मानवीय चारों विवर्त्त क्रमशः **भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं लोकजगत् मे। ईश्वरीय-संस्था के तीनों शरीरविवर्त्त ईश्वरात्मा के **अमृत-ब्रह्म-शुक्र**-नामक तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित हैं, तो मानवीय-संस्था के तीनों शरीर मानवात्मा के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-भावों से अनुप्राणित हैं। समष्टया च ईश्वरीय चारों विवर्त्त मानवीय चारों विवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित है। और यों वह पूर्ण इसे भी सर्वात्मना पूर्ण ही प्रमाणित कर रहा है। इसी आधार पर--'**योऽहं (मानव), सोऽसौ-(ईश्वरः)**-'**योऽसौ--सोऽहम्**'–'**यदेवेद--तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह**'-'**पूर्णमदः, पूर्णमिदम्**', '**यतो हि पूर्णादेव पूर्णमुदच्यते**'-इत्यादि श्रौत-निगम प्रसिद्ध हैं। लक्ष्य बनाइए परिलेख को, एवं तन्माध्यम से ही स्वयं अपनी **ब्रह्मोद्यभावानुगता ऋजुप्रज्ञा** से ही इस तथ्य का समन्वय कीजिए कि,--'**इस पाञ्चभौतिक विश्व में एकमात्र मानव ही उस समदर्शी ईश्वर से सर्वात्मना समतुलित क्यों है ?**'।

---

(१) **क्वाहं तमो महदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवते

(२) **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।**
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
–यजुःसं० ३१।१।

१–परात्पराभिन्नोऽव्ययः—मनः (ज्ञानम्) अमृतम् साक्षी
२–अव्ययाभिन्नोऽक्षरः—प्राणः (क्रिया) ब्रह्म निमित्तम्
३–अक्षराभिन्नः क्षरः—वाक् (अर्थः) शुक्रम् उपादानम्

—सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी (१)
(ईश्वरविराट्)

१–स्वयम्भूः
२–परमेष्ठी
३–सूर्य्यः
} सौरसम्वत्सरः—अमृतात्मनानुप्राणितः
—हिरण्मयम् (२)—

४–चन्द्रमाः } चान्द्रसम्वत्सरः—ब्रह्मात्मनानुप्राणितः
—परिप्लवः (३)—

५–भूपिण्डः } पार्थिवसम्वत्सरः—शुक्रात्मनानुप्राणितः
—इलान्दम् (४)—

—ईश्वरशरीरत्रयी

(सोऽयं-'साक्षी' सुपर्णः)
'ईश्वरः'

इति नु-आधिदैवतम्

१–साक्षी—अमृतम्
२–निमित्तं–ब्रह्म
३–उपादानं-शुक्रम्
} भूतात्मा—भोक्ता (१)

१–अव्यक्तम्
२–महान्
३–विज्ञानम्
} विज्ञानं बुद्धिर्वा (२) (कारणशरीरम्) अमृतानुगतम्

४–प्रज्ञानम् } प्रज्ञानं मनो वा (३) (सूक्ष्मशरीरम्) ब्रह्मानुगतम्

५–भूतम् } भूतं शरीरं वा (४) (स्थूलशरीरम्) शुक्रानुगतम्

मानवशरीरत्रयी

(सोऽयं 'भोक्ता' सुपर्णः)
'मानवः'

इति नु-अध्यात्मम्

१८७-ब्राह्मी-स्थिति के माध्यम से 'आश्रम'-परिश्रम'-आदि-सापेक्ष-शब्दों का समन्वय-प्रयास—

सैषा ब्राह्मी स्थितिः, तत्त्वमीमांसा वा-'**आश्रमशब्दानुगता**' । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया-आश्रम-शब्दार्थ-समन्वयानुबन्धेन । निवेदन किया गया है कि, '**आश्रम**' शब्द सापेक्ष शब्द है, जिसकी अपेक्षापूर्ति अमुक सापेक्ष शब्दों से ही अनुप्राणित है । उन अमुक शब्दों में से प्रकृत में हम लोकप्रसिद्ध '**परिश्रम**'-'**श्रम**', इन दो शब्दों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे । इन तीनों शब्दों का मूलरूप '**श्रम**' शब्द ही है, जो '**श्रम**' ही '**आङ्**' उपसर्ग से '**आश्रम**' बन रहा है, '**परि**' उपसर्ग से-'**परिश्रम**', तथा निष्कैवल्यरूप से-'**श्रम**' रूप में परिणत होरहा है । '**श्रम**' शब्द की इसी समानव्याप्ति से हमें सर्वप्रथम उपसर्गशून्य इस '**श्रम**' का ही स्वरूपान्वेषण कर लेना चाहिए । तदाधारेणैव **परिश्रम**, तथा **आश्रम**, ये दोनों शब्द भी अपने वाच्यार्थों से स्वतएव समन्वित होजायँगे ।

१८८-सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्ध, तदनुबन्धी कामः-तपः-श्रम-भाव, एवं तन्नि-बन्धना-कर्म्मस्वरूप-निष्पत्ति—

जिस **अमृत**[1]-**ब्रह्म**[2]-**शुक्रात्मक**[3]-ईश्वरप्रजापति का पूर्व में यशोगान किया जाचुका है, उसे तत्रैव **मनः**[1]-**प्राण**[2]-**वाङ्मय**[3] भी बतलाया गया है, एवं तीनों को क्रमशः **ज्ञान**[1]-**क्रिया**[2]-**अर्थात्मक**[3] भी माना गया है । **अपूर्वभावाभिव्यक्ति का नाम हीं-'सृष्टि'** है । इस सृष्टिकर्म्म में **काम-तपः-श्रम**-ये तीन सामान्य अनुबन्ध माने गए हैं । लोकप्रसिद्धा '**इच्छा**' ही '**काम**' (कामना) है । '**कृति**'-'**यत्न**' (चेष्टा-कोशिश) हीं-'**तप**' है । एवं शारीरिक-भूतों का व्यक्त-'**बाह्यव्यापार**' (हाथ-पैर हिलाना) हीं-'**श्रम**' है । प्रत्येक कार्य्य की स्वरूपसिद्धि के लिए, किंवा स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम-**मैं अमुक काम करूँ**' इत्येवंरूपा '**इच्छा**' का ही आविर्भाव होता है । इच्छा के अनन्तर शरीरस्थ सुसूक्ष्म प्राण क्रियाशील बनता है । प्राण में गत्यात्मक कम्पन उत्पन्न होजाता है । इसी का नाम '**तप**' है । तपोलक्षण यही आभ्यन्तर-प्राण-कम्पन (अन्तः-क्रिया) ऐच्छिक कार्य्यसिद्धि के लिए हमारे भौतिक शरीर को गतिशील बना देता है । यही बाह्यक्रिया '**श्रम**' कहलाई है । इसप्रकार इन **इच्छा-यत्न-व्यापार**, तीनों अनुबन्धों के अनन्तर ही कार्य्य की स्वरूपसिद्धि अभिव्यक्त होती है * । सृष्टि के उक्त तीनों सामान्य अनुबन्ध तथोक्त विराट्प्रजापति के **अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक मनः-प्राण-वाग्**-भागों से ही अनुप्राणित हैं । ज्ञानशक्तिघन मन के ज्ञानात्मक व्यापार का नाम ही-'**काम**' (कामना-इच्छा) है । क्रियाशक्तिघन प्राण की अन्तर्व्यापाररूपा अन्तः-क्रिया का ही नाम-'**तपः**' (कृति-यत्न-चेष्टा) है । एवं अर्थशक्तिघना वाक् की बहिर्व्यापाररूपा क्रिया का ही नाम '**श्रम**' है । इसी तथ्य के आधार पर-श्रुति ने कहा है—

स प्रजापतिरकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत (प्राणेन), सोऽश्राम्यत् (वाचा)। तस्य प्रजापतेः कामयमानस्य--तप्तस्य--श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः । (शतपथे)

---

* **ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।**
कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म, तदेतत्कृतमुच्यते ॥

१८९-आसमन्ताद्भावापन्न 'आङ्' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'आश्रम' शब्द, एवं परितः-भावापन्न 'परि' उपसर्ग, तन्निबन्धन 'परिश्रम' शब्द, एवं उपसर्गशून्य-'श्रम' शब्द--

प्राणात्मक तपोभाव से अनुप्राणित भूतसंघर्षात्मक, एवं इस संघर्ष से जनित-खेदभावानुगत-बहिर्व्यापार का ही नाम है-'श्रम', जैसा कि एतत्स्वरूपनिर्म्मापक-'श्रमु तपसि, खेदे च' इत्यादि सुप्रसिद्ध पाणिनीय-धात्वर्थ से भी स्पष्ट है। भूतसंघर्षात्मक यही श्रम मानवीया चार संस्थाओं के अनुबन्ध से, संस्थानुगत सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादि चार भावों के अनुपात से चार स्थानों में विभक्त होरहा है। सूक्ष्मतम, अमृतब्रह्मशुक्रभावापन्न, आत्मा से अनुप्राणित श्रम क्योंकि इतर सभी पर्वों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए है। सभी आध्यात्मिक पर्व आत्मानुगत श्रम की सीमा में गर्भीभूत हैं-'**मत्स्थानि सर्वभूतानि**' सिद्धान्तानुसार। इस सर्वव्याप्ति के लिए ही व्याकरणशास्त्र में-'**आङ्**' उपसर्ग व्यवस्थित है। अतएव आत्मानुगत, अतएवच सर्वात्मक 'श्रम (आत्म-श्रम)-'**आसमन्तात्--सर्वतो व्याप्तः--श्रमः**' निर्वचन से--'**आश्रमः**' नाम से प्रसिद्ध होगया है।

१९०-बुद्धिप्रधान-'परिश्रम'-शब्द का तत्त्वार्थ--समन्वय—

आत्मा के अनन्तर दूसरा क्षेत्र है-आत्मानुगता बुद्धि का, जिसे हमने पूर्व में **कारणशरीर** कहा है। आत्मप्रतिष्ठिता इस बुद्धि का प्राणात्मक (सौरप्राणात्मक) जो 'श्रम' है, वह सबको तो स्वगर्भ में प्रतिष्ठित नहीं कर रहा। किन्तु-'**अधःस्विदासीत्--उपरिस्विदासीत**' (ऋक्सं०) के अनुसार शरीरत्रयीरूपा व्यक्त-संस्थात्रयी में तो (केवल आत्मा को छोड़ कर) यह बौद्धिक श्रम उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे कि प्राणात्मक तपोमूर्त्ति सौरसम्वत्सरमण्डल शेषभूत-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरों के चारों ओर व्याप्त रहता है। इसी-'**चारों ओर**' की व्याप्ति का सूचक है-'**परि**' उपसर्ग। आत्मानुगता बुद्धि का श्रम क्योंकि '**परितः**' व्याप्त है। अतएव-'**परितः-श्रमः-परिश्रमः**' इस निर्वचन से इसे अवश्य ही-'**परिश्रम**' (१) नाम से व्यवहृत किया जासकता है।

१९१-चित्सोममय, प्रज्ञाप्राणात्मक, मनोमय, 'ओकःसारी' इन्द्र, तदनुगता भूतासक्ति, एवं तन्निबन्धन शरीरानुगत-'श्रम' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

सर्वानुगत, '**आङ्**'-निबन्धन-'**आसमन्ताद्भाव**, तथा चतुर्दिगात्मक-'**परि**' निबन्धन '**परितोभाव**, मानवीय मनस्तन्त्र इन दोनों हीं भावों से पराङ्मुख रहता हुआ, दिग्देशकालात्मक-परिच्छिन्न-ऐन्द्रियिक-भावों के द्वारा, तथा स्वानुगत-स्नेह-गुणक, अतएव संकोचधर्म्मा मार्गवानुबन्धी आसक्तिभावों के द्वारा एक-

---

(१) शरीरधर्म्मा मानव के व्यापार में क्योंकि '**श्रम**' हीं प्रधान है। अतएव **श्रमदानकुशल** ऐसे शरीरप्रधान मानव को जहाँ-'**श्रमजीवी**' कहा जायगा, वहाँ बौद्धिक श्रम का अनुगामी स्वाध्यायनिष्ठ छात्र-'**परिश्रमी**' माना जायगा। यदि परिश्रमात्मिका स्वाध्याय-अवस्था (शिक्षाकाल) में इस 'परिश्रम' के क्षेत्र में शरीरप्रधान '**श्रम**' को प्रधान बना दिया जायगा, तो निश्चयेन ऐसे श्रमदानपथ के अनुगामी छात्र की परिश्रममूला स्वाध्यायनिष्ठा अन्तर्म्मुख ही बन जायगी, जिसके दुष्परिणाम श्रमभावानुगत आज के शिक्षाक्षेत्र में सर्वात्मना स्पष्ट बन चुके हैं।

तोऽनुगामी ही बना रहता है। अतएव इन्द्रियद्वारसे जिस विषय में मन एक बार आसक्त होजाता है, दूसरी ओर से निरपेक्ष बन उसी पूर्व विषय के प्रति पुनः पुनः अनुधावन किया करता है। अतएव प्रज्ञानुगत-(सोमानुगत) इस मनोमय प्रज्ञानेन्द्र प्राण को श्रुति ने-**'ओकःसारी'** (१) नाम से व्यवहृत किया है। लोकनिबन्धन-व्यक्त-मूर्त्त-दिग्देशभावानुगत-बौद्धिक परिश्रम से अनुगत इत्थंभूत मन का व्यापार क्योंकि एकतः ही अनुगत रहता है। अतएव **आङ्**, तथा **परि**, दोनों भावों से पृथक् इस मनोनिबन्धन व्यापार को ही **'श्रम'** नाम से ही व्यवहृत किया गया है।

१६२-आत्मानुगत 'आश्रम', बुद्ध्यनुगत 'परिश्रम', मनोऽनुगत 'श्रम', एवं शरीरानुगता 'सेवा', तथा तदनुबन्धी प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य—

अब चौथा बच जाता है-**'शरीर'**। इस केवलशरीरानुगत **'श्रम'** को ही शास्त्रने-**'सेवा'** नाम से व्यवहृत किया है। और यों **आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर,** इन चारों तन्त्रों के साथ क्रमशः-**आश्रम-परिश्रम-श्रम-सेवा,** इन चार भावों का सम्बन्ध प्रमाणित होजाता है, जिस इस प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर ही **आत्मनिष्ठ ब्राह्मण** के साथ प्रधानरूपेण **'आश्रम'** का, **बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय** के साथ प्रधानरूपेण-**'परिश्रम'** का, **मनोभावुक वैश्य** के साथ प्रधानरूपेण-**'श्रम'** का, तथा **शरीरधर्म्मा शूद्र** के साथ प्रधानरूपेण **'सेवा'** का क्रमिक सम्बन्ध होरहा है। चौंकिए नहीं। यदि मानव के प्रज्ञापराध से प्रकृतिसिद्धा भी इस वर्णचतुष्टयी में आज दोष आगए हैं, तो यह ज्ञानविज्ञानसिद्धा, सनातना, नित्या वर्णव्यवस्था का अपराध नहीं है। अपराध तो उन का है, जो इन प्रकृतिसिद्ध, सहज वर्णभावों के मौलिक स्वरूप से अपरिचित रहते हुए इन के उन्मूलन के व्यर्थतम प्रयास में आपादमस्तक व्यग्र बनते हुए जहाँ व्यवस्था में साङ्कर्य्य उत्पन्न करते जारहे हैं, वहाँ अपने काल्पनिक-वर्गभेदोन्मूलनवादव्यामोहन से इन चार वर्गों के स्थान में परःशत नवीन नवीन वर्ग ही अभिव्यक्त कर रहे हैं, इति नु आलप्यालमेव।

१६३-सदसन्मूर्त्ति, अमृत-मृत्यु-मय, ब्रह्मकर्म्मात्मक आत्मप्रजापति का स्वरूप-संस्मरण—

भारतीय विद्वान् **'आश्रम'** शब्द की तथोक्ता तात्त्विकी अभिव्यक्ति से सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चयेनैव अपनी परम्परासिद्धा **'चातुराश्रमव्यस्था'** के प्रति आशङ्कित होपड़ेंगे। किन्तु इस आशङ्का, किंवा कुशङ्का का यहाँ प्रवेश भी सम्भव नहीं है। कथम् ?, प्रश्न के सम्यक्-समाधान के लिए तो अन्य निबन्ध ही द्रष्टव्य है (२)। सन्दर्भ-समन्वय-दृष्टया प्रकृत में दो शब्दों में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, **'आश्रम'**

---

(१) वैदिक परिभाषा में **'ओकः'** **स्थान-गृह**-आदि का नाम है। मन जिस स्थान-गृह, किंवा विषय में चला जाता है, वहीं **'रम'** जाता है। अतएव इसे-**'ओकःसारी'** (स्थानासक्त-विषयासक्त) कहा गया है, जैसाकि-**'ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, ऐव तत्रापरं गच्छति'** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

(२)-देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-**'कर्म्मयोगपरीक्षा'** नामक चतुर्थखण्ड का-**'आश्रम-व्यवस्थाविज्ञान'** नामक प्रकरण। ग्रन्थ प्रकाशित होगया था आज से १० वर्ष पूर्व। किन्तु अब पुनः प्रकाशनापेक्ष है।

तत्त्व की प्रतिष्ठारूप **'आत्मब्रह्म'** **रस, तथा बल**, नामक तत्त्वविशेषों के अनुबन्ध से **ज्ञान, कर्म्मोभय–मूर्त्ति** माना गया है। ज्ञान 'ब्रह्म' है, यही **'सत्'** है, यही **'अमृतम्'** है। कर्म्म–**'कर्म्म'** है, यही **'असत्'** है, यही **'मृत्यु'** है। एवं इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही **'अहम्'** शब्देनाभिनीयमान **'आत्मब्रह्म'** है, जैसा कि–**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जु न !'** इत्यादि गीताराद्धान्त से प्रमाणित है।

१६४–उभयात्मक आत्मप्रजापति से अनुप्राणित मानव के ब्रह्म, तथा कर्म्म, नामक दो प्रमुख 'आश्रम', एवं तन्निबन्धन मानव के सुप्रसिद्ध चार आश्रम––

अंशी ईश्वरात्मा यदि दिव्य–**'ब्रह्म, कर्म्म–रूप'** है, तो तदंशरूप मानवात्मा भी लौकिक–**'ब्रह्म–कर्म्म–मय'** ही है। सिद्धाश्रमापन्न ईश्वरात्मा का अंशरूप आश्रमी मानव जिन साध्य–आश्रमों से अपने मानवीय आत्माश्रम की पूर्णाभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है, ऋषिप्रदिष्टा वही तात्त्विकी व्यवस्था **'आश्रमव्यवस्था'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। मानव अपने शतायुर्भोगकाल में ५०–५०–वर्षों के विभाजन से क्रमशः **'कर्म्म'**, तथा **'ब्रह्म'** सम्पत्ति को अभिव्यक्त करसकता है। ये ही दोनों **कर्म्माश्रम, ब्रह्माश्रम**, नामक दो प्रमुख साध्याश्रम माने जायँगे। कर्म्माश्रम भी ब्रह्मसापेक्ष है, तो ब्रह्माश्रम भी कर्म्मसापेक्ष है। अतएव ५०–५०– के–२५–२५–के अनुपात से पुनः दो दो विभाग कर दिए हैं। प्रारम्भ की पञ्चविंशति में कर्म्म–सापेक्ष ब्रह्म का संग्रह होता है, यही **ब्रह्मचर्य्याश्रम है**। उत्तर की पञ्चविंशति में ब्रह्मसमन्वित कर्म्म की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, यही **'गृहस्थाश्रम'** है। तदुत्तर की तीसरी पञ्चविंशति में ब्रह्मसापेक्ष **निवृत्तिकर्म्म** का संग्रह होता है। यही तीसरा **'वानप्रस्थाश्रम'** है। एवं सर्वान्त की चौथी पञ्चविंशति में **'ब्रह्म'** की स्वरूप–निष्पत्ति होती **है**। और यही–**'संन्यस्ताश्रम'** है। यों ब्रह्म–कर्म्म के साध्य-साधन भावानुबन्धों से एक ही ब्रह्मकर्म्माश्रम आरम्भ में द्विधा विभक्त होता हुआ अन्ततः चार महिमाभावों में परिणत होजाता है। यह **'आश्रमव्यवस्था'** उसीप्रकार मानव के व्यक्तित्त्व की स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण मानी गई है, जैसे कि तदनुबन्धिनी **वर्णव्यवस्था-'समाज'** स्वरूप की अभिव्यक्ति मानी गई है। **आश्रमव्यवस्था**, तथा **वर्णव्यवस्था**, इन दो महतो महीयान् वैज्ञानिक स्तम्भों के आधार पर ही मानव के **व्यक्तितन्त्र** की, तथा **समाजतन्त्र** की स्वरूप–थति व्यवस्थित हुई है, जिसे प्रज्ञापराधवश अव्यवस्थित कर भारतीय मानवने आज अपना सभी कुछ वैय्य–क्तिक–सामाजिक ऐश्वर्य्य सर्वात्मना अभिभूत ही कर लिया है, इति नु अग्ह्मण्यमेव !।

१६५–आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-दानमूला आश्रम-परिश्रम-श्रम-सेवा-दानात्मिका आश्रम-प्रधाना दानपद्धति, तदनुगता आश्रमसिद्धा 'आश्रमजीवनपद्धति', एवं तत्सम-न्विता 'मानवजीवनपद्धति'—

प्रकृतमनुसरामः, पापपाशं तरामः। पूर्वनिर्दिष्टा आत्मब्रह्ममूला **'ब्राह्मीस्थिति'** से सम्बन्ध रखने वाले अपेक्षा-भावापन्न [1]**आश्रम**, [2]**परिश्रम**, [3]**श्रम**, [4]**सेवा**, नामक चारों शब्दों का **'[1]आत्मा–[2]बुद्धि–[3]मनः–[4]शरीर–**अनुबन्ध से समन्वय-प्रयास उपरत हुआ। अवश्य ही मानव के लिए शरीरापेक्षया **'सेवादान'** भी अपेक्षित है, मन की अपेक्षा से **'श्रमदान'** भी अनिवार्य्य है, तो बुद्ध्यपेक्षया **परिश्रमदान** भी अपेक्षित है। किन्तु जबतक आत्मनिष्ठानुगत **आश्रमदान** को इन तीनों तन्त्रों की मूलप्रतिष्ठा नहीं बना दिया जाता, तबतक ये तीनों **प्राकृतदान** अव्ययपुरुष के **पौरुष से** वञ्चित बने रहते हुए केवल **प्रकृत्यर्थ** ही प्रमाणित होते

रहते हैं। और तदवस्था में भावुकतापूर्ण इन **बौद्धिक–मानसिक-शारीरिक परिश्रम-श्रम–सेवा**-दान-परम्पराओं से मानव का आत्मानुगत नैष्ठिक पुरुषार्थ कदापि सिद्ध नहीं होता। आत्मनिष्ठानुगता आश्रमनिष्ठा से नियन्त्रित-मर्य्यादित बनी रह कर ही परिश्रम–श्रम-सेवा–भावत्रयी मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस् का कारण बना करती है। अतएव भारतीय तत्त्वज्ञोंनें मानव के लिए **'आश्रमानुगता-जीवनपद्धति'** को ही मानव की सर्वश्रेष्ठा जीवनपद्धति माना है, जो आश्रमजीवनपद्धति दार्शनिकभावानुबन्धिनी काल्पनिकी आश्रमव्यवस्था के अनुग्रह से उत्तरोत्तर स्खलित होती हुई अन्ततोगत्वा आज तो काल्पनिक **श्रमदानानुगत–सेवादान** जैसे विजृम्भण पर ही परिसमाप्त **है**, इत्यहो महतीयं विडम्बना दिग्देशकालव्यामोहनस्य।

१६६–'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' अभिधा के साथ 'मानजीवनपद्धति' से अनुप्राणित 'मानवाश्रम' का स्वरूप-समन्वय —

'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' के नामकरण–प्रसङ्ग से ही यह आश्रमचर्चा प्रक्रान्त है। **'आश्रम'** के तथोक्त तात्त्विक–अर्थसमन्वय के आधार पर ही हमने **'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य'** इस वैदिकी अभिधा का–**'मानवाश्रम'** नामकरण अन्वर्थ माना है, और यही हमारे व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले 'मानवश्रम' का स्वरूप-समन्वय है, जिसका दिग्देशकाल-निबन्धन किसी भी भूतभौतिक-विजृम्भण से कोई भी अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं है। **मानवस्वरूपानुगत ब्रह्मकर्म्मानुबन्धी–ज्ञानविज्ञानात्मक–आश्रम की उपासना से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्त्यनुगत चिन्तन–स्वाध्याय–आचारात्मक–प्रयास ही–'मानबाश्रम' है, जिसका किसी भी युगधर्म्मानुगत विधि–विधानात्मक–लौकिक अनुबन्ध से कोई भी सम्बन्ध नहीं है**। तथाविध प्रत्येक ही मानव स्व-स्व-मानवाश्रमों का ही आराधक माना जायगा। और यही भारतीय-प्राचीन-**'आश्रमों'** की तात्त्विकी स्वरूप-परिभाषा मानी जायगी। मानव स्वयं भी आत्मभावानुगत बनता हुआ, अतएव आत्माश्रमनिबन्धन परिश्रम–श्रम–सेवात्मक बौद्धिक-मानसिक–शारीरिक–व्यापार करता हुआ **'आश्रम'** है, जो कि प्रकृतिसिद्ध यह **'मानवाश्रम'** आयुर्भोगकालानुपात से क्रमशः-**ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थादि** साध्य आश्रमरूपों की प्रतिष्ठा बनता रहता है।

१६७–लोक, तथा सत्तासापेक्ष गृहस्थाश्रम, एवं तन्निरपेक्ष वानप्रस्थ, तथा तन्निबन्धना हमारी सर्वनिरपेक्षता—

सम्भव है कि, तथाविध व्यक्तिरूप **'मानवाश्रमों'** को अपने **'गृहस्थाश्रम'** नामक द्वितीयाश्रम के भोगकाल में वर्त्तमानयुग के भावुकतापूर्ण-दिग्देशकालानुबन्धी काल्पनिक-प्रावाहिक-सापेक्ष भावों का भी अमुक-सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही आश्रय लेना पड़ता हो, लेना पड़ा हो। किन्तु पञ्चाशत् (५०) वर्षानन्तर उपक्रान्त होने वाले तीसरे **'वानप्रस्थाश्रम'** नामक **'मानवश्रम'** का तो किसी भी लोकतन्त्र से कोई भी निकट का सान्निध्य नहीं हीं रह जाता, (विशेषतः अराजन्य सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणमानव के लिए)। द्वितीय–मानवाश्रम-भोगकाल (गृहस्थाश्रमभोगकाल) पर्य्यन्त लोकभावुकता–संरक्षक नितान्त भावुकतापूर्ण जिन लोक–सापेक्षताओं का दिग्देशकालानुबन्धिनी युगधर्म्मानुगता लोकैषणा-वित्तैषणाओं के आकर्षण–विकर्षण से (गच्छतःस्खलनरूपेणैव) अद्यावधि–विवशतापूर्वक अनुगमन करते रहना पड़ा है, प्रक्रान्त द्वि० श्रावणमास की अमुक पुण्यातिथि से उपक्रान्त होजाने वाले प्रक्रान्त, निवृत्तिकर्म्मप्रधान इस तृतीय मानवाश्रम (वानप्रस्थाश्रम) के अनुग्रहा–

त्मक निग्रह से इस साहित्यसेवी को अब तथोक्ता लोकसापेक्षताओं के अनुबन्धों से यथाशक्ति ऋजुतापूर्वक अनायासेनैव तटस्थप्राय ही बना लेना है। एष एव श्रेयः पन्था। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

१९८–विगत युगानुगता हमारी 'प्रचारात्मिका एषणा', एवं तन्निग्रह से सांस्कृतिक-स्वाध्यायनिष्ठा का आत्यन्तिक अभिभव—

तटस्थ बना हीं लेना चाहिए था स्वाध्यायोपक्रमकाल से ही। किन्तु भारतीय विद्वानों की त्रिसहस्रवर्षानुगता सत्ता, लोक-सापेक्षता-निबन्धना पराश्रयमूला जिस प्रवृत्ति, किंवा घोरघोरतमा दुष्प्रवृत्ति के भारतव्यापक जिस मलीमस अपेक्षतापूर्ण वातावरण में हमें अपनी स्वाध्याय–चिन्तन–प्रवृत्ति उपक्रान्त करनी पड़ी, उस वातावरण से तत्समय हम अपनी अवस्थानुगता परदर्शनमूला, गतानुगतिकभावापन्ना भावुकता से प्रभावित होते हुए 'प्रचारात्मिका एषणा' में तत्साफल्य-भावुकतयैव मुक्तावस्थाओं में लोक-सत्तातन्त्र-सापेक्षताओं से हम अपना आत्मपरित्राण नहीं करसके, नहीं हीं करसके।

१९९–'सांस्कृतिक-प्रचारैषणा-साफल्या' नुगता हमारी दंद्रम्यमाणता, और तन्निबन्धना लोक, सत्ता-सापेक्षता—

और इसी नितान्त–भावुकतापूर्णा, अतएव **'स्वाध्यायनिष्ठाव्रत'** की अन्यतमा प्रतिबन्धिका तथाविध प्रचारैषणा के व्यामोहन से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः समाप्लुत होते हुए हमने निरन्त २०–२५ वर्षपर्य्यन्त **'सांस्कृतिक–प्रचारैषणा–साफल्य'** के लिए ही सुप्रसिद्धा **'दंद्रम्यमाणा'** (१) उस जघन्या वृत्ति का ही अनुगमन प्रक्रान्त रक्खा, जिसका उद्गम मोहमयी **'अविद्या'** से ही हुआ करता है। इसी दंद्रम्यमाणा मोहमयी असत्प्रवृत्ति से हमें तथोक्ता अवधि में कभी **राजन्यसत्ता–तन्त्रों** की, तो कभी देश के धर्मप्रेमी (वस्तुतः सम्प्रदायात्मक मतवादों के ही अनुगामी) **सम्पन्न धनिकों** की अहर्निश उपासना ही प्रक्रान्त रखनी पड़ी, जिसके द्वारा अभिव्यक्त **'स्वाध्यायनिष्ठा–अभिभव'** से (जैसाकि हम आज स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं कि) हमारा अत्यन्त ही अनिष्ट ही हुआ अपने **सांस्कृतिक चिन्तन, साहित्यिक–स्वाध्याय,** तथा **कर्त्तव्यकर्म्मात्मक कर्म्म के आचरण**–क्षेत्रों की दृष्टि से।

२००–'भावुकता' स्वरूपदर्शनानुग्रह से ही दश वर्ष पूर्व तत्सापेक्षता से आंशिक-परित्राण, एवं-'आंशिक' भावानुबन्धी एक नूतन अभ्र का आविर्भाव—

अन्ततोगत्वा सन् ४२ के अवसान में **'मानवाश्रम–पाक्षिक'** के **'भावुकता'** निबन्ध के अनुग्रह से ही हमारी वह मोहनिद्रा आंशिकरूपेण उपशान्त होसकी। **'आंशिक–रूपेण'** इसलिए कि, उस समव हमारी ऐसी मान्यता थी कि, **'ब्रिटिशसत्तातन्त्रानुगत–पारतन्त्र्य'** के निग्रह से ही भारतीय **संस्कृति, साहित्य,**

---

(१)-अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
––उपनिषत्

तथा **धर्म्म** अपने ज्ञानविज्ञानात्मक–मौलिक–स्वरूप से आज अभिव्यक्त नहीं होरहे हैं। एवं **परसत्ता–**निबन्धना **आत्म–बुद्धि–मनः–शरीरनुगता** इसी सर्वदासता से न तो भारतराष्ट्र के * **सामन्त-सत्तातन्त्रों** की ही अपनी इस मूलनिधि की ओर दृष्टि है, नापि साम्प्रदायिक–मतवादों के निग्रहात्मक अनुग्रह से देश का **सम्पन्न वर्ग** ही इस ओर जागरूक है। किन्तु प्रक्रान्त राष्ट्रीय **स्वतन्त्रता–संग्राम** के अनुग्रह से जब निकट–भविष्य में हीं हमारा राष्ट्र इस आर्थिक पारतन्त्र्य के साथ साथ सांस्कृतिक पारतन्त्र्य से भी (**मनःशरीरदासता** के साथ साथ **आत्मबुद्धिदासता** से भी) उन्मुक्त होजायगा, तो उस **सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र** के अपने हीं **सुशासनकाल** में अवश्य ही राष्ट्रीया वह **मूलसंस्कृति**, वे मौलिक–**सांस्कृतिक आचार**, तथा वें मौलिक **सांस्कृतिक-आयोजन** असंदिग्ध रूपेण पुनराविर्भूत, तथा पुष्पित–पल्लवित हो ही जायँगे, जो परसत्तातन्त्रों की निबिडतमा वारुणपाश-परम्परा से विगत अनेक शताब्दियों से अन्तर्म्मुख ही बनते चले आरहे हैं। और **स्वसत्तातन्त्र** के **स्वशासनयुग** में राष्ट्र का सुसमृद्ध वर्ग भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपनी राष्ट्रीया संस्कृति का महत्त्व समझने लगेगा, एवं किसी भी प्रतिदान की असद्भावना से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न रखता हुआ तत्प्रति निर्व्याजरूपेणैव अपनी मुक्तहस्तता का भी परिचय प्रदान करने लगेगा।

२०१–आंशिक–निरपेक्षता–युगानुगता अमुक मानवश्रेष्ठ की निर्व्याजा संस्कृतिनिष्ठा, एवं तन्निबन्धन हमारा स्वाध्यायनिष्ठा–संरक्षण—

सन् ४२ को तथाकथिता आंशिकरूपेण उपशान्ता **सत्तासापेक्षता**, तथा **लोकसापेक्षता** के पर्य्यवसान के साथ साथ ही सम्भवतः ही क्यों, अपितु निश्चयेन अनायासेनैव बिना प्रयास के ही हमें एक वैसे **मानवश्रेष्ठ** की उपलब्धि होगई, जिसकी निर्व्याजा सांस्कृतिक–श्रद्धा के कारण हीं हमारी सांस्कृतिक–प्रवृत्तियाँ तथाविध निरपेक्षयुग में भी येन केन रूपेण निष्ठापथानुगामिनीं हीं बनीं रहीं। और आजतक भी एकमात्र उसी मानवश्रेष्ठ के निर्व्याज सांस्कृतिक-सहयोग से हमारी तत्प्रवृत्तियाँ यथापूर्व प्रक्रान्त हैं। एवं ऐसी आस्था है कि, भविष्य में भी '**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' इस आर्षविधान के अनुसार तथाप्रक्रान्ति में कोई भी विघ्न उपस्थित न होगा।

---

*–**सामन्त-सत्तातन्त्र (राजन्ययुग)** से सम्बन्ध रखने वाली एक भुक्त-घटना हीं इस दिशा में वैसा ज्ज्वलन्त प्रमाण है, जिससे ब्रिटिशराज्यानुवर्त्ती सामन्त-राज्यतन्त्रों की तद्युगीया मनोवृत्ति स्पष्ट होजाती है। जयपुरराज्य प्राच्यसंस्कृति का पारम्परिक उपासक माना जाता रहा है निगमनिष्ठ स्वर्गीय नृपतिश्रेष्ठ श्रीजय–सिंहजी महाभाग की शास्त्रनिष्ठा के पारम्परिक–विस्तारानुबन्ध से। उसी सांस्कृतिक ?, साहित्यिक ?, एवं परम-धार्म्मिक ? जयपुर में सन् १९३० में जब हमने वेद के सुप्रसिद्ध-'शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य' के '**मासिक–पत्र**' के रूप से प्रकाशन की राज्य से स्वीकृति लेनी चाही, तो इस स्वीकृति–ग्रहण में हीं हमें पूरा एक वर्ष लग गया। उस सामन्त–युग के अधिकारीगण सशङ्कित ही होपड़े कि, कहीं हम इस 'पत्र' के द्वारा उनकी आराध्या ब्रिटिशसत्ता के विरुद्ध तो कुछ आन्दोलन नहीं करना चाहते उक्त मासिक–पत्र से, इत्याल–प्यालमेव।

२०२–महद्भाग्यानुगता भारतराष्ट्र की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता, तन्निबन्धन सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारतीय-सत्तातन्त्र, एवं तथाविध सत्तायुग के सुशासन में भी भारतीय सांस्कृतिक-मूलनिधि की निरपेक्षता, और आंशिक-निरपेक्षता की 'सर्वनिरपेक्षता'-रूप में परिणति—

महत्सौभाग्य से राष्ट्रने अपने स्वतन्त्रता-संग्राम में **परसत्तातन्त्र** के स्थान में '**स्वसत्तातन्त्र**' स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, एवं तदनुसार ही गणतन्त्रात्मिका प्रजातन्त्रात्मिका पद्धति के आधार पर राष्ट्र का स्वतन्त्र संविधान निर्मित हुआ, और ····की गाथा के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है*। इस **सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, अपने,** अर्थात् **भारतीय सत्तातन्त्र** से यह आशा स्वाभाविक ही थी कि, वह अवश्य ही भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के पुनराविर्भाव के लिए कोई प्रयत्न शेष नहीं रहने देगा। इसी आशा से सम्भवतः सन् ४८ में हमने **राजस्थान के प्रान्तीय सत्तातन्त्र** के सम्मुख ही अपना सांस्कृतिक-दृष्टिकोण रखने का साहस किंवा दुस्साहस कर ही तो डाला, जो साहस तब से सन् ५८ के अप्रैल पर्य्यन्त, अर्थात् निरन्तर दस वर्ष पर्य्यन्त आशा--प्रतीक्षा, तो कभी निराशा–तटस्थता के ही चङ्क्रमण से चक्रायित बनता रहा, और स्वतन्त्र–सत्तानुबन्धी हमारे सभी संकल्प सर्वात्मनैव अन्तर्मुख ही बन गए अन्ततोगत्वा। यहाँ आकर ही ब्रिटिशसत्ता–नुगता वह '**आंशिकी**' सत्तानिरपेक्षता **सर्वात्मना 'निरपेक्षता'** के रूप में हीं परिणत होगई, जो कि '**निर–पेक्षता**' ही '**संस्कृति**' के क्षेत्र में–'**तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्**' के अनुसार एकमात्र राजपथ माना गया है। '**सत्तानिरपेक्षा-संस्कृति**' के इस तथ्यपूर्ण चिरन्तन दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए ही हमें सहयोगिनी सांस्कृतिक–प्रज्ञाओं के सामयिक उद्बोधन के लिए अपने उत्तरदायित्व पर ही सहस्र पृष्ठात्मक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है, जो कि कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित हुआ है।

२०३–'सत्तानिरपेक्षता' रूप महान् पुरस्कार की पुण्यगाथा का संस्मरण—

'सत्तासहयोगप्राप्ति' के ही प्रमुख उद्देश्य से तीन वर्ष पूर्व स्थापित–'**राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान**' के सुनैष्ठिक संस्कृतिपरायण मन्त्री माननीय **डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल** महोदय संस्थान की सफलता के लिए तीन वर्षों से निरन्तर प्रयत्नशील हैं। आपका क्योंकि भारतीय-संस्कृतिभक्त **महामहिम राष्ट्रपति महाभाग** से अनन्य सांस्कृतिक-सम्बन्ध है। सम्भवतः इसी महान् अनुबन्ध से आपकी इस त्रिवार्षिकी महती तपश्चर्य्या के सुपरिणाम-स्वरूप ही विगत **मार्चमास** में सर्वप्रथम **उत्तरप्रदेश** के सत्तातन्त्र के सञ्चालक, (मुख्यमन्त्री) भारतीय संस्कृति के मर्म्मज्ञ माननीय **डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी** महोदय की ओर से ही '**सर्वप्रथम**' अमुक आर्थिक अनुदान की घोषणा हुई है उक्त संस्थान के लिए। इस प्राथमिक घोषणा के एकमास के अनन्तर ही **हमारी अपनी** उस **राजस्थानसत्ता** के वर्त्तमान मुख्यमन्त्री माननीय **श्रीमोहनलाल जी सुखाड़िया** का ध्यान भी अनुदानदान की ओर आकर्षित हुआ है, जिस इस **अपने सत्तातन्त्र** के प्रति दस वर्षों से निरन्तर प्रयत्न करते हुए अन्ततोगत्वा परिश्रान्त होकर हमने तो तथाकथित–'**सत्तानिरपेक्षता**' जैसे महान् पुरस्कार का ही अनुगमन कर लिया है।

---

* '**सांस्कृतिक संघर्ष के लिए आमन्त्रण**' नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध में **वर्त्तमान सत्तातन्त्र के अभारतीय दृष्टिकोण** का सर्वात्मना दिग्दर्शन करा दिया गया है। (निबन्ध प्रकाशित है)।

२०४–सापेक्षता-निरपेक्षता-से अनुप्राणित उद्बोधनात्मक श्रौत-सूत्रों का माङ्गलिक-संस्मरण—

जैसा कि प्रास्ताविक के आरम्भ में हीं निवेदन किया जाचुका है, संस्कृति का मूलस्वरूप तो **तच्चिन्तन–तत् स्वाध्याय**, तथा **तदाचरण**, त्रिधा विभक्त इस '**सांस्कृतिक-अनुष्ठान**' पर ही अवलम्बित है, जिसके लिए न तो '**लोक**' की ही अपेक्षा है, नैव '**सत्तातन्त्रों**' की । यदि **लोकतन्त्र**, और **सत्तातन्त्र** का अयाचित, सात्विक सहयोग उपलब्ध होजाता है '**संस्कृति**' को **स्वतः** ही, तो–'**यद्यु राजानं लभेत–समृद्धं तत्**' इस सांस्कृतिक सूत्र के अनुसार अवश्य ही संस्कृति का लोक–सत्तानुगत स्वरूप समृद्ध बन जाता है । **किन्तु सहयोग के अभाव में कदापि 'संस्कृति' के मूलस्वरूप का अभिभव नहीं है**–जैसा कि '**ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात्स्थातुम्**' इस सूत्र से स्पष्टतम है । ठीक इसके विपरीत जो **लोक-सत्तातन्त्र** इस मूलसंस्कृति के आश्रय की उपेक्षा कर देते हैं दिग्देशकालविमोहनों में आसक्त–व्यासक्त होते हुए, वे तो समृद्धि से भी सर्वात्मना वञ्चित होजाते हैं, एवं उनकी स्वरूपरक्षा भी शङ्कातङ्किता ही बन जाती है, जैसाकि उसी सन्दर्भ के–'**न क्षत्रं वरुणः–ऋते ब्रह्मणो मित्रात्-स्थातुं शशाक । यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे**' इत्यादि उद्बोधनसूत्र से स्पष्ट है ।

२०५–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' की बाह्यप्रवृत्तियों के प्रति तटस्थ-साक्षित्त्व—

स्पष्ट किया जाचुका है कि, निवृत्तिकर्म्मप्रधान प्रक्रान्त '**मानवाश्रम**' ('**वानप्रस्थाश्रम**') के अनुग्रहात्मक निग्रह से अब इस साहित्यसेवी का तथाविध लोक-सत्ता-तन्त्रों की सापेक्षताओं से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रह गया है । फलत: भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा के निःश्वासरूप अपौरुषेय सनातन वेदशास्त्र के **चिन्तन**, **स्वाध्याय**, एवं दिग्देशकालानुबन्धतारतम्येन यथाशक्य **तदाचरण**, के अतिरिक्त इस मानवाश्रमी (वानप्रस्थी) की अब और कोई लोक-सत्ता-निबन्धना एषणा शेष नहीं रह गई है । एकमात्र अपने निरपेक्ष-वानप्रस्थानुगत प्रक्रान्त जीवन के अनुबन्ध से ही लोकानुगत, अतएव युगधर्म्माक्रान्त, अतएव च विविध '**सापेक्षता**'--अनुबन्धों समन्वित तथा कथित--'**राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान**' की भूत--भौतिकी--**सत्ता-लोक--निबन्धना** उच्चावच यच्चयावत् बाह्यप्रवृत्तियों के व्यावहारिक स्वरूप का समस्त उत्तरदायित्व अब संस्थान के श्रेष्ठतम मन्त्री **श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल** महाभाग से ही अनुप्राणित हो रहा है भविष्य के लिए । तटस्थ साक्षित्त्व के अतिरिक्त अब न तो इच्छा ही है, नैव शक्ति ही ।

२०६–कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'-नुगत-'किञ्चिदिव-प्रास्तविकम्' का उपराम—

सर्वनिरपेक्ष अपने तथाकथित साक्षित्त्व के लोकानुबन्ध से ही **तत्त्वशोधसंस्थान** की ओर से सर्वप्रथम हम भारतराष्ट्र के सर्वोच्च-सत्ताप्रतीक-भारतीय–संस्कृति के प्रति अनन्यश्रद्ध, मानवसुलभ सहज ऋजु मानवधर्म्म से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य: ओतप्रोत, **संस्थान के प्रधान संरक्षक**, महामहिम उन **राष्ट्रपति माननीय श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** के प्रति ही हम अपनी कृतज्ञताञ्जलियाँ समर्पित कर देना अपना **प्रथम**, एव **प्रमुख** कर्त्तव्य मान रहे हैं, जिनके प्रेरणात्मक '**सांस्कृतिक पत्रों**' से ही सर्वप्रथम सर्वश्री

मा० डॉ० **श्रीसम्पूर्णानन्दजी** महोदय ने **उत्तरप्रदेश** से संस्थान को अनुदानप्रदान का अनुग्रह किया, एवं जिनकी **पत्रप्रेरणासे ही हमारे अपने राजस्थानसत्तातन्त्रने** भी हमारी **दशवार्षिकी,** तथा डॉ० अग्रवाल महोदय की त्रिवार्षिकी कटुपरीक्षा लेने के अनन्तर अपना अनुग्रह अभिव्यक्त किया।

तदनन्तर उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री सर्वश्री मा० **डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी महोदय** जैसे **संस्कृति-मर्म्मज्ञ** के प्रति **संस्थान** अपने **कृतज्ञता-प्रसून** समर्पित कर रहा है, जिन्होंनें हीं **'सर्वप्रथम' इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को लक्ष्यानुगत बनाया,** एवं इसे अपने **अनुग्रहदान** से समन्वित कर प्रोत्साहित किया। संस्थान अपने इन संस्कृतिमर्म्मज्ञ मुख्यमन्त्री महोदय के प्रति संस्थान के मन्त्री महोदय की आस्था के अनुसार ही अपनी ऐसी निष्ठा भी अभिव्यक्त कर रहा है कि, भारतीय वाङ्मय में सुप्रसिद्ध, ज्ञानविज्ञानात्मक बीस सहस्र-पृष्ठात्मक उस **शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य** के महारम्भ प्रकाशन की ओर भी आप का निकट भविष्य में हीं ध्यान आकर्षित होगा, जो **शतपथ** भारतीय संस्कृति का **'महाकोश'** माना गया है।

सर्वान्त में **राजस्थानसत्तातन्त्र** के परम यशस्वी मुख्यमन्त्री, दिग्देशकालमर्म्मज्ञ माननीय **श्रीमोहन-लालजी सुखाड़िया** के प्रति भी संस्थान की ओर से कृतज्ञता अभिव्यक्त कर देना हम दिग्देशकालानुबन्धी अनिवार्य्य कर्त्तव्य ही मान रहे हैं, जिनकी निःसीम उदारता से ही हमारा **दशवार्षिक,** तथा संस्थान के सम्मान्य मन्त्री डॉ० अग्रवाल महाभाग का **त्रिवार्षिक-प्रतिबन्ध टूट सका है,** और **राजस्थानसत्तातन्त्रने सुदीर्घपरीक्षण** के अनन्तर निर्णीत अपने इस अनुदानानुग्रह से **राजस्थान की सांस्कृतिक-मर्य्यादा के संरक्षण** का ही **महत्पुण्य** कार्य्य ही अभिव्यक्त किया है। **संस्थान को आशा रखनी चाहिए कि, भविष्य में राजस्थानसत्तातन्त्र 'राजस्थान' की सनातना 'सांस्कृतिक-निष्ठा' के संरक्षण में किसी भी प्रान्त से पश्चादनुगामी प्रमाणित नहीं होगा। और अपने प्राथम्य से राजस्थान के सांस्कृतिक-यशःशरीर को अक्षुण्ण ही प्रमाणित करता रहेगा।**

कृतज्ञता-ज्ञापनात्मिका उक्ता मङ्गलकामना से अनुप्राणित, श्री डॉ० अग्रवाल-महाभाग की महत्त्वपूर्णा-**भूमिका** से (यथासम्भव) समन्वित, सांस्कृतिक चिन्तन-स्वाध्याय-आचरण-निष्ठ, अतएव समान-धर्म्मा मानवाश्रमात्मिका पारिभाषिकी **'आश्रमव्यवस्था'** के उपासक मानवश्रेष्ठों के दिग्-देश-काला-नुबन्धी बौद्धिक अनुरञ्जन के लिए ही उपनिबद्ध-**'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक चतुर्थखण्ड प्रस्तुत-**'किञ्चि-दिव प्रास्ताविकम्'** के साथ साञ्जलिबन्ध उपरत होरहा है, इति निवेदयति प्रणतभावेन-

द्वितीय श्रावणशुक्ल-तृतीया, रविवासर
वि० सं० २०१५
'मानवीक्थवैराजिकब्रह्मोद्य'
-(मानवाश्रम)-

यः कश्चदपि मुक्तरक्तशर्म्मा
वेदवीथी-पथिकः
आङ्गिरसो भारद्वाजः

श्रीः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक चतुर्थखण्ड की *संक्षिप्ता--विषयसूची*

(१२६३ परिच्छेदात्मिका)



श्रीः

"भारतीय हिन्दू–मानव, और उस की भावुकता"–निबन्धान्तर्गत–

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–नामक

चतुर्थखण्ड की संक्षिप्ता विषयसूची

४

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके--एकादशस्तम्भे-'क'-कारविभागात्मके–चतुर्थखण्डे–

दिग् देशकालस्वरूपानुगत (१)-"पारिभाषिकस्य" प्रथमप्रकरणस्य

संक्षिप्ता विषयसूची–१८५ परिच्छेदात्मिका

१–माङ्गलिकसंस्मरण १

२–कालपुरुष से अपराध–क्षमापन, एवं तत्स्वरूपोपक्रम २

३–काल का शाब्दिक निर्वचन .... ,,

४–काल का दार्शनिक स्वरूप ३

५–काल का पौराणिक स्वरूप ... . ,,

६–स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ मानव का जन्म-साफल्य ५

७–दिग्--देश–काल--निबन्धन चिरन्तन इतिहास का मूलाधारभूत 'काल' शब्द .... ,,

८–भूत--भवत्--भविष्यत्--रूपेण विवर्त्तत्रयात्मक 'काल', और 'समय' ६

९–कालानुबन्धी '**समयः**' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय ... ... ,,

१०–कालतत्त्व के आनन्त्य की महामहिमशालिता ७

११–भूत--भविष्यत्--कालों की अनन्तता, एवं वर्त्तमानकाल की सादि--सान्तता ... ,,

१२–अवलोकित दृश्यजगत् की वर्त्तमानकालता .... ,,

१३--अवलोकन--लोचन, और आलोक (प्रकाश) का समन्वय ८

१४–सौरलोकानुगत अवलोकन, और लोकसाक्षी सूर्य्यनारायण ... . ,,

१५–वर्त्तमानकालात्मक सौरकाल, और त्रयीमय--त्रिगुणमूर्त्ति सूर्य्यनारायण.... .... ,,

१६–जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ... ... ,,

१७–संख्यानुगत क्रमभाव, एवं क्रमधारात्मिका कालव्यवस्था ६

१८–संख्यात्मक कलाभावों से क्रमसिद्ध काल की स्वरूपनिष्पत्ति, तथा क्रमगणना-सिद्ध काल की मूर्त्तता .... ,,

१९–सादि–सान्त--मूर्त्त--भावापन्न वर्त्तमानकाल के अवच्छेदक भूत–भविष्यत्--कालों की अमूर्त्तता, एवं अनन्तता .... ,,

२०–अनन्तकालात्मक–भूत–भविष्यत्–काल से परिगृहीत सादि–सान्त–व्यक्त भी वर्त्तमानकाल की अनन्तता का समन्वय ११
२१–भूत का भविष्यत् में, एवं इन दोनों का वर्त्तमान में अन्तर्भाव, तथा भूत-भविष्यत् की महदक्षरमूला अनन्तता .... „
२२–भूत–भविष्यल्लक्षण अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्तकाल के द्वारा वर्त्तमानकाल-लक्षण मूर्त्त–व्यक्त सादि–सान्तकाल की अभिव्यक्ति .... „
२३–द्वादशाहोरात्मक मानवीय अहःकाल के साथ सौर सत्तात्मक वर्त्तमानकाल का समतुलन .. १२
२४–सूर्य्यसत्ताकालात्मक, अहर्लक्षण वर्त्तमानकाल के अनन्तभावानुगत गणनक्रम का उपक्रम.... „
२५–वाक्साहस्री के 'सहस्रधा-महिमानः-सहस्र' भावमाध्यम से अहोरूप सूर्य्य का सहस्रांशुत्त्व, एवं तन्मूलक सहस्ररश्मिभाव १३
२६–मन्वन्तरविद्यामूलक गणनानन्त्य, एवं श्रीभास्कराचार्य्य के भावुकतापूर्ण उद्गार १४
२७–अव्ययमनोऽनुगत मनुभाव, एवं तन्मूलक 'मन्वन्तरभाव' .... „
२८–असंख्य–मन्वन्तरों के सौर–अहःकालानुबन्धी त्रिंशद्-विवर्त्त .... „
२९–मानवीय अहोरात्र के त्रिंशत् (३०) मूहूर्त्तों के साथ सौर अहोरात्र के त्रिंशत् मन्वन्तरों का समतुलन १५
३०–मानव का शतायुः-परिमित आयुर्भोगकाल, एवं तन्मूलक बृहतीसहस्रप्राण का रहस्यात्मक समन्वय .... „
३१–'आयुष्टोमयज्ञ' के द्वारा सम्वत्सरप्रजापति का शतायुष्ट्वभाव, एवं तदभिन्न–तन्नेदिष्ठ मानव का आयुष्टोमनिबन्धन शतायुर्भोगकाल १६
३२–शतायु ईश्वरप्रजापति के **अविज्ञेय–दुर्विज्ञेय–विज्ञेय–सुविज्ञेय**–भावात्मक चतुर्विध महिमा–विवर्त्त .... „
३३–अविज्ञेय **परमेश्वर**, दुर्विज्ञेय **महेश्वर**, विज्ञेय **बल्शेश्वर**, एवं सुविज्ञेय **उपेश्वर**–भावात्मक ईश्वरीय विवर्त्तों का दिग्दर्शन १७
३४–नित्यप्रलयानुगत मानव, खण्डप्रलयानुगत उपेश्वर, प्रलयानुगत बल्शेश्वर, एवं महाप्रलयानुगत महेश्वर–अनुबन्धी लयभावों का समन्वय .... „
३५–स्वेदायनादि वर्षान्त कालखण्डों के चौदह विवर्त्तों का समन्वय, एवं तत्समर्थक महर्षि 'बार्कलि' १८
३६–उपेश्वरात्मक सम्वत्सरप्रजापति, एवं तन्मूलक–तदभिन्न पुरुष (मानव) १९
३७–सम्वत्सरप्रजापति, और पुरुष का पारस्परिक समतुलन.... २०
३८–उपेश्वर के स्रष्टा बल्शेश्वरप्रजापति, एवं इन के चित्पति–प्राणपति–भूतपति–लक्षण ब्रह्मा-विष्णु-महेशात्मक तीन विवर्त्त २१
३९–मानव का उपेश्वर में, उपेश्वर का बल्शेश्वर में, बल्शेश्वर का महेश्वर में, एवं महेश्वर का परमेश्वर में विलयन, तथा सर्गानुबन्धिनी लयपरम्परा .... „

४०–पुरुषानुगत मानवयुग, उपेश्वरानुगत दिव्ययुग, बल्शेश्वरानुगत ब्राह्मयुग, एवं महे- श्वरानुगत ईश्वरीययुग–भेद से चतुर्विधा युगव्यवस्था ··· ···· ···· २१

४१–पार्थिव अक्षवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, एवं सौर क्रान्तिवृत्त–मूलक मानव–पैत्र–दैव– अहोरात्रों का पारिभाषिक समन्वय ··· ···· ···· ···· २२

४२–त्रिविध अहोरात्रों का निष्कर्षार्थसमन्वय ··· ··· ··· २३

४३–दिव्य अहोरात्र, दिव्यमास, एवं दिव्यवर्ष का पारिभाषिक समन्वय ··· ···· ,,

४४–दिव्ययुगानुगता आयुर्व्यवस्था की अनन्तता का मूलाधार ··· ··· ,,

४५–सूर्य्यकेन्द्रस्थ मनु, एवं तन्मूलक मन्वन्तरों की मुहूर्त्तात्मकता का समन्वय ··· २५

४६–दिव्ययुगानुगत–गणनानन्त्य का उपक्रम ··· ··· ··· ,,

४७–सत्य–त्रेता–द्वापर–कलि–युगों के ३६०००००(छत्तीसलाख) विभूतिभाव ···· ,,

४८–सन्ध्यांशसमन्वित बारह हजार दिव्य वर्षों के साथ ४३२०००० (तियाँलीस लाख, बीस हजार) मानववर्षों का समतुलन ··· ··· ··· ··· २६

४६–अतःपरमिदं महदाश्चर्य्यम् ···· ···· ···· ··· ,,

५०–चतुर्युगी से अनुप्राणिता दिव्यवर्षानुगता, एवं मानववर्षानुगता महिमा का समन्वय ··· ,,

५१–सहस्रदिव्यचतुर्युगात्मक सौर सत्ताकाल, एवं तद्रूप पुण्याहकाल ··· ·· २८

५२–मानवीय चार अर्ब, बत्तीसकरोड़वर्षात्मक पुण्याहकाल का समन्वय ···· ,,

५३–अहःकल्पसमतुलित रात्रिकल्प, एवं ब्राह्म–अहोरात्र का गणन–समन्वय ··· ··· २६

५४–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' मूलक, सर्ग–संहारात्मक असंख्य मन्वन्तर, एवं कालपुरुष की अनन्तता ··· ··· ···· ··· ··· ,,

५५–ब्राह्मी तिथि से समतुलित एक ब्राह्म अहोरात्र, एवं उसके मानववर्षानुपात से आठ अर्ब, चौसठकरोड़ वर्ष ···· ··· ··· ··· ३०

५६–त्रिंशत् (३०) ब्राह्म–अहोरात्रों के माध्यम से बल्शेश्वर के शतायुर्भोगकाल का गण- नात्मक समन्वय ··· ··· ··· ··· ···· ,,

५७–पुराणशास्त्र की चतुर्दशमन्वन्तरमूला सृष्टिविद्या ··· ··· ···· ३२

५८–ब्राह्म–अहःकाल के पूर्वपक्षीय सप्त मन्वन्तर, एवं उत्तरपक्षीय 'सावर्णि' नामक सप्त मन्वन्तर ··· ··· ···· ··· ···· ,,

५६–ब्राह्ममासानुगता–कल्पलक्षणा ३० तिथियाँ ··· ··· ··· ३४

६०–मायी–महेश्वरानुगत शतायुर्भोगकाल की दुरधिगम्यता–मूला अचिन्त्यता ·· ···· ३६

६१–'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्यायेन वर्त्तमान सृष्टिकालभुक्त–भोग्य–परिमाण–जिज्ञासा का उपक्रम ··· ··· ··· ··· ···· ,,

६२–धार्म्मिक आचारानुगत–'संकल्पसूत्र' के माध्यम से प्रश्नत्रयी के समन्वय की चेष्टा ··· ,,

६३–श्वेतवराहकल्पतिथ्यनुगत, सृष्टिकालात्मक १४ मन्वन्तर ··· ··· ३७

६४–स्वायम्भुव मन्वन्तरादि–चाक्षुष मन्वन्तरान्त ६ मन्वन्तरों के भोगानन्तर सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरभोग की उपक्रान्ति ··· ··· ··· ···· ,,

६५–षट्–मन्वन्तरानुगत सृष्टिभुक्तकाल की इयत्ता का समन्वय ३७
६६–सप्तममन्वन्तर की ७१ चतुर्युगियों में से भुक्त, एवं प्रक्रान्त युगकालों का समन्वय ... ३८
६७–संकलनधिया अद्यावधि भुक्तसृष्टिकालगणना का समन्वय .... ,,
६८–संकलनधिया अद्यप्रभृति भोग्यसृष्टिकालगणना का समन्वय ४०
६९–भूत–भविष्यल्लक्षणा अक्षरप्रकृतिस्वरूपा--महत्प्रकृति की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय ... ... ,,
७०–अर्वाचीन भावुक–प्रज्ञाओं की आत्मस्वरूपविमूढ़ता, एवं भारतराष्ट्र के मौलिक स्वरूप का अभिभव ४२
७१–'सप्तहोता'--यज्ञमूलक सप्त--मन्वन्तरसर्ग, एवं तदाराधन में प्रवृत्ति .... ,,
७२–भाति, तथा सत्ता--सिद्धा कालद्वयी के माध्यम से अनन्तकालानुगता अनन्तकालोपासना-में प्रवृत्ति ४३
७३–तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या के स्वरूप की विलुप्ति, एवं कालस्वरूप की दुर्विज्ञेयता ... ,,
७४–त्रयीतत्त्वमूलक सत्तासिद्ध अनन्तकाल के चिरन्तन इतिवृत्त का उपक्रम ... . ,,
७५–मन्वन्तरमूलक सौर--हृद्य मनु के ज्योतिर्गौरायुर्विवर्त्त .... ,,
७६–त्रिसंस्थ सौरयज्ञ, एवं तन्मूलक उक्थ–ब्रह्म--सामात्मक आत्मभाव ४४
७७–सूर्य्यानुगत त्रित्त्वधर्म्म की उपपत्ति का त्रिवृत्करणात्मक समन्वय .... ,,
७८–सौर ज्योति–गौं--रायु-रनुबन्धी काल--दिक्--देश--भावों का समन्वय ४५
७९–'ब्रह्म' का पारिभाषिक समन्वय, तन्मूलक विश्वपदार्थों के जन्म–स्थिति--भङ्ग--भाव, एवं क्षरब्रह्म की उपादानकारणता ४६
८०–अक्षरविशिष्ट क्षरात्मक कालरूप ब्रह्म के आधारभूत निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप–परिचय ... ४७
८१–ब्रह्म के चार पाद, एवं इस के 'एकपाद' रूप 'एकांश' से जगद्विवर्त्त का आविर्भाव ... ,,
८२–चतुष्पाद्ब्रह्म के–'एकांश' शब्द का पारिभाषिक समन्वय ४८
८३–एकांशतानुगत व्यावहारिक–लोकपक्ष, एवं–'**राई के ओट पर्वत**' सूक्ति का समन्वय ... ४९
८४–ब्रह्म की 'एकांशता' के समन्वय के लिए 'अध्यासवाद' की भ्रान्त कल्पना, एवं तत्स-म्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों का महान् व्यामोहन ... ... ,,
८५–अध्यासवादमूलक मूर्त्त--भौतिक दृष्टान्तों की अन्ततोगत्त्वा 'सिद्धान्त' रूप में परिणति, अतएव च प्रतीकात्मक इन मूर्त्त दृष्टान्तों की आत्यन्तिक निरर्थकता ५०
८६–मूर्त्त–दृष्टान्तानुगत–'अध्यास'–सम्बन्ध का दिग्दर्शन ५१
८७–अध्यासमूलक प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों के महद्ध्परिणामस्वरूप ही 'जगन्मिथ्यात्त्व' रूपा भ्रान्त–कल्पना का उदय, एवं इसी भ्रान्ति से ब्रह्म की अनन्त–विभूतियों की अन्तर्मुखता .... ,,
८८–अनन्तब्रह्म के साथ अमूर्त्त–काल--दृष्टान्त की अनुरूपता, एवं तत्स्वरूपान्वेषणोपक्रम ५२

८६–नित्यसिद्ध आधिदैविक–सत्यसर्ग से पराङ्मुखता, तत्परिणामस्वरूप तत्त्वात्मक नित्यवेद की विस्मृति, तन्मूलक काल्पनिक अध्यासवाद, एवं तदनुबन्धिनी दार्शनिक–मान्यताएँ, तथा उन की निस्सारता ५२
९०–पाञ्चभौतिक विश्वानुबन्धी मूर्त्त पदार्थों की सापेक्षता ५३
९१–सापेक्ष–पदार्थों की गणनानुगता अनन्तता, एवं काल–दिक्–देश-माध्यम से उन अनन्त सापेक्ष–भावों का तीन वर्गों से संग्रह .... ,,
९२–'देश' भाव की गौणता, एवं 'काल–दिक्' भावों की प्रमुखता ५४
९३–दिक्कालाद्यनवच्छिन्न निरपेक्ष ब्रह्म, एवं ज्योतिषशास्त्रानुबन्धी सापेक्ष काल–दिग्–भाव, तथा 'दिक्' के सम्बन्ध में प्रश्नोत्थान .... ,,
९४–दिक्–देश–काल–भावों की स्वरूप-जिज्ञासा का मौलिक कारण .... ,,
९५–कालसापेक्षा बुद्धि, दिक्सापेक्ष मन, देशसापेक्ष शरीर, एवं दिग्देशकालनिरपेक्ष आत्मरूप मानव, तथा उसका सहज आत्मप्रसाद ५५
९६–प्रकृतिपारवश्यमूला आत्मस्वरूपविस्मृति, तदनुगत प्राकृत-व्यामोहन, तन्निबन्धना दिग्देश–काल–स्वरूपजिज्ञासा, एवं तत्समाधाता सृष्टिविज्ञान .... ,,
९७–'प्रयुतां संयोगः', तथा 'प्रहितां संयोगः' मूलक 'वयुन' तत्त्व का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं 'वयुन' की सर्वव्याप्ति ५६
९८–'वयुन' तत्त्व के स्वरूपलक्षण का समन्वय, एवं 'आकृति' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन ५७
९९–वयुनभावानुगत 'वय', और 'वयोनाध' तत्त्व, एव वयोनाध की छन्दोरूपता ५८
१००–वाक्परिमाणात्मक छन्द का स्वरूप-परिचय .... ,,
१०१–प्रकृतिसिद्ध नित्य छन्दों के विविध रूपों का संस्मरण एवं 'वय-वयोनाध-वयुन' भावों का समष्ट्यात्मक संग्रह ५९
१०२–'पदं' लक्षण 'वस्तुपिण्ड', 'पुनःपदं' लक्षण 'वस्तुमण्डल', एवं पिण्ड की 'स्पृश्यता', तथा मण्डल की 'दृश्यता' का समन्वय ६०
१०३–प्राणों के आनन्त्य का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी पदं-पुनःपदं रूप पिण्ड, और ब्रह्माण्ड
१०४–'प्राण' शब्द की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'प्राण–ऋषि–देवता' नामक तीनों शब्दों की आंशिक अभिन्नता का समन्वय ६१
१०५–प्राण की गतिरूपता, एवं गतिरूप प्राण के गत्यात्मक पाँच विवर्त्त .... ,,
१०६–'प्राणदपानत्' रूप 'प्राणिति च, अपानिति च' का समन्वय .... ,,
१०७–ऋषयः–पितरः–असुराः–देवः–पशवः–भूतानि–लक्षण प्राण के विभिन्न वर्गों का स्वरूप–दिग्दर्शन ६२
१०८–भूतानुबन्धी 'रसभाव', प्राणानुबन्धी 'वितानभाव', एवं तन्मूला तत्त्वात्मिका 'त्रयीविद्या' ,,
१०९–छन्दः–रसः–वितानम्, तदनुगत ऋक्–यजुः–साम, एवं तन्निबन्धन दिग्देशकाल .... ,,

११०–सर्वसामान्यानुभूता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्त्वानुगता दिग्देशकाल-त्रयी का स्वरूपोपक्रम ६३
१११–दृश्यजगत्, एवं स्पृश्यजगत् का पार्थक्य, तथा तदनुबन्धी समानधर्म्म .... ,,
११२–सौर-चाक्षुष-प्राणों की सजातीयता, चक्षुरनुबन्धी दृश्यजगत्, एवं शरीरानुबन्धी स्पृश्यजगत् ६४
११३–दृश्यमण्डलों की विदूरता से अनुप्राणिता चाक्षुषी दृष्टि में तारतम्य, एवं तदाधारेण दृश्य-स्पृश्य-भावों का समन्वय .... ,,
११४–भूतज्योतिरनुबन्धिनी चाक्षुषी दृष्टि, तदाधारभूत 'प्रति-अक्ष' भाव, एवं तन्मूलक 'प्रत्यक्ष' शब्द का समन्वय ६५
११५–दृश्यमण्डलानुगत सापेक्ष अणु-महान्-भाव, एवं नियताकाराकारित वस्तुपिण्ड, तथा दृश्यमण्डल-स्पृश्यपिण्ड का पार्थक्य .... ,,
११६–'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक अन्तर्जगत्, पदार्थों के सत्तासिद्ध,-भातिसिद्ध,-उभयसिद्ध, रूप तीन विवर्त्त, एवं भातिसिद्ध-पदार्थों की महती अश्व-यक्ष-रूपता ... ६६
११७–'उभयसिद्ध' पदार्थों का स्वरूप-परिचय, एवं स्वदृष्ट यच्चयावत् पदार्थों का स्वसृष्टित्व .... ,,
११८–'सत्तासिद्ध' पदार्थों की अन्तर्जगदनुगतता, एवं मानवीय 'प्रत्यय' की सत्यरूपता का समन्वय .... ,,
११९–अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य के सह समन्वय से मानवीय 'प्रत्यय' का उदय, एवं प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्र का तन्तुवितानात्मक 'इन्द्रजाल' ६७
१२०–प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रा-निबन्धन वस्तुदर्शनात्मक ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष, एवं 'मानवप्रत्ययजगत्' की उभयसिद्धरूपता का समन्वय .... ,,
१२१–प्रत्ययाधारभूत दिक्, देश, प्रदेश–भावों का स्वरूप–समन्वय ६८
१२२–छन्द, वस्तुपिण्ड, वस्तुमण्डल-रूप से काल-दिक्-देश-भावों का समन्वय .... ,,
१२३–छन्योमयी ऋक्–तद्रूपा दिक्, पिण्डरूप यजुः-तद्रूप देश, मण्डल रूप-साम, एवं तद्-रूप काल ६९
१२४–काल की दिग्रूपता, दिक् की देशरूपता, एवं देश की प्रदेशरूपता, तथा दिग्देशप्रदेश भावों की कालात्मकता ... ... ,,
१२५–'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूप असंख्य मूर्तिभाव ७१
१२६–वस्तुपिण्डधारभूत दृश्यमण्डल की 'षड्दर्शनता' का समन्वय, एवं महादेश-अल्पदेश-भावों का स्वरूप-तारतम्य ... ... ,,
१२७–दिक्-देश-काल-शब्दों का दृष्टिकोणभेदनिबन्धन स्थान-विपर्य्यय ७२
१२८–प्रदेश, प्रादेश-शब्दों का समन्वय, एवं प्रदेश शब्द का स्वरूप-निर्वचन .... ,,
१२९–वस्तुपिण्डात्मक स्पृश्य देश की देशरूपता का, तथा वस्तुमण्डलात्मक दृश्य देश की प्रदे-शता का समन्वय ७३
१३०–वस्तुमण्डल का पूर्वभावित्त्व, एवं वस्तुपिण्ड का उत्तरभावित्त्व, ... ,,
१३१–दिक्-देश-प्रदेश-भावों की काल-दिक्-देश-रूपता का समन्वय .... ,,

१३२–व्यक्तिमूला अभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला त्रयीविद्या, एवं तदनुबन्धी मूर्त्त–व्यक्त-भाव का स्वरूप-समन्वय ७४
१३३–प्राणगतिरूपा क्रिया के सञ्चरण से अभिव्यक्तित्त्व में परिवर्त्तन, तन्मूलक अन्नोर्कप्राणान्योऽन्य-परिग्रह–लक्षण नित्य यज्ञ, एवं यज्ञाधारभूत रसात्मक यजुः ७५
१३४–केन्द्रस्थ यजु-रस का ऊर्ध्व व्युदूहन, एवं तद्द्वारा मूर्त्ति–गति–तेजो–भावत्रयी का आविर्भाव .... ,,
१३५–मूर्त्ति-गति-तेजो-भावात्मिका ऋक्–यजुः-साम-त्रयी, एवं तत्समर्थन में भगवान् तित्तिरि का तात्त्विक वचन ७६
१३६–मूर्त्तिस्वरूपसम्पादक ऋग्वेद की छन्दोवेदरूपता, एवं तन्मूला वेदत्रयी ७७
१३७–मूर्त्ति भावानुगत परिणाह–विष्कम्भ–हृदय–भावों का दिग्दर्शन ... . ,,
१३८–ऋङ्मूलक 'प्रस्ताव', यजुर्म्मूलक 'यजन', एवं साममूलक 'उद्गीथ' शब्दों का वाच्यार्थसमन्वय ... . ,,
१३९–विष्कम्भ–ऋक्–प्रस्ताव–त्रयी का, हृदय–यजुः–यजन–त्रयी का, एवं परिणाह-साम-उद्गीथ-त्रयी का अभिन्नत्त्व ७८
१४०–छन्दोवेदत्रयीरूप ऋग्वेद की स्वरूपमहिमा .... ,,
१४१–इन्द्रमूला गति, उपेन्द्रमूला आगति, एवं इन्द्राविष्णू की प्रकृतिसिद्धा प्रतिस्पर्द्धा ... ७९
१४२–लोक–वेद–वाग्–अनुगता साहस्री–त्रयी, एवं–'न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः' का तात्त्विक समन्वय .... ,,
१४३–प्राणगति के गति–आगति–स्थिति-रूप तीन विवर्त्त, तद्रूपा ब्रह्मेन्द्रविष्णुत्रयी, एवं तदनुगता एका मूर्त्तिः ८०
१४४–आगतिरूपा गति का उक्थाप्यायनत्त्व, तदनुबन्धी ऋक्त्व, एवं यजुर्गति में ऋग्वेद का उपभोग ... ... ,,
१४५–गतिरूपा गति का ऋचा समत्त्व, एवं यजुर्गति में सामवेद का उपभोग ... ८१
१४६–स्थितिरूपा गति का यजनात्मक यजुष्ट्व, एवं यजुर्गति में यजुर्वेद का उपभोग, तथा रस-वेदात्मक यजुर्वेद की त्रयीवेदरूपता का समन्वय ... ... ,,
१४७–तेजोभावापन्न वितानात्मक सामवेद, एवं तदनुगत पूर्वोत्तर मण्डलभाव ... ८२
१४८–प्रदेशात्मक-प्राणमण्डललक्षण तेजोमय साम से अनुगता त्रयीविद्या ... ... ,,
१४९–पूर्व-पूर्व-मण्डलात्मक-भावों का ऋक्त्व, उत्तरोत्तरमण्डलात्मक-भावों का सामत्त्व, विष्कम्भहृदयरेखानुगत-भावों का यजुष्ट्व, एवं वितानवेदात्मक सामवेद में त्रयीवेद का उपभोग ८३
१५०–(क) दुर्बोध्य काल के व्यक्तकाल-दिक्-देश-प्रदेश-नामक चार विवर्त्त, एवं चारों व्यक्तविवर्त्तों का कालविवर्त्त में अन्तर्भाव ... ... ,,

१५०–(ख) त्रिवेदात्मिका छन्दोवेदमयी वस्तुमूर्त्ति, त्रिवेदात्मक रसवेदमय वस्तुपिण्ड, त्रिवेदात्मक वितानवेदमय वस्तुमण्डल, एवं मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलात्मक पदार्थ ८६
१५१–गुण-अणु-रेणु-भूत-भौतिक-महाभूत-आदि के मुख्य सर्ज्जक तत्त्वात्मक त्रयीवेद का संस्मरण, एवं त्रयीवेद की 'कालरूपता' के माध्यम से 'कालः सृजति भूतानि' का समन्वय ... ... ,,
१५२–तत्त्वात्मक लोकातीत वेद की **'कालपुरुषरूपता'**, एवं योगात्मक लोकमय वेद की **'यज्ञपुरुषरूपता'** का समन्वय ८७
१५३–अपौरुषेय कालवेद, पौरुषेय यज्ञवेद, एवं तद्वाचक ब्रह्मनिःश्वसित,–गायत्रीमात्रिक-शब्दों का संस्मरण ... . ,,
१५४–लोकातीत कालपुरुष के स्वरूप-समन्वय के लिए प्रतीकविधि से 'लोक' का आश्रय ... ८८
१५५–लोकातीत कालपुरुष से अभिव्यक्त 'लोक' के महिमामय विवर्त्त, एवं काल से काल का उत्पीड़न .... ,,
१५६–**अनन्तब्रह्म-अनन्तकाल-व्यक्तकाल-मनु**,-एवं भूतभौतिक **विकारों** का स्वरूप-दिग्दर्शन ८६
१५७–अचिन्त्य-पराक्रमशाली अनन्तब्रह्म के **'एकांश'** से आविर्भूत सर्वप्रपञ्च ६०
१५८–'एकांश' रूप 'अनन्तकाल' के माध्यम से सृष्टि के मूलबीजरूप **'शुक्रम्'** का संस्मरण .... ,,
१५६–भृग्वङ्गिरोमय शुक्रबीज के द्वारा कालसाक्षी में लोकसर्ग का आविर्भाव ... ६१
१६०–शुक्र के द्वारा अस्त्वण्ड-पोषाण्ड-यशोऽण्ड-रेतोऽण्ड-नामक चतुर्विध ब्रह्माण्डों का आविर्भाव ६२
१६१–**अक्ष-दक्ष-क्रान्ति**-नामक त्रिवृत्तों के द्वारा सम्पन्न दीर्घवृत्त की अण्डवृत्तता का स्वरूप समन्वय, एवं 'ब्रह्माण्ड' शब्द का वाच्यार्थ ... ... ,,
१६२–ब्रह्माण्डप्रवर्त्तक कारणभूत कालात्मक ब्रह्म की असद्रूपता का समन्वय ... ६३
१६३–'असत्' शब्द के तात्त्विक वाच्यार्थ का दिग्दर्शन ६४
१६४–लोकातीत-अमूर्त्त-अव्यक्त-अनन्त-वेदमूर्त्ति कालपुरुष के महिमामय स्वरूप-का संस्मरण ... ,,
१६५–प्राणब्रह्ममूर्त्ति कालपुरुष के आकाश-वायु-नामक दो महिमामय विवर्त्त ... ६५
१६६–आकाश-वायु-मूर्त्ति कालात्मक यजुर्ब्रह्म की ऋक्साम में अपीतता ... ... ,,
१६७–स्थिति-गतिप्रकृतिक, ऋषिप्राणमूर्त्ति, असद्रूप, अनन्त, लोकातीत, लोकसाक्षी, द्विब्रह्मा-त्मक कालब्रह्म की यशोगाथा का पावन संस्मरण, तदनन्तता, एवं तद्रूप अनन्तवेद .... ,,
१६८–**'वामपलित'** नामक कालाग्नि का संस्मरण ६६
१६६–कालाग्नि से आविर्भूत विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन ... . ,,
१७०–कालाग्निरूप त्रयीब्रह्म से **'आपःशुक्र'** का आविर्भाव, तस्मिन् ब्रह्म का प्रवेश, ततः आण्डस्वरूपनिष्पत्ति, एवं रेतोऽण्डरूप शुक्र के भृगु–अङ्गिरा–अत्रि–नामक तीन महि-माविवर्त्त ६७
१७१–द्विब्रह्म-सुब्रह्म-रूप पति-पत्नी का दाम्पत्य, एवं तद्द्वारा विराट्पुत्रोत्पत्ति ... ,,
१७२–अनादिनिधना सत्या वेदवाक्, एवं 'इन्द्रपत्नी' रूप से तत्संस्मरण ६८

१७३–अनेजदेजल्लक्षण ब्रह्म में मातरिश्वा के द्वारा आपः शुक्र का आधान ... ९९
१७४–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (सदा सदा के लिए) प्रक्रान्त प्राजापत्य सर्गचङ्क्रमण ... ,,
१७५–प्रजापति की अमृतसृष्टित्रयी, एवं मर्त्यसृष्टित्रयी ... ,,
१७६–भृग्वङ्गिरोरूप-आपोमय शुक्र के वाक्-आपः-अग्नि-रूप तीन विवर्त्त ... ,,
१७७–भृग्वङ्गिरोमय-त्रीजात्मक-गायत्रीमात्रिक-नामक सौरवेद ... १००
१७८–पौरुषेय-तात्त्विक-सौरवेद का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,
१७९–'भृग्वङ्गिरोरूपम्', एवं 'भृग्वङ्गिरोमयम्' का तात्त्विकसमन्वय ... ,,
१८०–ऋत-सत्य-भावापन्न अग्नि-सोम की सर्वव्याप्ति, एवं 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का समन्वय ... १०१
१८१–तत्त्वात्मक-कालात्मक-वेद, और प्रामाण्यजिज्ञासा ... १०२
१८२–तात्त्विक-वेद के सम्बन्ध में कतिपय श्रौतसन्दर्भ ... ,,
१८३–तात्त्विक वेद के सम्बन्ध में राजर्षि मनु ... १०४
१८४–गायत्रीमात्रिक-यज्ञमात्रिक-भूतमात्रिक-नामक सौर-चान्द्र-पार्थिव-तत्त्ववेदों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,
१८५–"कालः-कालं-परिपीड़यन्-कालान्तरे-कालोपादानमाध्यमेन कालमेव जनयति", लक्षण पारिभाषिक सूत्र का तात्त्विक समन्वय, एवं आचार्य्यचरणानुगता पावन-श्रद्धा का संस्मरण ... ,

उपरता चेयं

दिग्देशकालमीमांसानुगत–'पारिभाषिक'–प्रथमप्रकरणस्य

संक्षिप्ता विषयसूची (१८५ परिच्छेदात्मिका)

१

—*—

श्री:

'अथर्ववेदीय कालसूक्तार्थसमन्वयात्मकस्य' द्वितीयप्रकरणस्य

संक्षिप्ता विषयसूची–४८८ परिच्छेदात्मिका

१

——※——

१–'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः' इत्यादि प्रथममन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय १११

२–व्यक्तकाल के उपक्रम-उपसंहार-स्थान, एवं चतुर्लोकात्मक ब्रह्माण्ड का भाग्य-विधाता व्यक्तकाल ... . ,,

३–अथर्व-साम-यजुः-ऋक्-भेदेन चतुष्पर्वा सौर गायत्रीमात्रिकवेद, तद्रूप व्यक्तकाल, एवं तत्प्रतीकमाध्यम से 'कालाश्व' रूप अव्यक्त-अमूर्त्त-काल के दर्शन ११२

४–भृगवङ्गिरोरूप परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित भृगवङ्गिरोमय-'अश्रु' लक्षण 'अश्व-मूर्त्ति', 'प्रथमजब्रह्म' नामक 'हिरण्यगर्भात्मक', व्यक्तविश्वबीजात्मक 'अग्नि'-भावापन्न दिव्याग्नि ... . ,,

५–ब्रह्मवीर्य्यात्मक-अग्रजन्मा-ब्रह्ममुखरूप-हैमवतीउमाशक्ति-समन्वित-हैमाण्डलक्षण-गायत्रीमात्रिकवेदाण्डरूप यशोऽण्ड का स्वरूप-दिग्दर्शन ११३

६–स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-मण्डलानुगता वेदसंस्थानत्रयी, एवं तीनों वेदात्मक कालों के अव्यक्तकाल-व्यक्ताव्यक्तकाल-व्यक्तकाल-रूपों का समन्वय ११४

७–अचिन्त्य अनुपाख्यकाल, चिन्त्याचिन्त्य अनिरुक्तकाल, चिन्त्य निरुक्तकाल, एवं 'तम आसीत्-तमसा गूल्हमग्रे' का तात्त्विक-समन्वय .... ,,

८–अनुपाख्यतमोरूप ऋजुकालात्मक महाकाल, अनिरुक्तमोरूप ऋतकालात्मक करालकाल, निरुक्त ज्योतिर्म्मय सर्वत्सरात्मक कुटिलकाल, एवं कुटिलकालात्मक व्यक्त-सौर-'कालाश्व' की 'रोहितकालता' का संस्मरण ११५

९–'श्वेतवराह' के द्वारा 'कालाश्व' की आपोमय-'हिरण्मयाण्डता' में परिणति, एवं-'ऋते भूमिरियं श्रिता' का समन्वय .... ,,

१०–अम्भ-:मरीचि:-श्रद्धा-मरः-लक्षण चतुर्विध अप्तत्त्व, तदनुगत चतुर्विध 'अण्डवृत्त', एवं तदतीत 'वृत्तौजा' स्वयम्भूः ११६

११–हिरण्यगर्भप्रजापति के 'अश्रु भाव' की 'अश्व' स्वरूप में परिणति .... ,,

१२–'कालो अश्वो वहति' मन्त्रभाग का समन्वय-संस्पर्श ११७

१३–अश्वस्वरूप-दिग्दर्शनपूर्वक 'कालाश्व' का संस्मरण .... ,,

१४–'कालाश्व' का स्वरूप-समन्वय ११८

१५–कालाश्व के-'सप्तरश्मि' विशेषण का संस्मरण, एवं कालानुबन्धी असंख्य सप्त-सप्तक ११८
१६–सप्तपुरुषपुरुषात्म-सप्तावयप्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं स्वयम्भू प्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय ११९
१७–परमेष्ठीप्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय .... "
१८–हिरण्मयगर्भ सौर प्रजापति की सप्तरश्मिता का समन्वय १२०
१९–सौरसम्वत्सरचक्रानुबन्धी मैत्र-वारुण-कपालों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... "
२०–मैत्रावरुणकपालानुगत ध्रुवप्रोतवृत्त, एवं खगोलीय-स्थिति का समन्वय १२१
२१–त्रिकेन्द्रात्मक सम्वत्सरवृत्त, एवं-**'एको अश्वो वहति सप्तनामा'** मन्त्र का .... संस्मरण .. .. "
२२–कुटिलकालात्मक सम्वत्सरप्रजापति के सप्त अहोरात्रात्मक **'अश्ववृत्त'**, एवं .... **'यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्'** मन्त्र का संस्मरण .... "
२३–'कालाश्व' रूप **'कालवृषभ'** महादेव, एवं-**'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य** .... **पादाः'** मन्त्र का संस्मरण.... ... . १२२
२४–कालवृषभमूर्त्ति महादेव के महिमावर्णनात्मक अथर्ववेद के सात मन्त्रों का ... अक्षरार्थ संस्मरण १२३
२५–'कालाश्व' के-**'सहस्राक्ष'** विशेषण का संस्मरण १२४
२६–सृष्टिविद्यात्मिका 'साहस्री', एवं साहस्री-सृष्टिविद्या के तीन विवर्त्त .... "
२७–**'तासां त्रिवृतां त्रिवृतां-एकैकां करवाणि'** का समन्वय .... "
२८–मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की शक्तित्रयी के तीन विवर्त्त .... "
२९–पञ्चपर्वात्मिका-त्रिसंस्थात्मिका सृष्टिविद्या का स्वरूप–दिग्दर्शन .... "
३०–रथचक्र के **'अक्ष'** की स्वरूप-परिभाषा १२५
३१–रथ का एक चक्र, और उसके 'अक्ष' की सहस्रता, तथा 'सहस्राक्ष' शब्दार्थ ... "
३२–**'अक्ष'**, और **'चक्षु'**, एवं चक्षुर्भावसंग्राहक 'सहस्राक्ष' शब्द .... "
३३–साहस्री–विद्यामूलक-'सहस्र' शब्द, एवं-**'सहस्रशीर्षः-सहस्राक्षः-सहस्रपात्'** .... मन्त्र का संस्मरण १२६
३४–अक्षदण्ड से समतुलित **'अक्ष'**, अन्तश्चक्षुः से समतुलित अक्ष, एवं सहस्राक्षमूर्त्ति ... हृदयावच्छिन्न-कालाश्वलक्षण-अक्षरप्रजापति १२७
३५–कालाश्व के **'अजर'** विशेषण का संस्मरण ... . "
३६–व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययब्रह्म के महिमाविवर्त्तरूप अव्यक्त, व्यक्त-नामक .... दो कालविवर्त्त .... "
३७–क्षरभूतनिबन्धना **'जरावस्था'** का तात्त्विक स्वरूप-परिचय १२८
३८–जायस्व–म्रियस्व–मूला जन्ममृत्युपरम्परा का सनातनचक्र ... ... "
३९–स्वस्वरूपेण अजर-अमर-मृत्युदेवता, एवं तदभिन्न कालाश्व १२९

४०–अक्षरप्रजापति की महिमामयी नित्या सनातना 'अजरा' क्षरसृष्टि, एवं-'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणः' मन्त्र का संस्मरण १२६
४१–प्रजापति के सापेक्ष अमृत-मृत्यु-भाव, एवं-'तस्मान्मृत्युर्न म्रियते' का तात्त्विक समन्वय १३०
४२-मृत्युपाशात्मक यमपाश का संस्मरण, एवं मृत्युदेवता की सर्वव्याप्ति का समन्वय १३१
४३–मृत्युबन्धन-विमोकोपाय, एवं कालनिबन्धना अजरता का समन्वय ... ,,
४४–सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूला 'अजरता' का समन्वय, धूमकेतु के द्वारा सूर्य्य का आविर्भाव, एवं 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' का स्वरूप-दिग्दर्शन १३२
४५–कालाश्व की अभिव्यक्तिरूप दिक्-देश-भाव .... ,,
४६–'अजर' शब्द का वाच्यार्थसमन्वय, एवं-'युवानं सन्तं पलितो जगार' का संस्मरण.... १३३
४७–कालाश्व के 'भूरिरेता' विशेषण का संस्मरण, एवं कालाग्नि की अन्नादता, तन्निबन्धन परिपाकधर्म्म, और तद्द्वारा विश्वस्वरूप-संरक्षण .... ,,
४८–कालाग्नि के स्वरूप-संरक्षक प्रभूत वीर्य्य का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन पारमेष्ठय भूरिधर्म्मा सोमात्मक रेत १३४
४९–'भूरिरेता' विशेषण का तात्त्विक समन्वय, एवं सप्तरश्मि-सहस्राक्ष-अजर-भूरिरेता कालाश्व का संस्मरण १३५
५०–विभिन्न महिमाओं से–'एकवृत' बने हुए कालाश्व के 'वशी' स्वरूप का अथर्वश्रुति के द्वारा संस्मरण १३६
५१–व्यक्तकालाश्वरूप 'रोहितकाल' के द्वारा रोदसी–ब्रह्माण्ड का सञ्चालन, एवं तन्मूलक अव्यक्तकाल का संस्मरण .... ,,
५२–कारणरूप अहोरात्रादि विवर्त्तों से कार्य्यरूप अहोरात्रादि का आविर्भाव, एवं काल से काल की प्रसूति का समन्वय १३८
५३–'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' इत्यादि उत्तर-मन्त्रभाग का संस्मरण, एवं 'कवि' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय १३९
५४–मन्त्रोपात्त 'विपश्चितः' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,
५५–'कवि' भावानुगता श्रद्धा, विपश्चिद्भावानुगत विश्वास, एवं श्रद्धा-विश्वास-शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय १४०
५६–श्रद्धाविश्वासात्मक-कवि-विपश्चिद्रूप पारमेष्ठय महानात्मा, तत्पुत्र कालाश्व, एवं-'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः' का तात्त्विक समन्वय १४१
५७–मध्यमधाममूर्त्ति कालाश्वप्रजापति की परम-अवम-धामता, ब्रह्माण्डबन्धनत्रयी का प्रवर्त्तकत्व, एवं तद्द्वारा सप्तचक्रात्मक भुवनों का स्थितिस्थापकत्व .... ,,
५८–कालाश्वप्रजापति विश्वकर्म्मा के त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महाविश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन.... .... १४२

५६–'काल' शब्द-निर्वचनपूर्वक काल के तात्विक-स्वरूप का समन्वय १४४
६०–'काल' शब्द के चिरन्तन इतिवृत्त पर एक दृष्टि १४५
६१–'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोस्येहाभवत् पुनः' का समन्वय.... .... "
६२–'महान्', और 'एकांश' रूप 'यत्किञ्चिद्' भाव का तात्त्विक समन्वय .... "
६३–अनन्तब्रह्म की एकांशता के माध्यम से अनन्तभावात्मिका पूर्णा अभिव्यक्ति, ... एवं तत्समन्वय १४६
६४–अनन्त अव्ययपुरुष के एकांश से आविर्भूत अनन्त अव्यक्ताक्षरकाल के एकांश-.... रूप रोहितकालात्मक व्यक्त--कालाश्व की अनन्तता का समन्वय.... .... "
६५–आवरणात्मक–'अञ्जन', तदनुबन्धी 'साञ्जनविवर्त्त', एवं दिग्देशकालातीत .... 'निरञ्जनपुरुष' का साञ्जनाधारत्त्व १४७
६६–सत्तासिद्ध अनन्तकाल के स्वरूपलक्षण का अभाव, अनन्तकाल की दुर्बोध्यता, ... व्यक्तकाल के द्वारा तदनुमान, एवं अनन्ताव्यक्तकाल के द्वारा कालातीत निरञ्ज-.... नपुरुष की अनन्तता का प्रतीकविधि से अनुमानमात्र .... "
६७–'अश्वत्थ' शब्द निर्वचन, एवं 'अमृत्-ब्रह्म-शुक्रम्' रूप षोडशीब्रह्म का .... संस्मरण १४८
६८–'अश्व' शब्दचिरन्तेनतिवृत्तनिबन्धन-'कालाश्व' से अनुमेय 'अश्वत्थब्रह्म' की .... 'कालाश्वत्थरूपता' का समन्वय .... "
६९–कालातीत अव्ययाश्वत्थ, एवं अनन्तकालात्मक अक्षरकालाश्व से अनुगृहीत .... व्यक्तकालाश्वमूर्ति रोहितकाल के कुछ एक एक अथर्ववेदीय संस्मरण १४९
७०–व्यक्त-रोहित-कालाश्व की अनन्तकालता का समन्वय, एवं 'पुरुष एवेदं सर्वं .... यद् भूयं-यच्च भाव्यम्' का संस्मरण १५०
७१–मन्त्रोपात्त-'वहति'-और 'आरोहन्ति' क्रियापदों का तात्त्विक समन्वय १५१
७२–व्यक्त-कालाश्व की 'अर्काश्वमेधता' का समन्वय १५२
७३–प्राणन-अपानन, एवं ओजः-बल-शब्दार्थ-समन्वय .... "
७४–अर्चंश्चरति, और अर्कविद्या १५३
७५–व्यक्तकालाश्वमूर्त्ति 'अर्कपुरुष', तत्प्रचण्ड परिभ्रमण, सौम्य आपः के द्वारा .... तच्छान्ति, एवं कालाश्व का 'कम्' भाव .... "
७६–सम्वत्सरमूला अग्निचयनविद्या से अनुप्राणित कालाश्वमूर्त्ति सौरब्रह्माण्ड, एवं- .... 'तद्यदपां शर आसीत्' मूला सृष्टिविद्या का संस्मरण १५४
७७–आचारनिष्ठा के द्वारा 'कालाश्व' की साम्वत्सरिक-त्रैलोक्य-में परिणति, एवं .... 'आरोहन्ति' मूलक आचारपक्ष का समन्वय १५५
७८–'उपादानकारणा' नुबन्धी कार्य्यकारण के विविध महिमाविवर्त्त, एवं ऊर्ण- .... नाभि-पृथिवी-मानवशरीर-भेद से त्रिविध उपादानभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन.... "

७९–कालाश्व से आविर्भूत कालिक-पदार्थों की कालाश्वरूपता का समन्वय, एवं १५६
काल से काल का वहन .... ,,
८०-कालाश्व से अभिव्यक्त कालात्मक भावों की दिग्देशकालरूपता का समन्वय ....
८१–'कं वहति ?' प्रश्न का मूलोच्छेद, एवं 'कालो अश्वो वहति' का रहस्य-पूर्ण १५७
समन्वय .... ,,
८२–कालापेक्षया गरिमा-महिमामय-गुरुतम भारात्मक तत्त्व का काल पर आरोहण ....
८३–'अश्वो मानवं वहति', एवं 'अश्वमारोहति मानवः' इन दोनों विभिन्न १५८
वाक्यों का तात्पर्य्यार्थसमन्वय ....
८४–अव्ययात्मा आरोहति कालं, मर्त्यपदार्थांश्च वहति कालः, वाक्यों का .... ,,
समन्वय .... ,,
८५–ईश्वरीय नित्य विश्वविवर्त्त के कवि, और विपश्चित् का स्वरूपदिग्दर्शन ....
८६–स्वतन्त्र पुरुषार्थ से वञ्चित प्राकृत-विश्व के जड़चेतन पदार्थ, एवं इनका कालाश्व १५९
के द्वारा वहन १६०
८७–स्वतन्त्रपुरुषार्थी मानव, एवं तद्द्वारा कालाश्व पर आरोहण .... ,,
८८–'कवयो विपश्चितः, तमारोहन्ति' का तात्त्विक-समन्वय १६१
८९–'कालो वहति', एवं 'तमारोहन्ति'-मूलक कतिपय लोकसूत्र १६२
९०–अथर्ववेदीय-'कालो अश्वो वहति' इत्यादि प्रथम–मन्त्रार्थ का उपराम

—इति प्रथममन्त्रार्थसङ्गतिः—

१

———

(२)-द्वितीय-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [द्वितीयमन्त्रार्थ]

९१–'सप्त चक्रान् वहति काल एषः' इत्यादि द्वितीय मन्त्र का अक्षरार्थ समन्वय १६३
९२–कालाश्व के द्वारा धृत सम्वत्सरमण्डलान्तर्वर्त्ती सात चक्रों का स्वरूप-परिचय .... ,,
९३–सम्वत्सरमूला सप्तावयवा अग्निचित से अनुप्राणित कालाश्व के सात चक्रों ....
का स्वरूप-समन्वय १६५
९४–'यः सप्त चक्रान् वहति काल एषः' का तात्त्विक-समन्वय .... ,,
९५–तेजोरसमूर्त्ति अग्नि, अर्णवसमुद्र, एवं अब्ग्निमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति .... ,,
९६–सप्तचितिक-सम्वत्सरमूर्त्ति-कालाश्व की त्रैलोक्यव्याप्ति १६६
९७–सप्तलोकभुवनात्मक-पारावतपृष्ठात्मक-विश्व में कालाश्व की व्याप्ति १६७
९८–'रिरिचान' सम्वत्सरप्रजापतिरूप कालाश्व के प्रवर्ग्यरूप ऋतभाग से रोदसी- ....
त्रैलोक्य की स्वरूप-निष्पत्ति .... ,,

९९–ऋताग्निसोममूलक ऋतुभाव, तद्रूप सम्वत्सर, एवं 'सम्वत्सर' की ऋत–सत्यता··· का समन्वय १६७
१००–सप्तर्षि-सप्तग्राम्यपशु-सप्तत्तु-सप्तशीर्षण्यप्राण-सप्तच्छन्द-सप्तमरुद्गणा-दिभिद-भिन्न सप्तकों का संस्मरण, एवं पशुभाग से सृष्टिस्वरूपव्यवस्था १६८
१०१–'पुरुषो वै यज्ञः' का समन्वय ... . ''
१०२–सम्वत्सररूप आधिदैविकयज्ञ, एवं पुरुषरूप आध्यात्मिकयज्ञ का अक्षरात्मक समतुलन १६९
१०३–अखण्ड-अव्ययपुरुष के द्वारा ब्रह्ममहिमा की सर्वव्याप्ति १७०
१०४–अखण्डपुरुष के आधार पर खण्ड-खण्डात्मक प्राकृत भावों का वितान, एवं कालपुरुष के द्वारा प्राकृत-खण्डों का नियन्त्रण १७१
१०५–कालानुबन्धी सापेक्ष पुरुष-प्रकृति-द्वन्द्व, अनन्ताव्यय के प्रति अनन्तकाल की प्रतीकता, एवं तत्समन्वय .... ''
१०६–अनन्तबोध में प्रतीकता का असामर्थ्य, एवं 'मानव' के द्वारा ही तदभिन्न अनन्तब्रह्म का समतुलन–समन्वय १७२
१०७–'पुरुषो वै सम्वत्सरः' श्रुतिमूलक 'पुरुषप्राधान्य' का समन्वय···· .... ''
१०८–सत्यसम्वत्सर-ऋतसम्वत्सर-रूपेण सम्वत्सरद्वयी का दिग्दर्शन, एवं प्रकृतिविशिष्ट पुरुष के साथ सम्वत्सरद्वयी का समतुलन १७३
१०९–ऋतसम्वत्सरात्मक कालाश्व की प्राकृतभावों के प्रति प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणता का समन्वय .... ''
११०-प्राकृत-महिमाविवर्त्त का श्रद्धापूर्वक सम्मान ·· १७४
१११–सम्वत्सर के दो अहोरात्रों के साथ मानव के दो प्राणों का समतुलन, एवं आश्चर्य्यमयी ऋषिदृष्टि के प्रति प्रणतभावेन नमो नमः .... ''
११२–क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-कालाश्वरूप-ऋतसम्वत्सरात्मक-भूतपति से अनुप्राणित अण्डकटाहों का स्वरूप-दिग्दर्शन १७५
११३-सौर-अर्द्धाण्डकटाह, चान्द्र अर्द्धाण्डकटाह, तदनुगत प्राकृतिक-आधिदैविक दाम्पत्य,···· एवं तत्प्रसूतिरूप अर्द्धवृगलात्मक मानव-मानवी-रूप-दाम्पत्य ·· ... ''
११४–मानव–मानवी के समसाम्मुख्य से विष्वद्वृत्तीय-पूर्णसम्वत्सरमण्डल का संग्रह, एवं सम्वत्सर के ४८ अंशों के साथ मानव-मानवी के ४८ पशुओं का समतुलन···· १७६
११५–अक्षरप्रधान सत्यसम्वत्सर, क्षरप्रधान ऋतसम्वत्सर, एवं सत्यगर्भित ऋतसम्वत्सर···· की कालाश्वता का समन्वय ... ... ''
११६–कालाश्व की यजुःप्राणात्मिका गति, एवं-'कालः स ईयते प्रथमो नु देवः' .... मन्त्रभाग का समन्वय १७७
–कालाश्व की सम्वत्सरता का समन्वय, एवं 'सम्वत्सर' शब्द–निर्वचन १७८

११८–सम्वत्सराधिपत्य के लिए देवासुरों की प्रतिद्वन्द्विता, एवं तत्र देवताओं का विजय, तथा असुरों का पराभव १७८
११९–सौर-पार्थिव-आकर्षणमूला गति की सर्वत्सरता का समन्वय, एवं तन्मूलक 'सर्वत्सर' रूप 'सम्वत्सर' १७९
१२०–द्वितीय–मन्त्रार्थोपराम १८०

इति–द्वितीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

२

—*—

(३)–तृतीय–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

१२१–'पूर्णः कुम्भोऽधि काले–आहितः' इत्यादि तृतीय मन्त्र का अक्षरार्थ १८०
१२२–महाविश्व में 'पूर्णकुम्भ' का अन्वेषण–प्रयास, एवं तदनुबन्धेनैव कूर्म्मप्राणी, एवं कूर्म्मप्रजापति का दृष्ट्यनुबन्धी संस्मरण १८१
१२३–अग्निचयनमूला कूर्म्मचिति, तत्प्रतीकमाध्यमेन कश्यपप्रजापति का संस्मरण, एवं प्राणात्मक कश्यप, तथा प्राणीरूप कूर्म्म के आकारों का समतुलन ... ,,
१२४–पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् के कूर्म्मावतार का समन्वय १८२
१२५–स्तौम्य-पार्थिव–उख्या–रूपा कूर्म्मत्रिलोकी, एवं तदाधारभूता रोदसीत्रिलोकी १८३
१२६–कूर्म्मरूप कश्यपप्रजापति से काश्यपी प्रजा की प्रसूति, एवं तदाधारभूत श्रौत-सन्दर्भ का समन्वय ... . ,,
१२७–खगोलीय–भूगोलीय स्वस्वस्तिक,-अधःस्वस्तिक भावों का समन्वय, तदनुबन्धी जन्मलग्न, एवं एक काल में सम्पूर्ण विश्व में एक ही प्राणी की उत्पत्ति का दिग्दर्शन १८४
१२८–'पूर्णकुम्भ' का तात्त्विक स्वरूप–परिचय १८५
१२९–अग्निचयनानुबन्धी 'उखासम्भरण' कर्म्म, तदनुगता उख्या त्रिलोकी, एवं तद्रूप आग्नेय साम्वत्सरिक–उख्य कुम्भ, ... १८६
१३०–आग्नेय पूर्णकुम्भ, सौम्य पूर्णकुम्भ, एवं दोनों कुम्भों की क्रमशः आङ्गिरस–भार्गव–रसों से परिपूर्णता १८७
१३१–सौम्य मधुकलश की वारुणकुम्भता का समन्वय.... ... . ,,
१३२–उभय कुम्भों का भारतीय सांस्कृतिक–प्रजा के सांस्कृतिक आचारों में प्रतीकविधि से संग्रह.... .... १८८
१३३–अग्निरसप्रधान, उख्यकुम्भरूप कूर्म्मप्रजापति के प्राणीभेद से असंख्य–अनन्त–विवर्त्त, एवं–'तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः' मन्त्र भाग का तात्त्विक–समन्वय... १८९

१३४–मध्यरेखात्मिका उर्वशी से अनुप्राणित मैत्रावरुणग्रह, तद्द्वेतः प्रतिष्ठारूप 'द्रोण-कलश', एवं ऋग्वेदीय मैत्रावरुणाख्यान पर एक दृष्टि १८६
१३५–ऋग्वेदोपवर्णित पूर्णकुम्भात्मक मङ्गलकलशों का मान्त्रिक संस्मरण ... १६१
१३६–'पूर्णः कुम्भः काले–अधि आहितः' का तात्विक समन्वय .... ,,
१३७–अव्यक्त सत्य कालरूप उत्पीड़क वृषापुरुष से उत्पीड़ित–व्यक्त–ऋतकालरूपा योषा स्त्री, एवं–'कालं कालेन पीड़यन्' इत्यादि मनुवचन का समन्वय ... १६२
१३८–प्रत्यक्–पराक्–शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय, कालपुरुष की विश्वसापेक्षा 'प्रत्यक्' रूपता का निदर्शन, एवं–'स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यक्' मन्त्र-भाग की सङ्गति १६३
१३९–'कालं तमाहुः परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्रभाग का समन्वय, एवं प्रक्रान्त तृतीय मन्त्रार्थ का उपराम ... ... ,,

इति–तृतीयमन्त्रार्थसङ्गतिः

३

---

(४)–चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (चतुर्थमन्त्रार्थ)

१४०–'स एव सं भुवनान्याभरत्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय १६४
१४१–मन्त्रोपात्त प्रत्यक्–आभरत्–पर्य्येत्–शब्दों के द्वारा दिक्–देश–प्रदेश–भावों का संग्रह .... ,,
१४२ दिक्–देश–प्रदेश–लक्षण मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल–भावों की छन्दो–रस–वितान-वेदता, एवं काल की सर्वव्याप्ति .. .. ,,
१४३–काल के 'प्रत्यक्' रूप से ही मूर्त्तिरूप–'आभरत्' लक्षण–'पदम्' भाव का आविर्भाव, एवं दिक्–देश–प्रदेश–भावों का समन्वय १६५
१४४–'भुवनान्याभरत्', एवं 'भुवनानि पर्य्येत्' का तात्विक समन्वय ... ,,
१४५–ऋतसम्वत्सरमूर्त्ति व्यक्तकालप्रजापति से आविर्भूत दिक्–देश–प्रदेश–भाव, एवं तदनुबन्धी पितापुत्रीय–सम्बन्ध का स्वरूप–दिग्दर्शन १६६
१४६–चतुर्थ मन्त्रार्थ–समन्वयोपराम ... . ,,

इति–च

४

---

(५)–पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (पञ्चममन्त्रार्थ) १९७

१४७–'कालोऽमूं दिवमजनयत्' इत्यादि पञ्चम मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वय ...

१४८–प्राणलक्षण अधिदैवतसर्ग, प्राणीलक्षण अध्यात्मसर्ग, भूतलक्षण अधिभूतसर्ग .... ,,

नामकी प्राजापत्या सर्गत्रयी का स्वरूप--दिग्दर्शन १९८

१४९–पञ्चम मन्त्रार्थसमन्वयोपराम ...

इति–पञ्चममन्त्रार्थसङ्गतिः

५

—*—

(६)–षष्ठमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (षष्ठमन्त्रार्थ) १९९

१५०–'कालो भूतिमसृजत' इत्यादि षष्ठ मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वय ...

१५१–प्राणमहिमात्मक ऐश्वर्य्य, तदनुबन्धी 'श्री' भाव, तदभिन्न अक्षरभाव, एवं .... ,,

भूतानुगत--क्षररूप लक्ष्मीभाव, तथा कालप्रजापति के अमृत--मृत्यु--विवर्त्त ....

१५२–शरीरसंस्थानुगत चित्य--चितेनिधेय भाव, एवं सप्तपुरुष–पुरुषात्मक प्रजापति के ... ... ,,

श्रीरूप 'भूति' भाव का ऊर्ध्व वितान

१५३–अमृत--मृत्यु--भावों का अन्तरान्तरीभाव, एवं पशुमस्तक की 'श्री' लक्षणा 'भूति' २००

का समन्वय ....

१५४–प्राणोपासक भारतवर्ष की सांस्कृतिक--लिपि के आरम्भ के 'श्री' रूप भूतिभाव, ... ,,

एवं वर्त्तमान स्वतन्त्र भारत में तदुपेक्षा २०१

१५५–श्रीलक्षणा भूति का स्वरूप--परिचायक श्रौत सन्दर्भ ....

१५६–महासुपर्णरूप सम्वत्सर का स्वरूप--दिग्दशन, एवं साम्वत्सरिक कालपुरुषानुगत ... ... ,,

श्रीरूप भूतिभाव ....

१५७–श्रीरूपा विभूति, तद्रूप महिमामण्डल, तदात्मक 'सामवेद', एव अमृत–मर्त्या- २०२

चितियों का समन्वय ....

१५८–'दैवतानि च, भूतानि च' मूलक प्राजापत्य विवर्त्त, एवं भूतविस्तारात्मिका काला- .... ,,

नुगता ऐश्वर्य्यलक्षणा 'भूति' का समन्वय ....

१५९–श्रीसमन्विता लक्ष्मी की विभूतिपरायणता, एवं 'भूतिश्री' से वञ्चिता जड़भावापन्ना २०३

लक्ष्मी का काल के द्वारा निगरण ....

१६०–सम्वत्सरात्मक कालपुरुष के द्वारा ही भूतपदार्थों में मण्डलरूपा 'भूति' का .... ,,

वितान, एवं 'सम्भूतिं च विनाशञ्च' का समन्वय ....

१६१–प्राणमण्डलात्मिका कालमयी 'भूति' की साक्षात्कारानुगता दुर्बोध्यता, एवं तद- २०४

पेक्षया स्थूल उदाहरणों का अनुगमन

१६२–भूतपिण्ड--सूर्य्यपिण्ड,--एवं चक्षुरिन्द्रिय--रूपा उदाहरणत्रयी २०४
१६३–काल, और भूति का जन्य-जनक--भाव सम्बन्ध, निरुपाधिका भूति, और सोपा- ....
धिका भूति, एवं भूतात्मिका भूति का तात्त्विक समन्वय २०५
१६४–'काले तपति सूर्य्यः' मन्त्रभागानुगता सूर्य्यपिण्डानुगता भूति का समन्वय .... ,,
१६५–अहरागम, रात्र्यागम--निबन्धन सौर--पारमेष्ठ्य–भाव, एवं आधिभौतिक विव- ....
र्त्तानुगतानुगता भूति का उदारण २०६
१६६–चतुर्विंशति--होरात्मक अहोरात्रकाल के अनुपात से भौतिकी भूति के प्रत्यक्ष-- ....
अप्रत्यक्ष--तारतम्य का समन्बय .... ,,
१६७–'तपति' रूपा 'आलोकभूति', एवं 'काले तपति' का समन्वय.... .... २०७
१६८–'काले ह विश्वा भूतानि' मूला भूतात्मिका भूति ... . ,,
१६ –अध्यात्ममूला भूति के उदाहरण का समन्वय .... ,,
१७०–चक्षुःप्राणात्मिका 'श्री' का स्वरूप-समन्वय, एवं विभूतिमय चक्षुर्म्मंडल के
त्रिवृत्स्वरूप का दिग्दर्शन २०८
१७१–चक्षुरनुगत अश्विनी-प्राण, एवं-'चक्षुर्विपश्यति' का समन्वय ... . ,,
१७२–षष्ठ–मन्त्रार्थ–समन्वयोपराम .... ,,

इति-षष्ठ-मन्त्रार्थसङ्गतिः

६

—*—

(७)–सप्तम–मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (सप्तममन्त्रार्थ)

१७३–'काले मनः, काले प्राणः' इत्यादि सप्तम-मन्त्र का अक्षरार्थ–समन्वय, एवं अर्द्ध-
चेतन, चेतन-लक्षण द्विविध प्राणियों का स्वरूप-परिचय २१०
१७४–ससंज्ञ-प्राकृत-जीवों का स्वरूप-परिचय, एवं अध्यात्मजगत् का स्वरूप-समन्वय .... ,,
१७५–ईश्वर-जीव-जगत्-शब्दों का पारिभाषिक समन्वय, एवं 'परावर' अक्षर का
महिमाविवर्त्त २११
१७६–मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा, एवं उस की ज्ञान-क्रिया–अर्थ-शक्तियाँ २१२
१७७–'प्राणीजगत्' का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी वैश्वानर-तैजस प्राज्ञ-भावों का स्व-
रूप-दिग्दर्शन .... ,,
१७८–ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी महासुपर्ण, एवं जीवभावानुबन्धी देवसत्यात्मक भोक्ता
सुपर्ण, तथा दोनों का सख्यभाव २१३
१७९–साक्षी महासुपर्ण के, एवं भोक्ता अवर सुपर्ण के सायुज्यभाव का समन्वय ... २१४
१८०–साक्षी महासुपर्ण के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,

१८१–भोक्ता सुपर्ण के **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ**-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं **नर-नारा-** २१४
यण-का संस्मरण

१८२–**'काले नाम समाहितम्'** के 'समाहितम्' पद का पारिभाषिक दृष्टिकोण २१५

१८३–मनः-प्राण-भावों की अक्षररूपता, वागभाव की क्षररूपता, एवं वागनुबन्धी नाम- २१६
विवर्त्तात्मक भौतिक जगत् ,,

१८४–**'काले मनः, काले प्राणः'** मन्त्रभाग का रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक समन्वय २१७

१८५–**'मध्यत ऐन्ध'** रूप इन्द्रतत्त्व, एवं मानव के लिए हिततम इन्द्रदेवता .... ,,

१८६–**'उपाहितम्'**, और **'समाहितम्'** का समन्वय ....

१८७–**मनःप्राणवाङ्मय** कालप्रजापति, और उस के महिमामय **रूप-कर्म्म-नाम-** २१८
विवर्त्त ,,

१८८–अमृतप्रजापति की मर्त्या सृष्टि, एवं उस का वाक्प्रधानत्त्व .... ,,

१८९–अमृतभावों के द्वारा मर्त्यभावों का संग्रह ....

१९०–**'काले वाक् समाहिता'** का प्रतिनिधि-**'काले नाम समाहितम्'** वाक्य, एवं तत्- २१९
समन्वय .... ,,

१९१–कालपुरुष के **अतीत-आगत-अनागत**-नामक तीन महिमा–भावों का संस्मरण ....

१९२–अतीत-अनागत-रूप भूत-भविष्यत्काल–विवर्त्तों की दिग्देशनिरपेक्षता, एवं आगत- .... ,,
कालरूप वर्त्तमानकालविवर्त्त की दिग्देश-सापेक्षता

१९३–काल का अधिष्ठानत्त्व-निमित्तत्त्व-आरम्भणत्त्व, एवं तीनों के समन्वय से कालिक २२०
'विश्वकार्य्य' की स्वरूपस्थिति ,,

१९४–घटनिर्म्माता कुम्भकार की घटनिर्म्माणप्रक्रिया, एवं तत्र कारणत्रयी का समन्वय ...

१९५–कालपुरुष के द्वारा कारणत्रयी से विनिर्मित पूर्णकुम्भात्मक घट २२१

१९६–कालात्मिका प्रकृति के **विभूति-योग-बन्ध**-नामक तीन सम्बन्ध, एवं तन्माध्यम से .... ,,
कारणत्रयी का का समन्वय ....

१९७–**काल**, और **मृत्यु**, शब्दों की अभिन्नार्थता का समन्वय २२२

१९८–रसानुबन्धी–अभिन्नता-एकता-समता-साम्य-अपरिवर्त्तन-अमृत-आदि भावों का, एवं
बलानुबन्धी–भिन्नता-अनेकता-विषमता-वैषम्य-अशान्ति-परिवर्त्तन-मृत्यु-आदि भावों .... ,,
का समन्वय, तथा **'समदर्शनानुगता विषमवर्त्तनता'** ....

१९९–अमृतानुगता **विभूतिप्रकृति**, अमृत-मृत्यु-निबन्धना **योगप्रकृति**, मृत्युनिबन्धना– २२३
बन्ध-प्रकृति, एवं प्रकृति का त्रिगुणात्मक विस्तार

२००–अक्षरानुगत विभूतिभाव, आत्मक्षरानुगत योगभाव, एवं विकारक्षरानुगत बन्धभाव .... ,,
का समन्वय

२०१–प्रकृतित्रयीरूपा **कालत्रयी**, एवं तदनुबन्धिनी कारणत्रयी का समन्वय .... ,,

२०२–**'काले-कालेन-कालः-कालरूपे परिणतो भवति'** का तात्त्विक समन्वय ... २२४

२०३–कालानुबन्धी -भूत-भवत्-भविष्यत्-भावों का अन्वेषण २२४
२०४–कालाक्षर से 'ब्रह्म' का आविर्भाव २२५
२०५–अव्यक्त अमूर्त्तकाल का स्वरूप-दिगदर्शन .... ,,
२०६–कालपुरुष की दुर्बोध्यता, एवं-'**मनसा पृच्छतेदु**' का समन्वय .... ,,
२०७–सत्य-ऋत–कालात्मक दोनों व्यक्तकालों की महदक्षरकालात्मक अव्यक्तकाल से अभिन्नता का समन्वय २२६
२०८–'**भूतं-भविष्यत्-प्रस्तौमि**' मूलक महदक्षर का महिमा–विवर्त्त २२७
२०९–पारमेष्ठ्यमण्डलानुगत भूत-भविष्यत्काल की स्वरूप-परिभाषा .... ,,
२१०–अहोरात्रनिबन्धना कालत्रयी, एवं तत्समर्थक श्रौत-सन्दर्भ २२८
२११–आगतकाल से प्रजा की समृद्धि .... ,,
२१२–कालानुगता समृद्धि का स्वरूप-समन्वय, एवं सप्तम मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम ... २२९

इति-सप्तम-मन्त्रार्थसङ्गतिः

७

—*—

(८)–अष्टम-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (अष्टममन्त्रार्थ)

२१३–अष्टम-नवम-दशम-मन्त्रो के अक्षरार्थों का संस्मरण, एवं तदाधारेण अष्टम-मन्त्रार्थोपक्रम २३०
२१४–वेदार्थानुबन्धिनी परिभाषाओं की कालव्यवच्छेदानुगता दुरधिगम्यता ... ,,
२१५–मतवादाभिनिविष्टा वेदव्याख्याओं से वेदार्थ के मौलिक स्वरूप की अन्तर्मुखता २३१
२१६–मतवादनिरपेक्षा-आस्था-श्रद्धात्मिका ऋजुता, एवं वेदार्थानुग्रह की मङ्गलकामना .... ,,
२१७–पारिभाषिक **अनुगम-निगम**-भावों का शब्दार्थ–समन्वय, एवं अष्टम मन्त्र का '**अनुगममन्त्रत्त्व**' २३२
२१८–प्रजापति के पिता '**काल**' का संस्मरण, एवं मन्त्रार्थजिज्ञासा .... ,,
२१९–ज्ञान-विज्ञान-समन्वयमूर्त्ति प्रजापति, एवं ज्ञान-विज्ञान-शब्दपरिभाषा .. २३३
२२०–वेदितव्या विद्याद्वयी, एवं उस के **पराविद्या**, **अपराविद्या**-नामक दो विवर्त्त ... ,,
२२१–ज्ञानानुगता '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' श्रुति का, एवं विज्ञानानुगता '**ब्रह्मै वेदं सर्वम्**' श्रुति का तात्त्विक समन्वय, तथा '**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्**' का संस्मरण .... ,,
२२२–प्रजापतिमूलक ज्ञान-विज्ञान-भावों का समन्वय २३४
२२३–ज्ञानप्रधान प्रजापति का **आत्मत्त्व**, विज्ञानप्रधान प्रजापति का **विश्वत्त्व**, एवं दोनों विवर्त्तों से अनुप्राणित 'आत्मन्वी-प्रजापति' .... ,,
२२४–त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति का संस्मरण .... ,,

२२५–अनन्त परात्मब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश से अभिव्यक्त **कालपुरुष**, एवं 'पिता २३५
सन्नभवत् पुत्र एषाम्' का अक्षरार्थ-समन्वय ....

२२६–ब्रह्म की एकांशता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं मायामय **मायी काल-यज्ञात्मक** .... ,,
प्रजापति .... ,,

२२७–महतोमहीयान्, एवं अणोरणीयान् मायावृत्त की अभिन्नता २३६

२२८–मायारूपा प्रकृति, एवं मायी महेश्वर ....

२२९–मायावृत्तानुगत जाया-धारा-आपः-अम्भम्-आदि विभिन्न बलकोशों का संस्मरण, एवं .... ,,
षोडशकलबलानुगता षोडशीमाया, तथा तदभिन्न षोडशी पुरुष .... ,,

२३०–षोडशीप्रजापति की तीन ज्योतियों का दिग्दर्शन

२३१–त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का सर्वाधारत्त्व, एवं विराट् प्रजापति, तथा अधिपुरुष २३७
का स्वरूप-समन्वय .... ,,

२३२–**स्वज्योति-परज्योति-रूपज्योति**-र्भाव, एवं ज्योतिषां ज्योतिः ....

२३३–त्रिज्योतिर्म्मय षोडशीप्रजापति के **तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म**-नामक तीन महिमा विवर्त्त, एवं ,,
'काले तपः-काले ज्येष्ठं-काले ब्रह्म-समाहितम्' मन्त्रभाग का अक्षरार्थसमन्वय ....

२३४–अव्ययमनोऽनुबन्धी **'तपः'**, अक्षरप्राणानुबन्धी **'ज्येष्ठम्'**, एवं क्षरवागनुबन्धी **'ब्रह्म'** २३९
का तात्त्विक-समन्वय .... ,,

२३५–**तप–ज्येष्ठ–ब्रह्म**-शब्दों के पारिभाषिक-अर्थों का समन्वय

२३६–समष्ट्यात्मक प्रजापति के त्रिवृद्भावमूलक व्यष्टिरूप, एवं तदनुबन्धी **'तपोज्येष्ठब्रह्म'** २४०
भावों का संस्मरण २४१

२३७–त्रिवृन्मनोरूप अव्ययब्रह्म से अनुप्राणिता **'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी'** का समन्वय ... ,,

२३८–विभिन्नदृष्ट्या अव्ययब्रह्मानुगता **'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी'** का समन्वय २४२

२३९–त्रिवृत्प्राणरूप अक्षरब्रह्म से अनुप्राणिता **'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी'** का समन्वय २४३

२४०–त्रिवृत्-वाग्रूप क्षरब्रह्म से अनुप्राणिता 'तपोज्येष्ठब्रह्मत्रयी' का संस्मरण

२४१–तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावानुबन्धी दशविध विलक्षण महिमाभाव, एवं तदभिन्न कालपुरुष २४५
की विलक्षणता .... ,,

२४२–परमात्मनामभ्रान्तिमूलक शब्दसाम्य से पारिभाषिक-वेदार्थ की अन्तर्म्मुखता,

२४३–गुणभूतात्मक प्राकृतिक तत्त्वों के व्यवच्छेदाधार पर ही पारिभाषिक अर्थों का समन्वय, ... ,,
एवं तदाधरेणैव-'काले तपः' इत्यादि मन्त्रार्थ-स्वरूप-दिग्दर्शन ....

२४४–सापेक्ष प्रजापति की सापेक्षता के पूरक विश्वभुवन, एवं **'य आविवेश भुवनानि** २४८
विश्वा' का संस्मरण ... ,,

२४५–विश्वभुवनानुगता **तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी** की दिग्दर्शन-जिज्ञासा

२४६–षोडशी-आत्मन्वी-प्रजापति के विश्वभुवनों की पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यबल्शात्मकता ... . ,,
का दिग्दर्शन

२४७–पञ्चपर्वा प्रकृति के पञ्चविध विश्वपुरों का स्वरूप-निदर्शन, एवं कालात्मक कारणब्रह्म का संस्मरण २४६
२४८–पञ्चपर्वात्मक-सप्तभुवनात्मक विश्व, एवं तन्निबन्धना तपो-ज्येष्ठ–ब्रह्म-.त्रयी का समन्वय २५०
२४९–भूः-भुवः-स्वः-लक्षणा महाव्याहृतियों से अनुप्राणिता तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–त्रयी का समन्वय .... ,,
२५०–परम-मध्यम-अवधाम-रूप त्रिधामों से अनुप्राणिता तपो–ज्येष्ठ–ब्रह्म–त्रयी का समन्वय २५१
२५१–प्राणमय स्वयम्भू ब्रह्म का तपोभाव, एवं तप से सुब्रह्मरूप अथर्व–परमेष्ठी का प्रादुर्भाव २५३
२५२–ब्रह्म के तप से आविर्भूत सुब्रह्माथर्व की ज्येष्ठरूपता २५४
२५३–अथर्वब्रह्म की 'ज्येष्ठ' उपाधि का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय .... ,,
२५४–ज्येष्ठ अथर्वा की महत्ता, श्रेष्ठता का समन्वय २५५
२५५–'पिता सन्नभवत् पुत्र एषाम्' का समन्वय .... ,,
२५६–स्वायम्भुव तप से आविर्भूत अथर्वज्येष्ठ के द्वारा तद्गर्भ में भृग्वङ्गिरोमय हिरण्मयाण्डवृत्त का आविर्भाव .... ,,
२५७–सरस्वान् समुद्र में हिरण्मयाण्ड का पर्य्यप्लवन, एवं हिरण्मयाण्ड-गर्भ में 'प्रथमज-ब्रह्म' नामक व्यक्त 'ब्रह्म' तत्त्व का आविर्भाव २५६
२५८–विराट्प्रजापतिरूप सौरब्रह्म का व्यक्तजगदाधारत्व .... ,,
२५९–अमृतत्रयी-लक्षणा तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी .... ,,
२६०–प्रतिमाप्रजापतिचतुष्टयी का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं पारमेष्ठ्य प्राजापत्य-सर्ग का समन्वय २५७
२६१–दर्शपूर्णमासानुगत स्वायम्भुव 'कामप्र' यज्ञ, तन्मूलक 'सर्वहुत' यज्ञ,एवं स्वयम्भू-ब्रह्म की तपश्चर्य्या २५८
२६२–तपोभाव से अनन्तभाव की अनुपलब्धि, एवं आनन्त्य की प्राप्ति के लिए स्वयम्भू का स्वसृष्टि में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रवेश .... ,,
२६३–सृष्ट में प्रविष्ट हुए बिना स्रष्टा की अपूर्णता, रिक्तता, एवं 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' का आचारात्मक समन्वय .... ,,
२६४–सृष्टि से तटस्थ प्रजापति की शून्यता, एवं प्रजापति का उद्बोधन २५९
२६५–त्याग-तपस्या-बलिदान-भावों का आचारात्मक दृष्टिकोण .... ,,
२६६–मर्त्या विश्वत्रयी, एवं तदनुप्राणिता 'तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी' का स्वरूप-समन्वय, तथा अष्टम–मन्त्रार्थ का संस्मरण २६०
२६७–तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-समन्वित-महामायी षोडशी प्रजापति, एवं उसके काल-यज्ञ-रूप दो महिमाविवर्त्त २६२

२६८–'यज्ञेन-यज्ञमयजन्त-देवाः' मूलक काल से काल की उत्पत्ति का समन्वय २६२
२६९–काल से 'यज्ञ' का उत्पीड़न, एवं काल में प्रतिष्ठित तपः-ज्येष्ठ-ब्रह्म-भावों का स्वरूप-समन्वय २६३
२७०–मायात्मक 'वृत्तभाव' का स्वरूप-परिचय, तदनुबन्धी विविध 'बलभाव', तद्भिन्न लेखात्मक 'पुरभाव', एवं वृत्तों से आवृत 'विश्ववृत्त' का समन्वय ... ''
२७१–महामायानुगता योगमाया, तदनुबन्धी 'मोह', एवं मोहाविष्ट 'महेश्वरात्मा' ... २६४
२७२–महाकालात्मक महामायावृत्त, कालात्मक योगमायावृत्त, एवं तदनुगत कालिक–विश्व ... ... ''
२७३–समष्ट्यात्मक कालिक विश्व के पञ्चधा विभक्त व्यष्टिभाव २६५
२७४–ब्रह्ममाया–विष्णुमाया–शिवमाया–त्रयी का तात्त्विक स्वरूप–परिचय .... ''
२७५–मायात्रयी से अनुप्राणित पञ्चपर्वा विश्व के मनोता-विवर्त्त, एवं–'यानि पञ्चधा-त्रीणि त्रीणि' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति का तात्त्विक–समन्वय २६६
२७६–अष्टममन्त्रानुगत तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप विभिन्न विवर्त्तों का संस्मरण २६८
२७७–पञ्चविध 'उपेश्वरकाल', तदनुगता तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्मत्रयी, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मिका जिज्ञासा .... ''
२७८–अहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष-भेदभिन्न 'समय' नामक आचारात्मक काल की उपयोगिता के माध्यम से तत्त्वात्मक तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप काल के सम्बन्ध में उपयोगितावादी मानव के ऊहापोह .... ''
२७९–तत्त्वकालात्मिका स्वस्थता, एवं आचारकालात्मिकता प्रकृतिस्थता के माध्यम से ऊहापोहों की काल्पनिकता का निराकरण-प्रयास २६६
२८०–आचारशून्या दार्शनिकता से मानव का अभिभव, एवं तन्निरोधार्थ तपो-ज्येष्ठ-ब्रह्म-त्रयी-रूप तत्त्वात्मक-काल के आचारपक्ष का समन्वयोपक्रम.... .... ''
२८१–समदर्शनमूलक ऐकात्म्यवादसिद्धान्त, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-इन पाँच आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय २७०
२८२–'त्रिः सत्या वै देवाः' मूलक आत्मसत्य-ब्रह्मसत्य-देवसत्य, तदनुबन्धी पुरुषसत्य-प्रकृतिसत्य-विकृतिसत्य, एवं-'सत्यस्य सत्यम्' रूप तुरीय ब्रह्म २७१
२८३–देवसत्यात्मक 'ईश्वर' विवर्त्त का कालिक–कर्त्तव्यनिष्ठाधारत्व .... ''
२८४–परात्परादि-उपेश्वरान्त प्रजापति–विवर्त्त, एवं ईश्वर–विवर्त्त के सम्बन्ध में जिज्ञासा २७२
२८५–पञ्चपर्वात्मक कालमहिमामण्डल में हीं ईश्वरविवर्त्त के स्वरूपान्वेषण का प्रयास, ... एवं तत्सफलता से ही मानवस्वरूप की सम्भूति .... ''
२८६–'राई के ओट पहाड़' लोकसूक्ति का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तन्माध्यम से ईश्वरस्वरूप-साक्षात्कार-साफल्य २७३

२८७–सम्वत्सरकालात्मक **'समय'**, एवं तदनुबन्धी ईश्वर–स्वरूप का दिग्दर्शन २७४
२८८–ईश्वर के मूलभाव के सम्बन्ध में एक धृष्टतापूर्ण प्रश्न, एवं द्रोणकलशानुगत .... उख्यकलश का माङ्गलिक संस्मरण .... ,,
२८९–पुण्डीरविद्यानुगता रोदसीत्रिलोकी, तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तदनुगत द्यावापृथिव्य-.... दाम्पत्यभाव, एवं 'ईश्वर' के मातृपितृयुग्म का माङ्गलिक संस्मरण २७५
२९०–सत्तासिद्ध सम्वत्सरकाल से भातिसिद्ध वर्षात्मक **'समय'** का आविर्भाव, एवं .... सम्वत्सरकालात्मक 'ईश्वर' का स्वरूप-समन्वय.... .... २७६
२९१–मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, एवं 'पितुर्म्माता गरीयसी' मूला मातृशरणागति के .... द्वारा तत्पुत्र ईश्वर के स्वरूप-समन्वय में साफल्य .... ,,
२९२–उपेश्वरान्तिम पर्वस्थानीय **भूपिण्ड**, एवं तदाधारेण वितायमाना 'अप्रथयत्' .... रूपा **'पृथिवी'** का स्वरूप-दिग्दर्शन २७७
२९३–ज्योतिर्म्मयी देवमाता अदितिपृथिवी, तमोमयी दैत्यमाता दितिपृथिवी, एवं .... तद्वृषादेवता कश्यपप्रजापति .... ,,
२९४–भूपिण्ड के **अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि,** रूप दो विवर्त्त, एवं तदनुगत **भूपिण्ड,** .... तथा **भूमण्डल** २७८
२९५–ईश्वर की जन्मभूमि अदितिरूपा स्तौम्यत्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्त पार्थिव .... आग्नेय--प्राण .... ,,
२९६–त्रिवृत् (९)--पञ्चदश (१५)--एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्न पार्थिव तीन .... स्तौम्य--लोक, तत्र प्रतिष्ठित अग्नि--वायु--आदित्य--प्राण, एवं तीनों प्राणदेवताओं.... का तानूनप्त्र २७९
२९७–प्राणदेवत्रयी के तानूनप्त्र से ज्ञान--क्रिया--अर्थ--शक्तिप्रधान **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-** .... **विराट्**-भावों का आविर्भाव, तीनों की त्र्यात्मकता, एवं अदितिमाता--अदिति- .... पिता से कृतरूप 'ईश्वरपुत्र' का स्वरूप--समन्वय .... ,,
२९८–गायत्र वसुदेवता, त्रैष्टुभ रुद्रदेवता, जागत आदित्यदेवता, एवं अदिति के गर्भ में .... सम्भूत देवदेवताओं का स्वरूप--समन्वय २८०
२९९–विराट्--हिरण्यगर्भ--सर्वज्ञ--मूर्त्ति ईश्वर का स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,
३००–पिप्पल--स्वादभोक्ता जीव, भोक्ता जीव का साक्षी ईश्वर, दोनों की सुपर्णता, ... एवं दोनों का समानवृक्षानुगतित्व २८२
३०१–**'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्'** लक्षण 'अश्वत्थवृक्ष' का दिग्दर्शन, एवं .... अश्वत्थवृक्ष की सहस्र शाखाएँ .... ,,
३०२--लोकमैत्री की नितान्त भावुकता, एवं मानवीय जीव के वास्तविक मित्र की नैष्ठिकी.... मैत्री का स्वरूप--दिग्दर्शन .... ,,
३०३–सहस्रशीर्ष:--सहस्राक्ष:--सहस्रपात्--लक्षण महान् ईश्वरमित्र के सहस्रात्मक .... महिमाभाव का यशोवर्णन २८३

३०४--साक्षी ईश्वर से अभिन्न वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञमूर्त्ति मानव, मानव की आचार-निष्ठा, एवं तदाधारभूत ईश्वरीय साम्वत्सरिक--कालपुरुष २८४
३०५--मानवीया आचारनिष्ठा के सर्वाधारभूत सम्वत्सरकालमूर्त्ति ईश्वरप्रजापति का माङ्गलिक स्वरूप--समन्वय, तदनुबन्धिनी तपो--ज्येष्ठ--ब्रह्मत्रयी--का संस्मरण, एवं अष्टम--मन्त्रार्थ--समन्वयोपराम २८५

इति--अष्टममन्त्रार्थसङ्गतिः

८

---*---

(९)--नवम-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (नवममन्त्रार्थ)

३०६--'तेनेषितं तेन जातम्' इत्यादि नवम-मन्त्राक्षरार्थ--समन्वय, एवं ब्रह्म के ब्रह्मौदन--प्रवर्ग्य--भावों का संस्मरण २८७
३०७--प्रजापति से उत्पन्न प्रजा के जन्म--स्थिति--भङ्ग--भावों का धारावाहिक क्रम, एवं--'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का समन्वय २८८
३०८--अनाद्यनन्त--महामहिमामय--प्रजापति के आनन्त्य से अभिभूता मानवप्रज्ञा के सहज आर्ष उद्‌गार, एवं--'न विजानामि यदि वेदमस्मि' इत्यादि मन्त्रों का संस्मरण २८९
३०९--सम्वत्सरप्रजापति से समन्विता सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, तन्मूलक असमाधेय प्रश्न, एवं मानवप्रज्ञा की कुण्ठितता .... ,,
३१०--प्रजापति के आनन्त्य की दुरधिगम्यता का स्पष्टीकरण, संसृष्टिरूपा सृष्टि, तदाधारभूता क्रिया, तन्मूलक सृष्टिकर्म्म, एवं--'क्रियाकर्म्म' का समन्वय २९०
३११--कामना--कृति--कर्म्म--भावों का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं तन्मूलक 'कृतम्' भाव का समन्वय .... ,,
... २९१
३१२--मनः--प्राण--वाङ्मय इच्छा तपः--श्रम--भावों का समन्वय ... ...
३१३--परात्परानुगता असीमा अनन्तता का समन्वय, एवं आनन्त्य-समन्वय की अविज्ञेयता, तथा--'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्' इत्यादि का संस्मरण .... ,,
३१४--अप्राप्त की प्राप्ति से अनुप्राणित कामभाव, एवं अनन्त ब्रह्म की अकामता, तथा तन्मूला निष्क्रियता का समन्वय २९२
३१५--'तेनेषितं--तेन जातं--तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' इत्यादि मन्त्रभागार्थ--समन्वय-प्रयास .... ,,
३१६--अनन्त--अचिन्त्य--ब्रह्म की अन्तता का समन्वय ... २९३
३१७--'न त्वहं तेषु, ते मयि' का समन्वय, एवं ब्रह्म की अनन्तता .... ,,
३१८--परमाकाशात्मक स्वयम्भू ब्रह्म के द्वारा भी अविज्ञेय अनन्तब्रह्म....

३१९–स्वायम्भुवी मूलप्रकृति का स्वरूप-चिन्तन, प्रश्नपरम्परा की समाधानभूमि–प्रकृति, एवं तन्माध्यम से ही दुरधिगम्या अचिन्त्यता के सम्बन्ध में प्रश्नोदय २९४
३२०–असीम–व्यापक–अतएव अकेन्द्र, अनन्तब्रह्म, एवं उसकी अमना–अप्राण–अवाग्–रूपता का दिग्दर्शन .... ''
३२१–सादि-सान्त-विज्ञेय-सम्वत्सरप्रजापति, तन्मूला व्यक्तसृष्टि, एवं सृष्टिधारा का सादि–सान्तत्त्व .... ''
३२२–'सम्वत्सरचक्र' के 'चक्र' शब्द से, 'सृष्टिधारा' के 'धारा' शब्द से आनन्त्योपलब्धि का प्रयास, एवं अनन्त बलों के माध्यम से अनन्त रस का संस्मरण २९५
३२३–संख्यात्मक 'कलन'-भाव, एवं संख्यातीत 'निष्फल'–भाव ... .
३२४–व्यवहारभावानुगत 'सकल' शब्द की पूर्णता, तदनुबन्धी सकल (खण्डात्मक-अपूर्ण) बल, एवं तदाधारभूत निष्कल–अखण्ड–अनन्त–रसब्रह्म ... . ''
३२५–कलनभावात्मक–कलारूप–काल, एवं तदनुबन्धी कालरूप बलभावों के कोशात्मक सोलह महिमा–विवर्त्तों का संस्मरण ... ... ''
३२६–सुषुप्ति–जाग्रत्–निर्गच्छत्–रूपा बलानुबन्धिनी अवस्थात्रयी, चक्रबलानुगत धाराबल, एवं ब्रह्म की कालातीतता का समन्वय २९६
३२७–कालपुरुषानुगत काममय सृष्टिबीज का संस्मरण २९७
३२८–'कालरेत' की स्वरूप–महिमा का अनन्त-विस्तार, तद्द्वारा सर्वप्रपञ्चोद्भव, तत्रैव सर्वं-प्रतिष्ठितं, एवं **नवम** मन्त्रार्थ-संस्मरण .... ''
३२९–कालकामना से उत्पन्ना सृष्टि की स्वरूप–जिज्ञासा, तत्समाधानाधारभूता रसात्मिका **भावसृष्टि** का स्वरूप–समन्वय २९८
३३०–कालप्रकृत्यनुबन्धिनी **परा गुणसृष्टि**, का, एवं **अपरा विकारसृष्टि** का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा तदनुबन्धिनी **विभूति–योग–याग**–भावत्रयी .... ''
३३१–सृष्टित्रयी से अनुप्राणित त्रयोदशविध (१३) त्रयीविवर्त्तों का समन्वय–दिग्दर्शन २९९
३३२–अमूर्त–मूर्त–सृष्टियों के उपक्रम-स्थान की जिज्ञासा, तत्समाधानपरक **'ब्रह्म'**, तथा **'परमेष्ठी'**–भावों की स्वरूप–महिमा का यशोवर्णन, एवं नवम मन्त्रार्थसमन्वयोपराम ३०१

इति–नवममन्त्रार्थसङ्गतिः

९

—*—

(१०)–दशम-मन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (दशममन्त्रार्थ)

३३३–'कालः प्रजा असृजत' इत्यादि दशम मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय ... ३०२
३३४–छन्दोमूर्त्ति महाकालपुरुष के दो प्रमुख सर्ग, एवं तदनुगता प्रजापति, और प्रजा–शब्दद्वयी का संस्मरण ... ,,
३३५–मनःप्राणवाङ्मय आत्मप्रजापति, रूप-कर्म्म-नाम-मयी शरीरप्रजा का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं अमृत–मृत्यु–भावों का समन्वय ... ,,
३३६–'कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम्' मन्त्रपूर्वार्द्ध का संस्मरण–समन्वय ... ३०३
३३७–प्रजापति से आविर्भूता चतुर्विधा प्रजा का नामस्मरण ... ,,
३३८–प्रजा चतुष्टयी का सौरसम्वत्सरात्मक कूर्म्मप्रजापति के स्वरूप में अन्तर्भाव, एवं सौर सम्वत्सरात्मक 'कश्यप' के द्वारा परमेष्ठी–सूर्य्य (इन्द्र)–चन्द्र (सोम)-भूः (अग्नि) नामक चतुर्विध स्वायम्भूव अधिदेवताओं का संग्रह ... ,,
३३९–अव्यक्त स्वयम्भूप्रजापति, व्यक्त कश्यपप्रजापति, एवं अव्यक्ताधार पर प्रतिष्ठित व्यक्तप्रजापति की दधि–घृत–मधु–अमृत–रूपता का तात्त्विक–प्राणात्मक–समन्वय ... ३०४
३४०–आपोमय समुद्रगर्भ में प्रतिष्ठित कश्यपप्रजापति, एवं प्रजामूलक कश्यप के–'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' वचन का समन्वय ... ,,
३४१–देव–पितर–मानव–प्रजात्रयी का 'सौरसम्वत्सरप्रजा' में अन्तर्भाव, एवं काल की अभिव्यक्तिरूप स्वयम्भू, तथा कश्यप का स्वरूप–समन्वय ... ३०५
३४२–अव्यक्त स्वयम्भू का प्रजापतित्व, व्यक्त कश्यप का प्रजात्त्व, एवं दोनों स्वरूपों का कालानुगतत्त्व ... ,,
३४३–शरीरत्रयी से समन्वित शरीरभाव, एवं आत्मत्रयी से समन्वित आत्मभाव, तथा तदनुबन्धी प्राजापत्य-संस्थानों का समन्वय ... ३०६
३४४–अव्यक्त–व्यक्त–भावों की सर्वव्याप्ति, तन्निबन्धन प्राकृत कालवैभव, एवं स्वयम्भू–कश्यप–तपः–भावों का संस्मरण ... ,,
३४५–सृष्ट्याधार–सृष्टिनिर्म्माता, सृष्टिनिर्म्माणसाधन, रूपेण त्रयी का समन्वय, एवं दशम–मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम ... ३०७

इति–दशममन्त्रार्थसङ्गतिः

१०

---*---

३४६–अथर्ववेदीय १९ काण्डान्तर्गत–षष्ठानुवाकानुगत 'कालस्वरूपसूक्तात्मक' अष्टम–'कालसूक्त' से अनुप्राणित १० मन्त्रों के तात्त्विक–प्रकरण–विभागों का समन्वय ... ३०७

अत्र–कालसूक्तं–उपरतं–अष्टमम् [८]

श्रीः

अथ-कालमहिमात्मक-कालसूक्त-[नवम]-पञ्च-मन्त्रात्मक
[२]-नवमसूक्तानुगत-प्रथममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण[प्रथममन्त्रार्थ]
[पूर्वतोऽनुवृत्त ११ वाँ मन्त्र]
१-[११]-

—*—

३४७–'**कालादापः समभवन्**' इत्यादि प्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं काल, तथा कालिक पदार्थों का समन्वय ३०६

३४८–अथर्ववेदीय नवमसूक्तार्थ के सम्बन्ध में कतिपय पारिभाषिक सङ्केत ३१०

३४९–महामायात्मक '**प्राणकाल**' के आधार पर प्रतिष्ठित योगमायात्मक '**भौतिककाल**', दोनों कालों की अक्षर-क्षरनिबन्धना-अमृत-मृत्युरूपता, एवं उभयात्मक प्रजापति .. ''

३५०–प्राणकालनिबन्धन अमूर्त्त पदार्थों की केवल कालरूपता, तथा दिग्देशातीतता, एवं भूतकालनिबन्धन मूर्त्तपदार्थों की दिग्देशकालरूपता ३११

३५१–अक्षरप्राणप्रधान अमूर्त्तकाल की दिव्यकालता, क्षरभूतप्रधान मूर्त्तकाल की मानुषकालता, एवं भूत-भविष्यद्रूप दिव्यकाल, तथा वर्त्तमानरूप मानुषकाल ....

३५२–दिव्यकालगर्भित मूर्त्त-भूतकाल के महिमात्मक **प्रजापति-परमेष्ठी-इन्द्र-सोम-अग्नि**-नामक पाँच अधिदैवत-विवर्त्त, तन्निबन्धन पञ्च पुर, तदनुगत पञ्च महाभूत, एवं सर्वरसमयी माता पृथिवी ... ... ''

३५३–'**कालात्-कालेन-काले-कालः**' इत्यादि काल-शब्दों का आकाशभूतमय स्वयम्भू-प्रजापति पर पर्य्यवसान ३१२

३५४–महाभूतादि-वृत्तौजा-ब्रह्माण्डाध्यक्ष-सर्वतःपाणिपाद-सर्वतोऽक्षिशिरोमुख 'प्रजापति' का स्वरूप-दिग्दर्शन .. .. ''

३५५–'भूतादि' की प्राणात्मकता, एवं-'**स्वयमुद्बभौ**' वाक्य का समन्वय ... ''

३५६–स्वायम्भुव-प्राण का '**ऋषित्त्व**', ऋक्सामगर्भित यजुःपुरुष, अपौरुषेय त्रयीवेदतत्त्व, सप्तचितिरूप पुरुष, एवं उस की '**कालरूपता**' का समन्वय ३१३

३५७–ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेय-वेदतत्त्वमूर्त्ति '**स्वयम्भूकाल**', और उस के ऋक्सामापीत-आकाश-वायु-रूप वाक्-प्राणात्मक-'जू-यत्' भाव, तथा काल का यजुर्भाव .... ''

३५८–स्वयम्भूरूप काल की तपश्चर्य्या, एवं तपोमूर्त्ति स्वायम्भुव कालपुरुष से आपोरूप परमेष्ठी का आविर्भाव, तथा-'**कालादापः समभवन्**' मन्त्राक्षरार्थ का समन्वय ३१४

३५६--स्वयम्भूप्रजापति के तपः-सन्तपन से तल्ललाट से स्वेदधाराओं का प्रादुर्भाव, एवं गोपथश्रुतिवचन-समन्वय ३१४
३६०--पारमेष्ठ्य 'अप्' तत्त्व की-'आपः' रूपता का समन्वय, एवं आपोमय 'परमेष्ठी' का नामनिर्वचन ३१५
३६१--स्वयम्भूकाल से अप्तत्त्व के द्वारा क्रमशः ब्रह्म-तपः-दिशः तत्त्वों का आविर्भाव .... ,,
३६२--यजुर्म्मयी प्राणगति से तेजोमय आङ्गिरसतत्त्व का, यजुर्म्मयी वाक्स्थिति से स्नेहमय भार्गवतत्त्व का आविर्भाव, उभयधर्म्मात्मक आपोमय परमेष्ठी, एवं मूर्त्तजगत् की प्राथमिक-स्थिति का समन्वय ३१६
३६३--ऋत भृगु के आधार पर ऋत अङ्गिरा की सञ्चिति, एवं सञ्चिति के द्वारा आपः-परमेष्ठी से ऋत, और सत्य का आविर्भाव .... ,,
३६४--भृग्वङ्गिरोमय सत्यबीज की 'ब्रह्म' रूपता, एवं गायत्रीमात्रिक पौरुषेयवेदात्मक 'प्रथमजब्रह्म' .... ,,
३६५--ब्रह्मनिःश्वसित स्वायम्भुव अपौरुषेय 'कालवेद', गायत्रीमात्रिक-पौरुयेय-'कालिकवेद', एवं दोनों का त्रयीवेदत्त्व ३१७
३६६--बीजात्मक प्रथमजब्रह्म का संस्मरण .... ,,
३६७--हिरण्यगर्भमूर्त्ति-गायत्रीमात्रिक-वेदात्मक सूर्य्यनारायण, एवं 'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः' का समन्वय .... ,,
३६८--हैमाण्डमूर्त्ति 'ब्रह्म' का स्वरूप-समन्वय, एवं-'कालाद् ब्रह्म' मन्त्रभागार्थ-समन्वय ३१८
३६९--भृग्वङ्गिरोमय 'ब्रह्म' के महिमारूप तपः, और दिशः-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
३७०--भृगुगर्भिता अङ्गिराचिति से प्रादुर्भूत आङ्गिरस-व्यापार-लक्षण तपः का प्रादुर्भाव, एवं-'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' श्रुति का समन्वय ... ३१९
३७१--सूर्य्योत्पत्ति से पूर्वा स्थिति का दिग्दर्शन, एवं सौरब्रह्माण्डनिर्म्माता 'आङ्गिरससत्य' की प्रचण्डतमा उग्रता का यशोवर्णन ... ,,
३७२--भृग्वङ्गिरोमय ब्रह्म का प्रचण्डतपोरूप से महान् सरस्वान् समुद्र में प्रचण्डवेग से परिभ्रमण, परिभ्रममाण अग्निपुञ्ज से तद्गर्भ में अङ्गिराचिति की घनता का उदय, व्यक्त सूर्य्य का प्रादुर्भाव, एवं तन्मूलक-'दिशः' भाव ... ३२२
३७३--दिक् के द्वारा व्यक्त देश का परिग्रहण, भार्गव आपः की परिश्रितता, परिश्रित-भाव की 'छन्दोरूपता', तद्रूप दिग्भाव, एवं 'ब्रह्म-तपो-दिशः'-का समष्ट्यात्मक समन्वय ... ३२३
३७४--'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' रूपा लोकचतुष्टयी का समन्वय, ...
३७५--चतुर्थलोकीय दिक्सोम, तदभिन्न श्रोत्रेन्द्रिय, एवं 'ता इमा दिशोऽभवन्' का समन्वय ... ३२४

३७६-'दिशो वै परिभूश्छन्दः' लक्षणा छन्दोमयी दिक् ३२४
३७७-अन्तर्गर्भमूर्त्ति 'पूर्वब्रह्म', उसका प्रचण्ड 'तप', एवं-'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्' इत्यादि शातपथी श्रुति का समन्वय ... ... ,,
३७८-स्नेहगुणक भृगु की 'अश्रुरूपता', उसकी 'अश्वरूपता', एवं-अथ यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्' इत्यादि वाजिश्रुति का समन्वय ... ३२५
३७९-कालप्रजापति से आविर्भूत आपः-ब्रह्मः-तपः-दिशः-रूप चार तत्त्व, एवं इनका तात्त्विक-समन्वय ... ... ,,
३८०-कालमूला सृष्टिधारा की अनाद्यनन्तता, एवं प्रथम (१-११) मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम ३२६

इति-प्रथम (१-११) मन्त्रार्थसङ्गतिः

(१२)-(२)-द्वितीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (द्वितीयमन्त्रार्थ)

३८१-'कालेन वातः-पवते' इत्यादि द्वितीय (१२) (२) मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय, एवं कालात्मिका सौरत्रैलोक्यविभूति का संस्मरण ३२७
३८२-सृष्टि-दृष्टि-मूला सृष्टिविद्याओं का पार्थक्य, अव्यक्तभावानुगता सृष्टिमूला सृष्टिविद्या का, एवं व्यक्तभावानुगता दृष्टिमूला सृष्टिविद्या का पारिभाषिक विपर्य्यय ३२८
३८३-अव्यक्त स्वायम्भुव जगत् का दिशः-द्यौः-अन्तरिक्षः-पृथिवी-रूप सृष्टिमूलक समन्वय, एवं व्यक्त सौर जगत् का पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशः' रूप दृष्टिमूलक समन्वय ... . ,,
३८४-दृष्टिविद्यामूलक पार्थिव अस्त्वण्ड, आन्तरिक्ष्य पोषाण्ड, सौर यशोऽण्ड, पारमेष्ठ्य रेतोऽण्ड, नामक चतुर्विध अण्डों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं-द्वितीय (१२) (२) मन्त्रार्थ-समन्वयोपराम .. .. ,,

इति-द्वितीय (१२)-मन्त्रार्थसङ्गतिः

२

—*—

(३)-(१३)-अथ तृतीयमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण (तृतीयमन्त्रार्थ)

३८५-'कालो ह भूतं-भव्यं च' इत्यादि तृतीय (१३) (३) मन्त्राक्षरार्थसमन्वय, एवं पार्थिवसम्वत्सर' का संस्मरण ३३१
३८६-स्वयम्भू-काल से आविर्भूत दशकल-'विराट्काल' का स्वरूप-समन्वय, एवं दोनों कालों का-'आत्मा वै जायते पुत्रः' मूलक पिता-पुत्रीय-सम्बन्ध .... ,,

३८७–'पिता सन्नभवत् पुत्र एषाम्' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं विराट्पुत्र का संस्मरण ३३१
३८८–पुत्रकालात्मक व्यक्त सौरकाल के पौरुष-स्वरूप की जिज्ञासा, एवं–'अश्वो न देववाहनः' श्रुति का समन्वय ३३२
३८९–लोकसूक्ति का समन्वय, एवं पिता स्वयम्भू के धर्म्मों से समतुलित पुत्र सौरकाल का संस्मरण .... ,,
३९०–त्रिकालात्मिका सृष्टिकालव्यवस्था का दिग्दर्शन ३३३
३९१–भवल्लक्षण वर्त्तमानकाल का भूत–भविष्यल्लक्षण अतीत–अनागत–कालों में अन्तर्भाव .... ,,
३९२–वर्त्तमानकाल की भूत–भव्यता, एवं–'कालो ह भूतं-भव्यञ्च' मन्त्रभाग का संस्मरण .... ,,
३९३–'भूतम्', और 'भव्यम्'–शब्दों के तात्त्विक वाच्यार्थों का समन्वय .... ,,
३९४–'भूतम्', और 'लक्ष्मीभाव', 'भव्यम्', और 'श्रीभाव', तथा भूत–भव्यात्मक पारमेष्ठ्य विष्णुरूप महदक्षरकाल की 'श्री'–'लक्ष्मी'–नाम की दो पत्नियाँ ३३४
३९५–प्राणश्री, तथा भूतलक्ष्मी का स्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुगत भव्य-भूत-भाव, एवं भव्य-भूतायोजनात्मक लोकव्यवहार का समन्वय .... ,,
३९६–'कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रोऽजनयत्पुरा' मन्त्रभाग का तात्त्विक-समन्वय ३३५
३९७–पृथिवीलोक की भूतता, एवं द्युलोक की भविष्यत्ता का स्वरूप-समन्वय .... ,,
३९८–'सत्यं वा ऋतम्–ऋतमिति सत्यम्' मूलक ऋत–सत्य–भावों का संस्मरण .... ,,
३९९–सत्य–ऋतानुगत सत्य, ऋत–सम्वत्सर, एवं दोनों सम्वत्सरों के गायत्रीमात्रिक, तथा यज्ञमात्रिक नामक दो तत्त्ववेद ३३६
४००–सौर–पार्थिव–तत्त्ववेदों का सुसूक्ष्म स्वरूप–भेद, एवं तन्निबन्धन सौर–पार्थिव–त्रैलोक्य .... ,,
४०१–'कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत' का संस्मरण .... ,,
४०२–'कालो ह भूतं भव्यं च' इत्यादि तृतीय-मन्त्रार्थसमन्वयोपराम .... ,,

इति–तृतीय (१३)–मन्त्रार्थसङ्गतिः

३

——*——

(४)–(१४)–अथ–चतुर्थमन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण–(चतुर्थमन्त्रार्थ)

४०३–ऋत–चान्द्र–सोमानुबन्धी ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञ, एवं चान्द्रसम्वत्सरयज्ञ से चतुर्दशविध भूतसर्ग का प्रादुर्भाव ३३९

४०४–ऋतुकाल से यज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति, चान्द्रयज्ञकालानुगत सौम्य गन्धर्वाप्सराप्राण, एवं देवदेवताओं की अक्षय्यनिधि ३३९
४०५–सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरचक्रत्रयी का संस्मरण, एवं साम्वत्सरिक कालचक्रत्रयी से चक्रायित त्रैलोक्य .... ,,
४०६–पिण्डानुगता प्राणमहिमा की विश्वरूपता, एवं 'वैश्वरूप्य' समन्वय ३४०
४०७–पञ्चरात्रयज्ञमूलक 'नारायणपुरुष' का संस्मरण .... ,,
४०८–पञ्चपर्वा महान् विश्व के पञ्चविध वैश्वरूप्यों का समन्वय .... ,,
४०९–'वृत्त' शब्द की स्वरूप–परिभाषा, एवं पार्थिव **अक्षवृत्त**, चान्द्र **दक्षवृत्त**, सौर **क्रान्तिवृत्त**, पारमेष्ठ्य **अयनवृत्त**, तथा स्वायम्भुव **गतिवृत्त**–नामक पाँच वृत्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन ३४१
४१०–पाँच विश्वविवर्त्तों का चार विवर्त्तों में अन्तर्भाव, एवं चतुर्विध सम्वत्सरों का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय .... ,,
४११–'अदिति' सम्वत्सरात्मक पार्थिव–सम्वत्सर, एवं उस के अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता ३४३
४१२–नामसाम्यमूला भ्रान्ति से वेदार्थ की अन्तर्मुखता, एवं विभक्त–व्यवच्छेदात्मक पारिभाषिक दृष्टिकोण का पुनः पुनः संस्मरण .... ,,
४१३–'**कालो यज्ञं समैरयत्**' मूलक ऋतुसम्वत्सरात्मक यज्ञमूर्त्ति चान्द्रसम्वत्सर का स्वरूप–दिग्दर्शन .... ,,
४१४–सौम्य चन्द्रमा का देवसत्यत्त्व–समन्वय ३४४
४१५–ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य–मूलक सत्य–ऋत–तत्त्वों का स्वरूप–समन्वय, एवं–'ऋत' शब्द का स्वरूपलक्षण .... ,,
४१६–ऋतमूर्त्ति, महदक्षरात्मक परमेष्ठी का संस्मरण .... ,,
४१७–**प्रथम–द्वितीय–तृतीय**–सत्यविवर्त्त, एवं त्रिसत्यात्मक देवदेता .... ,,
४१८–पञ्चपर्वात्मक विश्व से अनुप्राणिता सत्यत्रयी, एवं ऋतद्वयी, तथा **ऋत**सम्वत्सर का अन्नत्त्व ३४५
४१९–**सावित्राग्निसत्य–गायत्राग्निसत्य**,–एवं **वृत्रसत्य**, तथा वृत्र का स्वरूप–दिग्दर्शन .... ,,
४२०–पञ्चर्त्तुमूर्त्ति–ऋतधर्म्मा–चान्द्रसम्वत्सर की **पञ्चरात्रता** का समन्वय .... ,,
४२१–सौर–ऋताग्नि, पार्थिव–ऋताग्नि, एवं चान्द्र–ऋतसोम के सह समन्वय से चान्द्र सम्वत्सर की स्वरूप–निष्पत्ति ३४६
४२२–चन्द्रमा की '**विचक्षणता**', एवं विचक्षण–चन्द्रमा के सहज '**ऋतुधर्म्म**' का दिग्दर्शन .... ,,

४२३–सुपर्णपक्षी–रूप चन्द्रमा, उसका अर्णवसमुद्र में अनुधावन, एवं चन्द्रमा की अब्गर्भिता–पञ्चरात्ररूपा नारायणपुरुषता का समन्वय ३४६
४२४–चान्द्रसम्वत्सर से प्रसूत चतुर्द्दशविध प्रजासर्ग से अनुप्राणित **'नर'**, और **'नारी'**–भाव ३४७
४२५–सम्वत्सरत्रयी का पारम्परिक–**'अतिमानसम्बन्ध'**, एवं तत्सम्बन्ध के द्वारा तीनों सम्वत्सरप्राणों की अभिन्नता का समन्वय .... ,,
४२६–चान्द्रसम्वत्सर के प्रवर्ग्यरूप वायव्य ऋतधर्म्मा अग्नि, सोम, एवं ऋताग्निसोम के द्वारा पाँच ऋतुओं का आविर्भाव .... ,,
४२७–त्रिवृत् (६)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१)-त्रिणव (२७-त्रयस्त्रिंश (३३)-नामक पञ्चविध स्तोम, एवं तदनुबन्धी वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर-नामक पञ्चर्त्तुभाव ३४८
४२८–अग्न्याधारभूत ऋतसोम की सर्वव्याप्ति का समन्वय .... ,,
४२९–वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नामकी ऋतुत्रयी का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं **'देवर्त्तुत्रयी'** .... ,,
४३०–शरत्-हेमन्त-शिशिर-नाम की ऋतुत्रयी का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं **'ऋतं नात्येति किञ्चन'** मूलक ऋतसोम की सर्वव्याप्ति ३४९
४३१–ऋतसम्वत्सरयज्ञ, एवं उस के पाँच अहः, तथा यज्ञकर्म्म के स्वरूप–निर्म्मापक विभिन्न साधन-परिग्रह .... ,,
४३२–वितानयज्ञात्मक आतानयज्ञ, हविर्यज्ञ, दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं **'अग्निभ्रातरः'** .... ,,
४३३–आहुतिद्रव्य, चतुर्विध ऋत्विक्, शस्त्र-ग्रह-स्तोत्र-ब्राह्म-लक्षण कर्म्म, एवं तदनुगता-विभिन्न-यज्ञविभूतियों का नामसंस्मरण ३५०
४३४–गायत्रसम्वत्सरात्मक **'श्येन'** की **'सुपर्णता'**, एवं गायत्रयज्ञ के तीन सवनों का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
४३५–सत्यसम्वत्सरकालात्मक प्रजापति के द्वारा गायत्रसम्वत्सरकालात्मक नारायणयज्ञ की स्वरूपमहिमा का वितान, एवं तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ ३५१
४३६–ऋतसम्वत्सरात्मक नारायणपुरुष की कामना, तद्द्वारा दृष्ट **'पुरुषमेध'** नामक पाञ्चरात्रयज्ञ का संस्मरण, यज्ञ के द्वारा नारायण की सर्वभूत-व्याप्ति, तदनुबन्धी-**'चान्द्रनारायण'** विवर्त्त, एवं तत्स्वरूपसमन्वयात्मिका विविध तालिकाएँ ३५२
४३७–**सत्यस्य सत्यं-सत्यं-ऋतसत्यं-ऋतं**-रूप चतुर्विध सम्वत्सरों का समष्ट्यात्मक दिग्दर्शन, एवं तद्द्वारा प्रज्ञाशीलों के अनुरञ्जन का प्रयास ३५६
४३८–कालपुरुष के **कालातीत**, तथा **कालात्मक**-स्वरूपों का संस्मरण, एवं तन्माध्यम से विषमवर्त्तनात्मक कालिक-आचरण के द्वारा समदर्शनधिया मानव की पुरुषार्थ-संसिद्धि का दिग्दर्शन .... ,,

४३९–अनिर्वचनीय कालातीततत्त्व, निर्वचनीय कालतत्त्व, एवं '**कालो ह विश्वा भूतानि**' का समन्वय ···· ३५६

४४०–मानवीय कालिक-अध्यात्मसंस्था के कालिक-पर्वों का पारम्परिक समन्वय-दिग्दर्शन ···· ३५७, ३५७–३५८

४४१-४४२–आध्यात्मिक सात पर्व, इन सातों के मूल प्रवर्त्तक आधिदैविक सात विवर्त्त, एवं तालिका-माध्यम से दोनों सप्तकों का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन ····

४४३–चान्द्रकालानुत **गन्धर्व**, एवं **अप्सरा**-तत्त्व का स्वरूप-परिचय, तथा गन्धर्वाप्सराप्राणों की यशोमहिमा का उपवर्णन ···· ३६०

४४४–गन्धर्वाप्सराप्राणमय चान्द्रसोम से अनुप्राणिता सौरप्राणाग्निदेवदेवताओं की '**अच्छिति**' का स्वरूप-समन्वय ···· ”

४४५–चन्द्रमा की सर्वात्मकता का समन्वय ···· ३६१

४४६–अधिदैवत ऋत-चान्द्र-सम्वत्सर के साथ आध्यात्मिक ऋत-मनोमय सम्वत्सर का समतुलन ···· ”

इति--चतुर्थमन्त्रार्थसङ्गतिः

४-(१४)

---

(५)-(१५)—अथ-पञ्चममन्त्रार्थसमन्वयप्रकरण [पञ्चममन्त्रार्थ]

४४७–'**कालेऽयमभर्वाङ्गिरादेवः**' इत्यादि पञ्चम (१५) (५) मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय, एवं **अथर्वाङ्गिरा**, तथा **अथर्वा** का पावन-संस्मरण ···· ३६२

४४८–वेदभाष्यकारों की दृष्टि में अथर्वाङ्गिरा, तथा अथर्वातत्त्वों का परमात्मभक्तिमूलक समन्वय, एवं वेदार्थ की अन्तम्मुखता ···· ”

४४९–परमात्मनामसाम्यमूला भ्रान्ति के निग्रह से काल-अथर्वाङ्गिरा-अथर्वा-आदि प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-नित्य तत्त्वों के पारिभाषिक-समन्वय का आत्यन्तिक अभिभव, एवं वेदभाष्यकारों का महतोमहीयान् वाग्विजृम्भण ···· ३६३

४५०–सर्वश्री सायणादि भाष्यकारों के प्रति श्रद्धाशीला प्रजा का श्रद्धार्पण, एवं ज्ञानविज्ञानात्मक-आचारप्रधान वेदशास्त्र का भाष्यानुग्रहपरम्पराओं से केवल अर्चनीय प्रतिमात्त्व, तथा तद्द्वारा भारतवैभव की अन्तम्मुखता ···· ”

४५१–'**कालादापः समभवन्**', एवं-'**कालेऽयमथर्वाङ्गिरादेवः**' का समतुलन, तथा '**आपः**', तथा-'**अथर्वाङ्गिरादेवः**' शब्दों का पारिभाषिक समन्वय ···· ३६४

४५२–'**आपः**' तत्त्व की **भृगु-अङ्गिरा**-अवस्थाओं का स्वरूप-समन्वय, एवं –'**आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्**', तथा '**आपो भृग्वङ्गिरोमयम्**' वाक्यों का स्वरूप-दिग्दर्शन ३६४

४५३–स्नेहगुणक भृगु की संकोचावस्था का, एवं तेजोगुणक अङ्गिरा की विकासावस्था का समन्वय ३६५

४५४–केन्द्रानुयोगिक, परिधिप्रतियोगिक भृगु, एवं परिध्यनुयोगिक, केन्द्रप्रतियोगिक अङ्गिरा की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन .... ,,

४५५–भृगु का प्राथम्य, अङ्गिरा का उत्तरभावित्व, आपः तत्त्व की '**सरिरता**', तन्मूला '**सलिलता**', एवं-'**स भृगुं सृष्ट्वा अन्तरधीयत**' इत्यादि गोपथवचन का समन्वय ३६६

४५६–पारमेष्ठ्य छन्दोमय दिङ्मण्डल, उस की प्राची-प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-रूपा चार दिशाएँ, एवं चारों पारमेष्ठ्य-दिग्भावों के साथ क्रमशः **वायु, पवमान, वात, मातरिश्वा,** नामक चतुर्विध वायव्यप्राणों का समन्वय ... ... ,,

४५७-वात-मातरिश्वादि-सहयोगी भृगु के द्वारा अङ्गिरा के सहयोग से स्वपिता परमेष्ठी प्रजापति का अन्वेषण, तत्कर्म्म में भृगु का प्रचण्ड प्रयास, प्रयास-वैफल्य पर अङ्गिरा के द्वारा भृगु का उपहास, एव अन्वेषणकर्म्म में भृगु को उद्बोधन-प्रदान ३६७

४५८–केन्द्रानुगत परमेष्ठीप्रजापति, एवं इन की स्वायम्भुव-त्रयीमूर्त्ति अव्यक्त-प्रजापति से अभिन्नता .... ,,

४५९–'परिधि' की पारिभाषिक दक्षिणता, केन्द्र की पारिभाषिक उत्तरता, एवं '**सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः**' का पारिभाषिक-समन्वय ३६८

४६०–भृगु के द्वारा पिता प्रजापति की-'**अथ अर्वाक्**' रूपा उपलब्धि, एवं '**अथर्वा**' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय .... ,,

४६१–**उक्थ-अर्क-अशीति**-रूपा प्रजापति की सर्वव्याप्ति, एवं उसकी **पशुपति-पाश-पशु**-रूपता का समन्वय .... ,,

४६२–उक्थभावापन्न 'अथर्वप्रजापति' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३६९

४६३–अथर्वप्रजापति के अर्क, और अशीतियाँ, एवं महिमात्रयी से समन्वित पारमेष्ठ्य 'आपः' तत्त्व .... ,,

४६४–'**कालेयमथर्वाङ्गिरादेवः**' मन्त्रभाग के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय ... ,,

४६५–प्रजापति के '**मेद**' से उत्पन्न अथर्वाङ्गिरा, एवं आपोमय परमेष्ठी प्रजापति के **पयः-आज्यम्-सोमः-मेदः**-नामक तत्त्वों का पारिभाषिक समन्वय ३७०

४६६–अथर्वा–परमेष्ठी की चतुर्वेदता, ज्येष्ठपुत्रता का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में श्रौतसन्दर्भ .... ,,

४६७–आपोमय परमेष्ठी की आर्द्रता, तन्मूला **आर्द्रेन्धनता**, तद्विनिर्गत 'धूम', एवं धूमभाव का त्रयीवेदत्त्व—समन्वय ३७१
४६ –आपोमय परमेष्ठी की **'पुष्कर'**-रूपता, तदनुगत 'पुरभाव', पुष्करक्षेत्र में विराजमान ब्रह्मा, एवं ब्रह्मा के द्वारा प्रजापालन, तथा-**'प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व'** श्रुति का समन्वय ३७२
४६६–भृगुधरातल पर अङ्गिरा का मन्थन, मन्थन से आविर्भूत सौर सावित्राग्नि, तत्राहुत पारमेष्ठ्य सोम, तद्द्वारा **'यज्ञपथ'** का स्वरूप-निर्म्माण, एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक श्रौत-सन्दर्भ ... ... ,,
४७०–**'अथर्ववेद'**, और **'अथर्वा'** का स्वरूप-परिचय, तन्मूलक **अथर्वाङ्गिरा**, और **भृग्वङ्गिरा**, तदनुगत **'पितरप्राण'**, एवं पितृप्राणमूर्त्ति भृग्वङ्गिरोमय अथर्वा से चन्द्रमा का आविर्भाव ३७३
४७१–सौरदेवयज्ञाधिष्ठाता **पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा** नामक ब्रह्मा, पार्थिव देवयज्ञाधिष्ठाता **चान्द्रअथर्वा** नामक ब्रह्मा, एवं-**'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः'** इत्यादि यजुःश्रुति का समन्वय ३७४
४७२–आधिदैविक यज्ञाधिष्ठता **चन्द्रमा ब्रह्मा**, एवं आध्यात्मिक यज्ञाधिष्ठता **मनोब्रह्मा** ,,
४७३–पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरा का, तथा चान्द्र अथर्वा का कालाश्रयत्त्व ... ,,
४७४–अथर्वाङ्गिरा, एवं अथर्वा के आश्रयभूत स्वायम्भुव-परमाकाशात्मक अव्यक्त-काल के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न ३७५
४७५–यज्ञसृष्टि-लोकसृष्टि-प्रजासृष्टि-मैथुनीसृष्टि-आदि सृष्टियों के उपक्रमस्थान पारमेष्ठ्य अथर्वाङ्गिरादेव, एवं उपसंहारस्थान चान्द्र अथर्वा ... ... ,,
४७६–प्राजापत्या वल्शा की अमृत-मृत्यु-लोकता का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन अमृतमूर्त्ति अविपरिणामी अक्षर, मृत्युमूर्त्ति परिणामी क्षर, एवं तन्मूलक **'परमं लोकं-इमं लोकम्'** का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ३७६
४७७–महदक्षरब्रह्म का संस्मरण, तद्रूप **'बृहद्दिव'** **'महान्'** अथर्वा, एवं **'एष वै मृत्युर्यत्सम्वत्सरः'** श्रुति का समन्वय ... . ,,
४७८–**अपुनर्म्मार-कामप्र-अशोकमहिम**-नामक लोकों का संस्मरण, एवं अमृत-मृत्यु-लोकों का स्वरूप-समन्वय ३७७
४७६–अमृता लोकत्रयी, और मर्त्या लोकत्रयी, एवं-**'इमं च लोकं, परमं च लोकम्'** इत्यादि मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय ... ... ,,
४८०–कालमहिमा से समन्वित **काल-दिक्-देश-प्रदेश**-भावों का संस्मरण, एवं कालानुबन्धी **लोक-लोकी-लोकव्यवधान**-त्रयी का दिग्दर्शन ३७८
४८१–दिगनुगत छन्द, देशानुगत **देवता**, प्रदेशानुगत **पशु**-भावों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं-**'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः'** इत्यादि श्रुति का संस्मरण ,,
४८२–लोकछन्दों में प्रतिष्ठित लोकीरूप **'जन'** शब्द की स्वरूप—परिभाषा ... ३७९

४८३–प्रदेशानुगत-'यदपश्यत्' लक्षण 'पशु' शब्द की स्वरूप-परिभाषा ३७९
४८४–चन्द्रमानुगत 'पशुभाव', तन्मूलक प्रदेशात्मक प्रान्तभाव, एवं तन्मूला प्रदेशात्मिका प्रान्तीयता, ... ,,
४८५–पशुभाव के माध्यम से प्रजा के पार्थक्यबोध का समन्वय ३८०
४८६–इमं-परमं लोक, पुण्यलोक, पुण्या-विधृति, त्रयी का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्माध्यम से सम्पूर्ण कालिक विवर्त्त का संग्रह .... ,,
४८७--पञ्चम (१५) (५) मन्त्रार्थसमन्वयोपराम ... ... ,,

इति–पञ्चम (१५)–मन्त्रार्थसङ्गतिः

५

—*—

पञ्च–मन्त्रात्मक–अथर्ववेदीय–नवमसूक्त–अत्र उपरत

—*—

४८८--इदमत्र माङ्गलिकं-संस्मरणं-आर्य्यसर्वस्वानुगतम् (पुराणानुगत-श्रुत्यर्थानुसारी–काल-स्वरूपेतिवृत्त–समन्वय) ३८१

इत्यथर्ववेदीय कालसूक्ताक्षरार्थमात्रसमन्वयात्मकं

द्वितीयं प्रकरणमुपरतम्

२

—*—

श्रीः

(२) दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मके-एकादशस्तम्भे 'क' कारविभागात्मके-चतुर्थखण्डे दिग्देशकालानुगतस्य-'आचारप्रकरणस्य' तृतीयस्य संक्षिप्ता-विषयसूची-६२२ परिच्छेदात्मिका

३

———*———

१–मूलकालात्मक-प्रथमदेवात्मक-परमदेवरूप 'अक्षरकाल' का संस्मरण, तद्–
नुबन्धी व्यक्त 'क्षरकाल', तन्निबन्धना 'दिग्-देश-कालत्रयी', एवं परावरकाल,
तथा अवरकालात्मक कालभावों के सम्बन्ध में उपनिषच्छ्रुति ३८६

२–'सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा, कालः स ईयते परमो नु देवः' इत्यादि
अथर्ववेदीया कालमहिमा का सिंहावलोकन ३६०

३–कालधर्म्मों से सर्वथैव असंस्पृष्ट कालातीत अव्ययब्रह्म, तत्समतुलित अव्ययनिष्ठ
कालातीत मानव, एवं तदभिन्न शाश्वतब्रह्मरूप 'मनु' तत्त्व, तथा तदेकांश में
चतुष्पर्वा 'काल' का अवस्थान ३६१

४–कालात्मक 'अव्यय' की अक्षररूपता, महामायावृत्तात्मक महाकाल, तद्रूप
मायी महाकालेश्वरात्मक महेश्वर, केन्द्रानुगत मायावृत्त, केन्द्राक्षर की परा-
वरता, एवं अक्षरकालात्मक 'परमकाल' के चतुर्विध कालिक-विवर्त्तों का
संस्मरण ३६२

५–कालातीत अव्यय के एकांश से अनुगृहीत अक्षरकाल की 'परकालता', स्वानु-
गता 'परावरकालता', क्षरानुगता 'अवरकालता', एवं तदनुबन्धिनी 'सर्व-
रूपता' .... "

६–पर-परावर-अवरात्मक सर्वमूर्त्ति अक्षरकाल की उपासना से हृद्ग्रन्थि-विमोक,
अक्षरकालानुगता सिसृक्षा, मुमुक्षा, एवं परमकालात्मक अक्षरकाल के द्वारा
सर्ग, तथा प्रलय की प्रवृत्ति .... "

७–ज्ञानमय मनःकाल, क्रियामय प्राणकाल, अर्थमय वाक्काल, एवं उसी पर,
उसी से, उसी की सर्वरूप-परिणति का समन्वय ३६३

८–अव्ययात्मक अक्षर पर, स्वात्मक अक्षर से, क्षरात्मक अक्षर की ही सर्वरूप में
परिणति, एवं 'सर्वरूपता' के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न .... "

९–क्षरात्मक वाङ्मय अक्षर की नित्य-महिमारूपता, अमृताक्षर से विस्रस्तभाव की
'विकारक्षररूपता', एवं मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल से विनिर्गत विकारभावों
की 'रूप-कर्म्म-नामता' .... "

१०–**अ-उ-अच्**-भावापन्ना वाक्, एवं 'वाक्' की सर्वरूपता का समन्वय ... ३६४
११–प्राण-मनो-गर्भित क्षरतत्त्व की 'वागूरूपता, वाङ्मय नामविवर्त्त', एवं वाङ्मय नामविवर्त्त से मनःप्राणवाङ्मय अक्षरकाल का परिग्रहण, तथा **'काले नाम समाहितम्'** का तात्त्विक समन्वय .... ,,
१२–**अव्यय** पर **अक्षर** से **क्षर** के द्वारा **विकार** की सर्वरूप में परिणति, सैषा स्थितिः ३६५
१३–काल पर, काल से, काल के द्वारा, काल की ही सर्वरूप में परिणति, एवं अक्षरात्मक काल के चतुर्विध महिमाविवर्त्तों का तालिका–माध्यम से तात्त्विक समन्वय ... ,,
१४–वैदिक-परिभाषाओं का महाकोश **'गीताशास्त्र'**, एवं श्रौती कालचतुष्टयी का गीताशास्त्र के द्वारा स्वरूप-समन्वय ३६७
१५-कालातीत अनन्ताव्यय के एकांश से अभिव्यक्त अनन्तकाल की अनन्तता के माध्यम से कालातीत की अनन्तता का आंशिक अनुमान .... ,,
१६–बुद्धिवादात्मिका दार्शनिक-प्रतिभा पर, तथा बुद्धिदम्भात्मिका वैज्ञानिक-साधना-पर कालातीत के यत्किञ्चित् से आघात से दिग्देशकालाभिनिविष्टा वर्गद्वयी का निःसीम विकम्पन ... ३६८
१७–शत-शत-प्राकृत-मानवपीढ़ियों से सञ्चित बौद्धिक-कालिक-दैशिक-भूत-भौतिक-विस्तारों का कालातीत के माध्यम से अनन्तकाल के द्वारा क्षणमात्र में विलयन, एवं दिग्देशकालभ्रान्त बुद्धिमान् मानव का हाहाकार .... ,,
१८–कालक्रमव्यव्यस्थाकौशलानुगामिनी प्राकृत–जीवनपद्धति का करुणक्रन्दनात्मक समस्त इतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से मानव की सहजप्रज्ञा में जिज्ञासात्मक अनेक प्रश्नों का आविर्भाव-तिरोभाव ... ,,
१९–**प्राकृतबुद्धि, दार्शनिकदृष्टि, वैज्ञानिकमस्तिष्क**-युक्त दिग्देशकालभ्रान्त मानव के जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधानान्वेषण-प्रयास ३६९
२०–लौकशिक्षया शिक्षित-दीक्षित **'प्राकृतबुद्धियुक्त मानव'** की स्वरूप-परिभाषा, तद्द्वारा 'मानवजिज्ञासा' के भावुकतासंरक्षक भातिसिद्ध समाधान, एवं जिज्ञासु के असन्तोष की वृद्धि .... ,,
२१–आचारशून्या तत्त्वशिक्षा के परपारदर्शी दार्शनिक-दृष्टियुक्त दार्शनिक-मानव की स्वरूप-परिभाषा, तद्द्वारा दुःखेतिहासविजृम्भणात्मक समाधानों का आलोड़न-विलोड़न, एवं परिणामतः जिज्ञासु की दुःखाभिवृद्धि ४००
२२–क्रमप्राप्त वैज्ञानिकमस्तिष्कयुक्त मानव की समुपस्थिति, तद्द्वारा भौतिक-मानव पर दृष्टिनिक्षेप, तन्माध्यम से भौतिक समस्याओं का अध्ययन, एवं भूतविज्ञान के बल पर तत्समाधान-प्रयास ... ४०१
२३–भौतिक-आविष्कारों से मानव को सुख-सुविधोपलब्धि, तदनुग्रहेणैव जीवनीय-संघर्ष का उपराम, तथा विज्ञान की उपयोगिता .... ,,

२४–सुख-सुविधा-व्यामोहन से समुत्पन्न भीषण आर्थिक-संघर्ष, एवं सुख-सुविधा के समतुलन में दुःख-असुविधा की अभिवृद्धि ४०१
२५–जिज्ञासा के समाधानप्रयास में नितान्त कुण्ठित वैज्ञानिक-मस्तिष्क ४०२
२६–दिग्देशकालात्मक 'वर्त्तमान' का 'प्राकृतभावत्त्व', एवं 'वर्त्तमान' शब्द के चिरन्तन-इतिवृत्त का समन्वय .... ,,
२७–मानवेतर पश्वादि प्राणियों का दिग्देशकालात्मक वर्त्तमानात्मक जीवनेतिवृत्त, एवं मानव का तदितिवृत्त से आत्यन्तिक-पार्थक्य ... ... ,,
२८–'इति-ह-आस' निर्वचनात्मक 'इतिहास' शब्द का वाच्यार्थ-समन्वय, एवं प्राकृत–जीवन के साथ 'इतिहास' शब्द का असम्बन्ध ४०३
२९–प्राकृत जीवन की मनःशरीरमात्रपरायणता, एवं मनःशरीरमात्रप्रधान प्राकृत-यथाजात-मानव के मनोविनोदात्मक-शारीरिक-भोगात्मक विजृम्भणों से असंस्पृष्ट 'मानवेतिहास' ... . ,,
३०–दिग्देशकालातीत अप्राकृत शाश्वत आत्मभाव, तन्निबन्धन 'मानवेतिहास', एवं मनःशरीरवादी मानवों की 'आत्मकथा'ओं का व्यामोहनात्मक विजम्भृण ... ,,
३१–देवभावानुगता 'कथा', आत्मभावानुगत 'इतिहास', एवं सृष्टिभावानुगत 'पुराण', तथा तद्वञ्चित प्राकृत मानव की 'आत्मकथा'-मूला महती भ्रान्ति .... ,,
३२–दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से परिपूर्ण पश्वादि प्राणी, एवं प्रकृति से अपूर्ण मानव, तथा लघीभूत 'प्राणीसर्ग' ४०४
३३–संस्कारात्मक 'उक्थ' से शून्य प्राणीजगत्, प्रकृति से नियन्त्रिता तज्जीवनपद्धति, प्रकृत्यैव स्वतःप्राप्त तत्प्राकृत ज्ञान, एवं तन्मूला प्राकृत–प्राणियों की प्राकृत-पूर्णता .... ,,
३४–'कपोत' के दृष्टान्त-माध्यम से पूर्णता का समन्वय .... ,,
३५–पश्वादि की अपेक्षा मानव की प्राकृत-अपूर्णता, एवं विधि का विचित्र-विधान ४०५
३६–दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से सीमित, नियन्त्रित मनःशरीरमात्र प्राकृत प्राणियों का काम-भोगात्मक 'जायस्व-म्रियस्व' मूलक समस्त जीवनेतिवृत्त ... ,,
३७–तत्समानधर्म्मा, आत्मबुद्धिविस्मृत, मनःशरीरमात्रपरायण, कामभोगानुगत प्रत्यक्षवादी, लोकायतिक-प्राकृत-मानव .... ,,
३८–भस्मान्तशरीरवादी-अनात्मवादी-सत्ताशून्य-प्राकृत मानव का दिग्देशकालात्मक-'यथार्थवाद', एवं 'आदर्श' की तद्द्वारा उपेक्षा ४०६
३९–यथार्थवादी प्राकृत मानवों के पशुसमतुलित प्राकृत-जीनव की अपेक्षा 'जन्मान्तर' रूप असमभाव, एवं तदपेक्षया इनका निःसीम उत्पीड़न .... ,,
४०–आत्मलोकशून्य प्राकृत मानव की उभयलोकशून्यता का दिग्दर्शन ... ,,
४१–'संस्कार' रूप दुर्भाग्य से प्राकृत मानव की श्रेष्ठपशुरूपता-परिणति में महान् प्रतिबन्ध ४०७

४२–तत्त्वमीमांसक दार्शनिकों से समतुलित भूतासक्त वैज्ञानिक मानव–श्रेष्ठों के भूतमन्थनद्वारा सुख-सुविधा के नाम पर विश्वसंहारक कालकूट हालाहल का सर्ज्जन, एवं तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन ४०७

४३–दिग्देशकालातीत महाकालकालेश्वर मायी महेश्वर की ग्रीवा में नियन्त्रित हालाहल की उपशान्ति से ही विश्वस्वरूप का संरक्षण, एवं भूतवैज्ञानिक के भूतविज्ञान की जिज्ञासा के समस्या-समाधान में असफलता ... ,,

४४–प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों को सिद्धान्त मान बैठने वाले दार्शनिक की, लोक-चतुर प्राकृत बुद्धिमान् की, तथा भूतवैज्ञानिक की दिग्देशकालातीत आत्मभाव के प्रति अनास्था, एवं इस वर्गत्रयी के द्वारा मानव की सहज जिज्ञासा से आत्यन्तिक तटस्थता ४०८

४५–जड़विज्ञानरत भी मानवश्रेष्ठों में आत्मानुगता 'मानवता' की क्षणिक अभिव्यक्ति से 'मानव' की कालातीता मानवता के सम्बन्ध में क्षणिक उद्बोधनोदय .... ,,

४६–दिग्देशकालात्मक-प्रकृतिसिद्ध-महान् भूतव्यामोहन से मानवतानुबन्धी क्षणिक-आत्मबोधोदय की उत्तरक्षण में अन्तम्मुखता, एवं इस का-'प्रकृतिविजयात्मक' काल्पनिक-व्यामोहन ४०९

४७–पुरुषविहीना प्रकृति के सहज क्षोभ की अनन्तता, तद्द्वारा तन्मात्रासक्त प्राकृत-मानव पर '**प्रकृति का महान् विजय**', एवं कल्पनाविभोर प्राकृत-मानव की काल्पनिक-क्षोभपरम्पराएँ ४१०

४८–मयासुरादि प्राकृत-वैज्ञानिक-मानवों के द्वारा प्रकृतिसीमा में प्राकृत सुख-स्वप्नों की सफलता, एवं वारुण-असुरों के द्वारा त्रैलोक्यविजय .... ,,

४९–प्रकृति से सर्वात्मना आवृत भूतविज्ञान की प्रकृतिविजय में नितान्त असमर्थता, एवं कालातीत, प्रकृत्यधिष्ठाता अव्ययात्मा से ही सम्भावित '**प्रकृतिविजय**' ४११

५०–चन्द्रलोकगमनातुर भूतवैज्ञानिक की चान्द्रसुखकामना, एवं तदनुगता सौरलोक-पारमेष्ठ्य–लोकादि लौकिक-सुख-समृद्धिपरम्पराओं का श्रौत इतिवृत्त, ... ,,

५१–स्वायम्भुव-'परमव्योम' लक्षण परमाकाशलोक, उस का चर्म्मवत् आवेष्टन, प्राकृतिक सुख की तदनुगता अन्तिम सीमा, एवं तत्सुखव्यामोहन के सम्बन्ध में श्रुति का मानव को उद्बोधन-प्रदान ... ४१२

५२–मानव की प्राकृतिक 'अपूर्णता' के तथ्य का दिग्दर्शन ... ,,

५३–पशु-पक्षी-आदि मानवेतर प्राणिजगत् की जन्मसिद्धा प्रकृतिमूला प्राकृतिक योग्यता का दिग्दर्शन ४१३

५४–मानवेतर प्राणियों की एककेन्द्रभूता प्रकृति, एवं मानव की स्वकेन्द्रानुगतता, तथा इतर प्राणियों की स्वतन्त्रता, और मानवों की परतन्त्रता .... ,,

५५–मानवेतर प्राणिजगत् के भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-कालों का केवल 'वर्त्तमान' काल में अन्तर्भाव, द्वन्द्वात्मक विधि-निषेधों से इस की असंस्पृष्टता, एवं प्रकृति-प्रेरणा से ही इस जगत् की तुष्टि-पुष्टि ४१३

५६–प्रकृत्यैव महद्भाग्यशाली-भाग्यवशवर्त्ती प्राणिजगत् की पूर्णता, एवं भाग्यवाद से वञ्चित प्रकृतिपरवश मानव की अपूर्णता ४१४

५७–शिक्षामाध्यम से साध्या मानव की प्राकृत-योग्यता, तदर्थ इस की छन्दोबद्धता, तदनुगता पुरुषार्थपरायणता, एवं पुरुषात्मानुगता पूर्णता से ही मानवीय परिपूर्णता की अभिव्यक्ति .... ,,

५८–अनन्त-परिपूर्ण-अव्ययात्मपुरुष, तदेकांश में बुद्बुद्वत् समासीना प्रकृति, एवं पुरुषात्मापेक्षया अस्तित्वविहीन मानवेतर प्राणी, और इन की प्राकृतिक पूर्णता-मूला भातिसिद्धता ४१५

५९–मानव की पुरुषात्मानुगता पूर्णता, आत्मानुबन्धी 'पूर्ण' शब्द, तदपेक्षया अपूर्णा प्रकृति, एवं प्राकृत विश्व, तथा प्राकृत प्राणियों की अपेक्षा पुरुषात्मनिष्ठ मानव की पूर्णता ... ... ,,

६०–अव्ययपुरुषानुगता पूर्णता की अभिव्यक्ति से वञ्चित मानव की पशुरूपता, एवं मनःशरीरमात्रपरायण प्राकृत मानव का शोचनीय प्राकृत इतिवृत्त .... ,,

६१–बुद्धिवादात्मक-प्राकृत-अनुभवों से समन्वित मानव का प्राकृत व्यक्तित्व, तन्निबन्धना अनुभवपरायणता, तदनुगता दिग्देशकालबन्धनता, एवं तथाभूत-बौद्धिक-अनुभव से सीमाबन्धनरूपा जड़ता का उदय ४१६

६२–अनुभवपरायण बुद्धिमान् मानव का निःसीम प्राकृत-अभ्यास, तदनुगत दिग्देश-कालसापेक्ष-व्यामोहन, एवं तदनुग्रह से दिग्देशकालातीत अप्राकृत तत्त्व के नामश्रवणमात्र से भी इस का विकम्पन .... ,,

६३–अनुभवदम्भ के परित्याग से मानव के लोकानुबन्धी प्राकृत-व्यक्तित्व के मूलोच्छेद की सम्भावना, तद्भय से कालातीत सनातन तत्त्वों पर तर्काक्रमण, एवं बौद्धिक तर्कजाल के द्वारा इस की आत्मरति से पराङ्मुखता ४१७

६४–दिग्देशकालाभ्यासानुगता प्रचण्डा तर्कशक्ति, तत्सामुख्य में तर्कातीत आत्मपुरुष की मौनता, तन्मूला विजयभ्रान्ति, एवं तदनुबन्धी मानव का निःसीम दुर्भाग्य ... ,,

६५–'**बाल्येन तिष्ठासेत्**' उद्बोधनसूत्र के द्वारा सम्भावित आत्मत्राण, एवं सहज जिज्ञासात्मक **परिप्रश्न**, तथा **सम्प्रश्न** शब्दों के तात्त्विक बोध का समन्वय ... ,,

६६–अनुभवात्मक '**प्रश्न**' शब्द की भौतिकता के व्यामोहन से परित्राण का आदेश, तदनुबन्धी कालसूक्तसंस्मरण, एवं तद्द्वारा '**सम्प्रश्न**' माध्यम से मानव का मानवीय-आत्मस्वरूप की ओर सहज आकर्षण ४१८

६७–जिज्ञासात्मक सहज आकर्षण से आत्मबोधनिष्ठ बन जाने वाले मानवश्रेष्ठ की अभ्युदय-निश्रेयस्-संसिद्धि, तदनुगत दिग्देशकालमीमांसेतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से ही लोकभावुकता-संरक्षक-आचारात्मक-दिग्देशकालानुबन्धी लौकिक-स्वरूप का उपक्रम ४१६

६८–भूत-भौतिक-प्रधाना-बुद्धिगम्या-लोकानुरञ्जनात्मिका-आचारभावानुगता दिग-देशकालानुबन्धिनी लोकव्याख्या, एवं तन्मूलक-'**सर्वमिदं प्राकृतिकं-भूतभौतिकमेव**' इत्यादि प्राकृत-सूत्र .... ,,

६९–अप्राकृत आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव की जिज्ञासाधारभूता-'**काल-दिक्देशत्रयी**', एवं प्राकृत मनःशरीरभावुक लोकमानव की प्रश्नाधारभूता '**दिग्देशकाल-त्रयी**', तथा दोनों दृष्टिकोणों में महान् अन्तर ... ... ,,

७०--बुद्धिवादी प्राकृत मानव के द्वारा **भूतेतिहास** की क्रमबद्धा व्यवस्था, तन्मूलक '**पुरातत्त्ववाद**', तदनुगत ध्वंसावशेष, तन्मूला जीवनपद्धति का महान् व्यामोहन, एवं तद्द्वारा प्राकृत-कालयापन ४२०

७१--दिग-देश-कालात्मक भौतिक विवर्त्तों के आनन्त्य से कालिक-दैशिक व्यामोहनों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, तन्मूलक एषणात्मक इस का ऐतिहासिक दम्भ, तद्द्वारा ऋषिप्रज्ञा पर निर्लज्ज आक्षेप, इत्यालप्यालमेव ... . ,,

७२--विनश्वर-प्राकृत-मनःशरीरनिबन्धन-तात्कालिक भूतपदार्थों के साथ '**इति-ह-आस**' मूला भूत-भविष्यत्-मर्य्यादा का असंस्पर्श, एवं भारतीय शाश्वत-सनातन--इतिहासबीजों का संस्मरण ४२१

७३--अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से मानव के चिरन्तन '**आत्मेतिहास**' की ... ,,

आराधना, एवं अनन्तकाल के द्वारा अनुमेय अनन्त आत्मभाव ... ,,

७४--अनन्त दिग्देशकालात्मक अनन्त भौतिक विश्व का माङ्गलिक-संस्मरण

७५--व्यष्टिरूप प्रत्येक भौतिक पदार्थ से अनुप्राणित दिक्-देश-कालभावों की अनन्तता का समन्वय, एवं कालविभूतियों की अनाद्यनन्तता ४२२

७६--मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक-दिग्देशकालों के व्यष्ट्यात्मक आनन्त्य की सूचीमात्र से पराभूता मानव की लोकप्रज्ञा, एवं तदपेक्षया मानवेतर-पश्वादि प्राकृत-प्राणियों की विशेष योग्यता-शालिता .... ,,

७७--प्राकृत वैज्ञानिक मानव के दिग्देशकालानुगत 'प्रकृतिविजय' का सम्पूर्ण इतिवृत्त, तदनुगामी विज्ञानदम्भ, एवं तन्निग्रह से मानव की बुद्धि में भूतजड़ता का उदय ... ४२३

७८–उपनिषदनुगता **अक्षरोपासना**, आगमानुगता **शक्त्युपासना**, कर्म्मकाण्डानुगता **यज्ञोपासना**, गीतानुगता **बुद्धियोगोपासना**, आदि आदि प्रकार-माध्यमों से उत्पीड़क-व्यक्तकाल के उपशमनकर्त्ता पीड़ानिवर्त्तक, व्यक्तकालपीड़क अनन्तकाल के द्वारा भूतजड़ता से परित्राण .... ,,

७९--अनन्तकालपुरुषात्मक अक्षर की उपासना का माध्यम व्यक्तकालात्मक क्षरात्मक यज्ञपुरुष, एवं तत्प्रतीकात्मक उपास्य भगवान् सूर्य्यनारायण ४२४

८०--यज्ञ-सम्वत्सर-सूर्य्य-वर्ष-काल-समय आदि शब्दों की समानार्थकता, एवं सौरसम्वत्सरात्मक व्यक्त-मूर्त्तकाल की अनन्तता का समन्वय ... ... ,,

८१--दैवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, मानवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, एवं **अव्यक्तकाल-सौर-काल--मानवकाल**-भेद से काल के तीन महिमाविवर्त्त ... ... ,,

८२--वृत्तात्मक 'छन्द', छन्दोरूप **'सम्वत्सर'**, तद्रूप **अनन्त--अमूर्त्त--मूर्त्त--मूर्त्ति**-रूप चतुर्विध कालविवर्त्त, एवं कालात्मिका सम्वत्सरचतुष्टयी का **'वसुधानकोशात्मक-सम्बन्ध'** ४२५

८३--ब्राह्मकालात्मक **अनन्तकाल**, पैत्र्यकालात्मक **अमर्त्तकाल**, दैवकालात्मक **मूर्त्त-काल**, मानवकालात्मक **मूर्त्तिकाल**--चतुष्टयी के साथ क्रमशः मानव के **भूतात्मा--विज्ञानात्मा--प्रज्ञानात्मा--शरीरात्मा** नामक चार पर्वों का समसमन्वय ... ... ,,

८४--चतुर्विध कालविवर्त्तों में से भूतविज्ञानवादी का लक्ष्यीभूत चतुर्थ भौतिक-**'मूर्त्ति-काल'**, तन्निबन्धना इस की कालज्ञता--भ्रान्ति, एवं काल के अनन्त विस्तार के सम्बन्ध में पुराणपुरुष भगवान् व्यास के उद्गार ४२६

८५--परिलेखानुगता चतुर्विध-कालमहिमाओं का संग्रहात्मक समन्वय.... ... ,,

८६--**अनन्तकाल** की पूर्ण अभिव्यक्तरूप **अमूर्त्तकाल**, तत्पूर्णाभिव्यक्तित्वरूप **मूर्त्तकाल**, तत्पूर्णाभिव्यक्तित्वरूप **मूर्त्तिकाल**, एवं--**'पुरुष एवेदं सर्वम्'** मूलक पुरुषानन्त्य का संस्मरण ४२७

८७--अनन्तकाल की **'कालरूपता'**, अमूर्त्तकाल की **'दिग्रूपता'**, मूर्त्तकाल की **'देशरूपता'**, मूर्त्तिकाल की **'प्रदेशरूपता'**, एवं कालातीत अनन्तात्मपुरुष के माध्यम से ही चतुर्विध कालविवर्त्तों का समन्वय ४२८

८८--भूतलक्षण अनन्तकाल, भविष्यल्लक्षण अमूर्त्तकाल, भवल्लक्षण मूर्त्तकाल, अभवल्लक्षण मूर्त्तिकाल, एवं--**भूतं भविष्यत्प्रस्तौमि'** मूलक महदक्षरकाल का संस्मरण .... ,,

८९--परिलेखमाध्यमेन **भूत--भविष्यत्--भवत्--अभवत्**--रूपा कालचतुष्टयी का समष्ट्यात्मक समन्वय ४२९

९०--सर्वाधारकालात्मक--**'सत्यस्य सत्यम्'** रूप काल ४३०

९१--सत्यस्य सत्यात्मक महदक्षरकाल, सत्यात्मक सौरसम्वत्सरकाल, ऋतसत्यात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल, ऋतात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल, तदनुप्राणिता **अनन्त-वर्ष-अहः-मास-रूपा** कालचतुष्टयी, एवं-**'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का संस्मरण .... ,,

६२--निर्विशेष--निरपेक्ष अनन्तब्रह्म का प्रतीक सत्यस्य सत्यकाल, तत्प्रतीक सत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतसत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतकाल, एवं काल के सत्यं-शिवं-सुन्दरं-रूप सौर-पार्थिव-चान्द्र-भावों का दिग्दर्शन ... ४३१

६३--दिग्देशकालातीत-अनन्तकाल की मनःप्राणवाग्रूपता, मनोमय अमूर्त्तकालात्मक सत्यकाल, प्राणमय-मूर्त्तकालात्मक शिवकाल, एवं वाङ्मय-मूर्त्तिकालात्मक सुन्दरकाल का स्वरूप-समन्वय ... ४३२

६४--क्रमसिद्धतत्त्वात्मक 'काल' भाव, तदनुबन्धी क्रमभाव, एवं तदनुगत-क्रमव्यवस्था-सिद्ध दिग्-देश-प्रदेश भावों का समन्वय ... ४३३

६५--कलनात्मक मूर्त्त 'काल' के **मानसकाल-निमेषकाल-गणनकाल**-नामक तीन विवर्त्त, एवं तीनों की सापेक्षता ... ,,

६६--सापेक्ष एकत्व से उपक्रान्त परमपरार्ध्यान्त व्याप्त गणनकाल, तदाधारभूत निमेषकाल, एवं तदाधारभूत मन्वन्तरकालात्मक मानसकाल ... ४३४

६७--'**अङ्गिरा मन उत्साहः**' रूप मानसकाल, एवं तद्द्वारा निमेषकाल के माध्यम से गणनकाल की व्यवस्था ... ,,

६८--मानसकाल से आवृत निमेषकाल, तेन आवृत गणनकाल, एवं भूतविज्ञान-वादियों का गणनकाल से गणनातीत काल को आवृत करने का भातिरूप प्रयास, तथा तदुद्बोधनात्मक अनन्तकाल ... ,,

६९--'**सहस्रधा महिमानः सहस्रम्**' रूप अनन्तकाल की अनन्तता के समतुलन में गणनकाल का निःसारत्व ... ४३५

१००--अनन्तात्मब्रह्म के आनन्त्य–संस्पर्श से पराःपरावत, अतएव मानव की सहज शान्ति के विघातक, गणनकालानुगत भूतविज्ञानकाण्ड की कुकाण्डता, एवं अनन्तोपासक मानव की तन्निग्रहेण लक्ष्यहीनता ... ,,

१०१–अनन्तकालाधार पर प्रतिष्ठित मूर्त्त-दिग्देशकाल की उपयोगिता का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही भारतीय विज्ञानकाण्डात्मक यज्ञकाण्ड की व्यवस्थिति ...

१०२–अनन्तब्रह्मानुगत भूतविज्ञान की इष्टसाधनता, सर्वकामपूरकता, एवं साम्प्रदायिक-मतवादपरम्पराओं से तीन सहस्र वर्षों से तद्विज्ञान की अन्तर्मुखता ... ४३६

१०३–विज्ञानाधारभूत-ज्ञानात्मक शेषभूत सांस्कृतिक-बीजों के अनुग्रह से, तथा ज्ञानप्रतिष्ठा से वञ्चित, अतएव क्षणिक भतविज्ञान की महती विभीषिका से भारतीय मानव का सम्भावित आत्मत्राण ... ,,

१०४–वर्त्तमान 'भूतविज्ञान' के सङ्गदोष से समुत्पन्ना भारतीय-वेदभक्तों की महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा भारतीय वैदिक-आर्षविज्ञान के मौलिक-स्वरूप की अन्तर्मुखता ... ४३७

१०५–विकारात्मक वर्त्तमान विज्ञान से असंस्पृष्ट ज्ञानानुगत भारतीय सृष्टिविज्ञान, तदाधारभूत-'नत्वहं तेषु, ते मयि' सूत्र का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही स्वनिष्ठात्मक स्वस्वरूप का संरक्षण ४३७

१०६–भारतीय आर्षविज्ञान का मूलाधारभूत अनन्त-अमूर्त्त–लक्षण अधामच्छद प्राणात्मक 'ऋषि' तत्त्व, तत्साक्षात्कर्त्ता भारतीय मानव की 'वैज्ञानिक-महर्षि' उपाधि का समन्वय, एवं तदुपाधि के सम्बन्ध में अभिनव-विद्वानों का भावुकतापूर्ण स्खलन ४३८

१०७–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मूलक–नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' लक्षण अनाद्यनन्त-दिग्देशकालातीत-ऋषिविज्ञानात्मक आर्षविज्ञान के साथ दिग्देशकालात्मक, सादिसान्त वर्त्तमान भूतविज्ञान का आत्यन्तिक असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ... ४३६

१०८–त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षता के निग्रह से अन्तम्मुख प्रमाणिता भारतीय-ज्ञानविज्ञाननिधि की परीक्षणात्मिका तात्कालिक अभिव्यक्ति की दुराशा, एवं तथाविध संकटकाल में एकमात्र अनन्यशरण विज्ञानमूलक भारतीय सांस्कृतिक–आचारों का अनुगमन, तथा तन्निष्ठारक्षणाय भूतविज्ञानविजृम्भण से निष्ठापूर्वक आत्मपरित्राण ... ... ,,

१०९–प्रकृतानुसरण,-दिक्-देश-काल-शब्दार्थों का बुद्धिगम्य, अतएव भावुकता-संरक्षक समन्वय, एवं तदर्थ उदाहरणविध्यात्मक आम्रवृक्ष का संस्मरण ... ,,

११०–सम्वत्सरकालचक्रानुबन्धिनी दिग्देशकालात्मिका ऋतुओं के द्वारा 'आम्रवृक्ष' में बाल–युवा-वृद्ध-अवस्थात्रयी का उपभोग ४४०

१११–सम्वत्सरकाल के आधार पर एक सम्वत्सरकाल की एक सम्वत्सरकाल में पूर्ण स्वरूपाभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला सम्वत्सरत्रयी, एवं सम्वत्सरकालत्रयीमूर्त्ति एक 'आम्रवृक्ष' ... ... ,,

११२–कालाधार पर काल की कालरूप में परिणति का समन्वय, एवं 'सर्वं कालात्मकमेव' ... ... ,,

११३–सत्तासिद्धकाल, एवं भातिसिद्धकाल, नाम की कालद्वयी का स्वरूप–दिग्दर्शन ... ४४१

११४–सार्थककाल, निरर्थककाल-शब्दों की लोकव्यावहारिकता का समन्वय ... ,,

११५–भातिसिद्धकाल की सार्थकता का मूलबीज 'सतासिद्ध' काल, सत्तात्मक मानवीय व्यक्तित्त्व, भात्यात्मक पश्वादि-प्राकृतिकरूप, अमृतानुगामी मानव, एवं मृत्युपथारूढ मानवेतर पश्वादि-प्राणी ४४२

११६–मुमुक्षानुगत-आत्मबुद्धिसम्मत-आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठ सत्तोपासक मानव, एवं सिसृक्षानुगत मनःशरीरभावुक-भात्यनुगत प्राणिजगत् ... ... ,,

११७–आत्मबुद्धिधर्म्मा अप्राकृत मानव के मनःशरीररूप की प्राकृतता, तद्रूपा इसकी भातिसिद्धता, तन्निबन्धन मानसिक काम, शारीरिक अर्थ-संसाधक यच्चयावत् लौकिक कर्म्मों का पशुकर्म्मों से समतुलन, तथा तन्निबन्धन मानव के काल की निरर्थकता ४४२

११८–लोकचतुर-दिग्देशकालात्मक युगधर्म्मवित्-बुद्धिमान् प्राकृत मानवों के मनःशरीरनिबन्धन तुष्टि--पुष्ट्यात्मक कर्म्मकौशलों का दुःखपूर्ण--जघन्यतम-मलीमस इतिहास ४४३

११९–मनोमूला तुष्टि, एवं शरीरमूला पुष्टि के लिए आतुर विज्ञानजगत् के द्वारा आविष्कृत सुख-सुविधा-जनक-कामार्थमय साधनों की कृपा से विकम्पिता आत्मशान्तिमूला, तथा बुद्धितृप्तिमूला मानवता ... ... ,,

१२०–मनःशरीरनिबन्धना भूतासक्ति के द्वारा आविष्कृत भौतिक-विज्ञानों के सम्बन्ध में लोकचतुरों के काल्पनिक सुझाव, तद्द्वारा इनकी निर्म्माणोपयोगिता–भ्रान्ति, एवं इत्थंभूत 'सुझाव' के सम्बन्ध में एक प्रश्न ४४४

१२१–कामभोगात्मिका लोकचातुरी से अनुप्राणित सुझावों की निःसारता, एवं आत्मनिष्ठावञ्चिता तथाविधा लोकचातुरी, तथा ज्ञानप्रतिष्ठा से एकान्तः वञ्चित कामभोगमूलक तथाविध भूतविज्ञान ... ...

१२२–आत्मनिष्ठानुगता लोकचातुरी से अनुप्राणिता विश्वशान्ति का प्रवर्त्तक सृष्टिविज्ञानात्मक भारतीय 'यज्ञविज्ञान', उसकी 'इष्टकामधुक्ता', एवं तथाभूत नित्यविज्ञान के आधारभूत कालातीततत्त्व से असंस्पृष्ट आज का लोकचतुर वैज्ञानिक मानव, अतएव तद्द्वारा आविष्कृत भूतविजृम्भणों की निर्म्माणात्मिका प्रवृत्तियों में आत्यन्तिक असमर्थता .... ,,

१२३–अभ्युपगमवादात्मिका मान्यता से मान्य लोकचातुर्य्य की भूतविज्ञानमूला उपयोगिता के सम्बन्ध में तदुपयोगिताओं से पशुसमतुलिता-मानवस्थिति के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, एवं तत्समाधान-प्रयास ४४५

१२४–सत्तासिद्धकालानुगत सार्थककाल की आचारात्मिका स्वरूप-परिभाषा, तदाधारभूत कालातीत 'स्व' लक्षण आत्मपुरुष से अनुगता **'स्वस्थता'**, एवं कालप्रकृत्यनुगता **'प्रकृतिस्थता'** का स्वरूप-समन्वय ४४६

१२५–भातिसिद्धकाल की स्वरूप-परिभाषा, तदनुबन्धी लोकप्रसिद्ध **'समय'** शब्द, एवं तदाधारभूत अग्नीषोमात्मक सत्तासिद्धकाल, तथा तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ ... ,,

१२६–सौरसम्वत्सरकालात्मक **सत्यभाव**, पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक **शिवभाव**, चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक **सुन्दरभाव**, एवं सत्यकालानुगत **कालाग्नि**, तथा **कालसोम** ४४७

१२७–दर्शनसम्मता तत्त्वमीमांसानुगता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, तदनुगत कालिक परिणामवाद, एवं परिणामवाद की महिमामय विवर्त्त के समतुलन में आत्यन्तिक शिथिलता ४४८

१२८–'आत्मानुशीलन' की स्वरूप-परिभाषा, एवं–'न त्वहं तेषु ते मयि' सिद्धान्त का रहस्यपूर्ण–समन्वय ४५०
१२९–अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति से ही महिमामय विश्व का वितान, एवं सुप्रसिद्धा व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा जन्म–स्थिति-भङ्ग-कारणभूत कालब्रह्म का स्वरूप-समन्वय ४५१
१३०–क्षरात्मक विश्व के आधारभूत 'भूतभृत्' अक्षरकाल के भी आधारभूत कूटस्थ द्वितीय 'भूतभृत्' का संस्मरण, एवं–'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यादि गीतासिद्धान्त का तात्त्विक–समन्वय ४५२
१३१–'मत्स्थानि सर्वभूतानि' लक्षणा कालाक्षरभाषा, तन्माध्यम से ही तद्भाषा का कालातीताव्ययभाषात्त्व, एवं 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' वचन का तात्त्विक–समन्वय ... . ,,
१३२–'भूतेश' कालातीत अव्ययपुरुष, 'भूतभावन' अव्यक्त कालात्मक अक्षर, तथा 'भूतयोनि' व्यक्तकालात्मक क्षर, एवं गीताश्लोकद्वयी से दार्शनिकों की आचारशून्या–सविशेष–भावनिबन्धना मान्यता का मूलोच्छेद ४५३
१३३–भूतों के गर्भ में भूतातीत के अन्वेषण लिए आतुर हमारे दार्शनिकबन्धु, एवं तदन्वेषण कर्म्म का अन्ततोगत्वा शून्यवाद पर विश्राम ... ... ,,
१३४–शून्यवादपरिणाममूला प्रज्ञास्तब्धता से अनुप्राणिता जड़ता का 'आत्मशान्ति' नामकरण ... ... ,,
१३५–मोहासक्त-आतुर-बालक की निराशापूर्णा स्तब्धता, एवं तत्समतुलिता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्य्य-वञ्चिता अभावात्मिका-शून्यं-शून्यं-लक्षणा अध्यासवादिता ... ४५४
१३६–सर्वशून्यतात्मक-जड़तालक्षण-कल्पित-'निर्वाणपद', तन्मूलक कल्पित 'मोक्ष', तदनुग्रह से राष्ट्रश्रीसमृद्धि की आत्यन्तिक अन्तम्मुखता, एवं तदनुगत शून्यवादात्मक पुरुषार्थ ? ,,
१३७–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्', एवं 'न त्वहं तेषु, ते मयि' वाक्यों का तात्त्विक समन्वय, तथा दार्शनिक की भूतानुगता आत्मस्वरूपान्वेषणप्रवृत्ति की अत्यन्तिक-निरर्थकता... ... ... ४५५
१३८–तथाविधा शून्यवादात्मिका दार्शनिकता के व्यामोहन से 'सन्तपरम्परा' की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा अभ्युदय–निःश्रेयस्-संसाधक–भारतीय आचारधर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तम्मुखता, और उसके भीषण परिणाम ... ...
१३९–गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की काल्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं काल्पनिक-काल के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न ४५६
१४०–काल्पनिक कालानुगत काल्पनिक दिक्-देश-भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न.... ,,
१४१–भातिसिद्ध-गणनकालात्मक-काल की स्वरूप–व्याख्या से पराङ्मुखा दार्शनिकप्रज्ञा.... ४५७
१४२–दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रसून ... . ,,

१४३–काल्पनिक-भातिसिद्ध **'दिग्देशकाल'** की सत्तासिद्धताका व्यामोहन, सत्तासिद्ध- **'कालदिग्देश'** की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूताश्चर्य्यमयी प्रज्ञा ४५९
१४४–'विकृति' (क्षर) की 'प्रकृतिवादिता', 'प्रकृति' (अक्षर) की पुरुषवादिता, एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन .... ,,
१४५–दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का काल्पनिक केन्द्र, आत्मानुगत काल्पनिक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता जीवभावानुगता प्राकृत-दृष्टि के अनुग्रह से ही **'नास्तिकदर्शन'** का आविर्भाव .... ,,
१४६–सत्तासिद्ध-आधिदैविक-आचारात्मक-अनन्तकाल के आश्रय से वञ्चित केवल अध्यात्म–अधिभूता–सक्त, भातिसिद्धकाल-व्यासक्त दार्शनिक की कालस्वरूपानभिज्ञता, एवं तदनुगता जड़भूत-परायणता ४६०
१४७–निर्विशेषानन्त्य-सविशेषानन्त्य-मूलक शान्तानन्द-समृद्धानन्द, तदनुगत शान्ति-सुख, एवं दताधारभूत अभ्युदय-निःश्रेयस-भावों का माङ्गलिक-संस्मरण ४६१
१४८–धर्म्ममूलक **'भूमासुख'** की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी दुःख .... ,,
१४९–अनुकूल-प्रतिकूल-वेदनात्मक सुख-दुःख-द्वन्द्व, सुख-दुःख-शब्दों का निर्वचन, एवं तदनुगत आद्यन्त का दुःखी प्राकृत मानव .... ,,
१५०–प्राकृतानन्त्यमूलक-धर्म्मलक्षणात्मक-**प्राकृतसनातनधर्म्म**, एवं तन्मूलक सनातन-प्राकृत-सुख ४६२
१५१–पुरुषार्थरूप-अप्राकृत **शाश्वतधर्म्म**, तन्मूला निर्विशेषानन्तता, एवं तद्द्वारा कल्पित-भ्रान्तियों का मूलोच्छेद .... ,,
१५२–अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य, तदनुगत प्राकृतधर्म्म, एवं तन्निबन्धन अभ्युदय-रूप प्राकृत सुख .... ,,
१५३–परमाक्षरमूर्त्ति-परमकालात्मक-अनन्तकाल, तदभिन्न अश्वत्थमूर्त्ति मायी महेश्वर, महिमामयी तदनुगता विभूति, एवं तत्प्रतिष्ठारूप महाकाल के महतोमहीयान् आनन्त्य का संस्मरण ४६३
१५४–असंख्य-अनन्त-अश्वत्थमहेश्वरों की महाकाल के समतुलन में एकांशरूपा–यत्किञ्चिदंशता, एवं-**'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायांश्च पूरुषः'** का समन्वय .... ,,
१५५–अणोरणीयान् कालकेन्द्र का, तथा महतोमहीयान् कालमहिमा का अभिन्नत्व, एवं एक मायावृत्तात्मक, एकांशरूप अश्वत्थकाल के द्वारा कालातीत के प्रथम-आनन्त्य की अभिव्यक्ति का समन्वय .... ,,
१५६–अनन्त-महाकाल के प्रथमावतार **'अनन्ताश्वत्थकाल'** के द्वितीय अवताररूप अनन्त परोरजाकाल का स्वरूप-समन्वय २६४

१५७–अव्यक्त स्वयम्भू, एवं व्यक्त स्वयम्भू, रूप से शाखेश्वर अव्यक्तकाल के दो महिमा-विवर्त्तोंका स्वरूप-समन्वय ४६५
१५८–द्विविध स्वयम्भू-विवर्त्तों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
१५९–अनन्त-महाकाल के तृतीयावतार अनन्त-पुण्डीरस्वयम्भूकाल का स्वरूप-समन्वय ४६६
१६०–अनन्त महाकाल के चतुर्थ अवतार अनन्त '**महदक्षरकाल**' का, एवं पञ्चम अवतार क्षराक्षरमूर्त्ति व्यक्त '**हिरण्यगर्भकाल**' का स्वरूप-समन्वय ४६७
१६१–अनन्तमहाकाल के षष्ठ अवतार '**इलान्दकाल**' का, एवं सप्तम अवतार '**नक्षत्रकाल**' का स्वरूप-समन्वय, तथा परिलेख-माध्यम से अनन्तकाल के सात कालावतारों का संकलन .... ,,
१६२–पूर्व-पूर्व-कालविवर्त्तों के सर्व-कृत्स्न-आनन्त्य के अभिव्यञ्जक उत्तर उत्तर-काल-विवर्त्त, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्व ४६८
१६३–सर्वबलविशिष्टरसैकघन–निर्विशेषानन्त्यरूप अनन्तब्रह्म का एकांशविवर्त्त रूप, सप्तकालविवर्त्त-जन्मदाता अनन्त-अमूर्त्त-महाकाल, उसकी '**बल**' रूपता, एवं प्रकृतिस्वरूप-समन्वय ४६९
१६४–रसानुबन्धिनी-प्राकृतिक-कालानन्तता-अमूर्त्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक-कालसादिसान्तता-मूर्त्तता का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
१६५–प्रतीकाधार की अमूर्त्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, एवं '**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च**' श्रुति का समन्वय ४७०
१६६–सप्तकाल–विवर्त्तानुगत-सर्वव्यापक अमूर्त्त, मूर्त्त-भाव, सविशेष कालविवर्त्तों की प्राकृतता, एवं-नात्र ऐकान्तिकामृतत्वस्य तु-आशास्ति .... ,,
१६७–कालात्मक-अक्षरप्रजापतिरूप प्राकृत-विवर्त्त के अमूर्त्त-मूर्तानुबन्धी-अर्द्ध-अर्द्धात्मक अमृत-मर्त्य–भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
१६८–'**प्र**' और '**कृति**', '**कृति**' की प्रागवस्था का 'प्रकृतित्त्व', एवं कृति की उत्तरावस्था का 'विकृतित्त्व', तथा प्रकृति का अमूर्त्तकालत्त्व, और विकृति का मूर्त्त-कालत्त्व ४७१
१६९–अश्वत्थकालात्मक-अमूर्त्तकाल के '**खस्वस्तिक**' रूप सुसूक्ष्म काल दिग्-देश-भाव, एवं अमूर्त्तकालात्मक अश्वत्थ परोरजा-स्वयम्भू-महदक्षर-रूपा अनन्तकालचतुष्टयी के सम्बन्ध में मूर्त्तभावापन्न दिग्देशकालभावों की प्रासङ्गिक-जिज्ञासा .... ,,
१७०–प्रकृतिनिबन्धन सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूलक प्रश्नसमाधान–समन्वय ४७२
१७१–बलचितिरूपा **संसृष्टि**, चयनानुगता '**इष्टकाचिति**', चित्यात्मक-रासायनिक सम्मिश्रणरूप-'**याग**', एवं तदाधारभूत केन्द्रबल का समन्वय .... ,,
१७२–संक्लेदनात्मक-संघर्ष का जन्मदाता पारमेष्ठ्य-महदक्षरकाल, तन्मूला संसृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्त्ती कालविवर्त्तों का संसृष्टिभावों से पार्थक्य ४७३

१७३–'महिमान आसन्' मूला बिभूतिसृष्टि, एवं 'रेतोधा आसन्' मूला चित्यासृष्टि, तथा तदनुबन्धी 'स्वाहा-स्वधा' शब्दों का तात्त्विक-समन्वय ४७३
१७४–कलनभावात्मक-कलात्मक-काल, तदनुबन्धी षोडशकल अश्वत्थपुरुष की कालरूपता, तद्विभूतिरूप सृष्टिविवर्त्त, एवं अनन्तकाल, तथा अव्ययाश्वत्थकाल की अभिन्नता ४७
१७५–'कलासृष्टि' का स्वरूप-परिचय, एवं-'कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' का समन्वय ....
१७६–गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रा-सर्ग, तदभिन्न 'प्राणसर्ग', एवं-'गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः' का समन्वय ४७५
१७७–'मूर्त्तिसृष्टि' की आधारभूता रेत–रेतोधा-योनि-त्रयी का दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी विकारसर्ग .... ,,
१७८–अनन्ताश्वत्थकाल के प्रमुख तीन महिमा–विवर्त्त, विवर्त्तत्रयानुगता भाव-गुण-विकार-सर्गत्रयी, एवं परस्तात्सर्ग, अवस्तात्-सर्ग-मूलक-' 'स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्' श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय ४७६
१७९–सगत्रयानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
१८०–सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा का समाधानबीज 'स्वस्तिकभाव', एवं सम्प्रश्न के तात्त्विक समाधान का परिलेखमाध्यमेन समन्वय ४७७
१८१–परस्तात्कालविवर्त्तों के बीजात्मक मूर्त्तभावों के सम्बन्ध में तत्राव्यभिव्यक्तिरूप एक नवीन सम्प्रश्न ४७९
१८२–कालतत्त्व के ऋजु, तथा वक्र-भावों के माध्यम से सम्प्रश्न का समाधान, 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय, एवं 'सीधी अङ्गुलियों से घी नहीं निकला करता' लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण–दिग्दर्शन .... ,,
१८३–दिग्देशकालात्मक मूर्त्तभावापन्न लक्ष्यों का पूरक कुटिलकाल, एवं ऋजुकाल से मूर्त्तकार्य्यसिद्धि की अन्तर्मुखता ४८०
१८४–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' लक्षण निष्ठासूत्र का आचारात्मक समन्वय .... ,,
१८५–'वृत्तौजा' लक्षण पञ्चविध अनन्तकालविवर्त्तों की ऋजुरूपता, तन्मूला 'अवक्रता', एवं तन्निबन्धन सहज-सञ्चरण रूप विभूतिभाव .... ,,
१८६–संघर्षशून्य-अवक्रचेता-वृत्तौजा कालविवर्त्त, तन्निबन्धना परिपूर्णता, एवं-'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि वचन का समन्वय ४८१
१८७–पारमेष्ठ्य कालानुबन्धी आपोमय नारदप्राण की सृष्टिकर्म्म से तटस्थता, एवं देवप्राणमूलक 'अमूर्त्तसर्ग' का समन्वय .... ,,

१८८–आंशिक वक्रतानुगत पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूलक सम्वत्सरकाल की छद्मगतिरूपा-सर्वत्सरलक्षणा कुटिलता–वक्रता, एवं तद्रूप दीर्घवृत्तात्मक आण्डकाल से मूर्त्तसर्ग–प्रवृत्ति ४८२

१८९–पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के अण्ड से विनिर्गत अग्निमूर्त्ति महासुपर्ण पक्षी, तत्सहचारी सोममूर्त्ति पक्षी, दोनों पक्षियों का समुद्र में सञ्चरण, एवं तदनुबन्धिनी ऋङ्मन्त्रद्वयी का संस्मरण .... ,,

१९०–त्रिगुणात्मक महदक्षरकाल, तन्निबन्धन-आकृति-प्रकृति अहङ्कृतिभाव, तन्मूला त्रिकेन्द्रता, तदनुगता विषमता, तन्मूलक संघर्ष, तज्जनिता चिति, एवं चितिमूलक मूर्त्तजगत् का आविर्भाव ४८३

१९१–सौरसम्वत्सरकाल की वक्रतात्मिका कुटिलता, कुटिलता से ही द्रोणकलशानुगत आज्यरूप सोम का द्रवण, तद्द्वारा प्रजास्वरूप-निर्म्माण, एवं 'वक्रता' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय .... ,,

१९२–षड्धर्म्मावच्छिन्ना कृतिमूला प्रकृति से अतीत त्रिगुणातीत वृत्तौजाकाल का कालिक सर्ग से असंस्पर्श, तत्साक्षी-मात्रत्व, एवं नवीन-सम्प्रश्न का सम्यक् समाधान ४८४

१९३–अनन्ताक्षरकाल के **अमूर्त्त-मूर्त्त-भूत**-नामक तीन महिमा–विवर्त्त, तदनुगत **काल-दिक्-देश**-विवर्त्त, एवं कालद्वयी, कालचतुष्टयी, कालत्रयी-रूपा नवकालात्मिका प्रकृति का काल-दिक्-देश-त्रयी में अन्तर्भाव ४८५

१९४–कालानुगता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तद्वञ्चित बुद्धिवादी ज्ञानमात्रमीमांसक तत्त्ववादी दार्शनिक की आचाशून्या तत्त्वमात्रविजृम्भणोपेता काल्पनिक-तुष्टि का नग्नचित्रण ४८८

१९५–श्रौतस्मार्त्त आधिदैविक आचारधर्म्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी-लोक-आत्म-विमुग्ध-केवल अध्यात्मकल्पनारत प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्यं-शून्यं लक्षण इतिवृत्त ... ... ,,

१९६–श्रद्धा-आस्था-परायण भारतीय सांस्कृतिक आर्षमानव की आचारधर्म्मनिष्ठा, एवं तदनुगता सम्प्रश्नात्मिका इसकी जिज्ञासा का समन्वय ४८९

१९७–श्रद्धालु की जिज्ञासा का आचारशून्य-तत्त्वमीमांसामात्रपरायण बुद्धिमान् मानव के द्वारा स्वरूप-विमोहन, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! .... ,,

१९८–आचारात्मक 'मानवधर्म्म' का शास्त्रीय-स्वरूप-समन्वय .... ,,

१९९–**शङ्कर-भास्कर-शक्ति**-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म्म ४९१

२००–देवत्रयी का मूलाधिष्ठानरूप **'महादेव'**, देववाण्यनुगत **'महादेव'**, उसके विस्मयजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण ... ,,

२०१–मूर्त्त-व्यक्त-प्रजा की शिव-शक्तिरूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन (महाभारते) ४६१
२०२–सोमगर्भित-कालाग्निरूप महाकालेश्वर महादेव के उपासक आचारधर्म्मसंस्थापक मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ४६२
२०३–नित्य-शान्त-अमूर्त्त-कालाग्निरूप-**अक्षोभ्यपुरुष**, एवं नित्य-अशान्त-मूर्त्त-कालाग्निरूप **क्षोभ्यपुरुष**, तथा '**विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः**' '**एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**' इत्यादि उपनिषद्वचनों का समन्वय ४६३
२०४–साम्बसदाशिव-पारमेष्ठ्य-आपोमय **शिवतत्त्व**, और उसकी आस्था-श्रद्धापरायणा आर्षप्रजा के द्वारा '**श्रावणे**' आचारात्मिका उपासना .... "
२०५–रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता-प्रचण्ड कालाग्निमूर्त्ति **भगवान् रुद्र**, तदनुगत-ब्रह्मवीर्य्यात्मक-'**सान्तपनभाव**', तत्प्रतीकतिथि 'कालरात्रि' रूपा **महाशिवरात्रि**, एवं आर्षप्रजा के द्वारा '**फाल्गुने**' आचारात्मिका तदुपासना .... "
२०६–ब्रह्माग्निरूप-अक्षोभ्यकालात्मक साम्बसदाशिव, एवं देवाग्निरूप क्षोभ्यकालात्मक घोररुद्र, तथा तदनुगत भूताग्नि का संस्मरण ४६४
२०७–पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक **निगमशास्त्र**, मातृकालात्मक पार्थिवकाल का निरूपक **आगमशास्त्र**, एवं निगमागममूलक **पराविद्या-महाविद्या**-विवर्त्त .... "
.... "
२०८–शिवतत्त्वस्वरूप-दिग्दर्शन, एवं शिवपरिवार ४६५
२०९–'**धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः**' का तात्त्विक समन्वय
२१०–प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, पौरुषानन्त्यात्मक निर्विशेषानन्त्य, एवं सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण .... "
२११–'**आदिसामा**'त्मक अनन्तकाल के समग्र स्वरूप का अभिव्यञ्जक '**निधनसामा**'त्मक सम्वत्सररूप वर्षकाल ४६६
२१२–सम्वत्सरकाल का 'प्रतिमान' रूप प्राकृत-मानव, एवं मानव के प्राकृत-आनन्त्य का दिग्दर्शन .... "
... "
२१३–अंशात्मक सविशेषानन्त्य से अंशीरूप सविशेषानन्त्य का समन्वय .. ४६७
२१४–सम्वत्सर, और प्राकृत मानव का समतुलन, एवं तदनुबन्धी श्रौत सन्दर्भ ... "
२१५–व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट सहज-मानव के द्वारा कालानन्त्य-दर्शन का उपक्रम ...
२१६–अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारेण कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानवकी-'**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते**' मूला सहज-आचारनिष्ठा ४६८
२१७–निःसीमभावापन्न-अत्यनपिनद्ध-निर्विशेषानन्त्यलक्षण-अनन्त ब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम ... ... "
२१८–कालातीत मानव के वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्तब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण ४६९

२१९–अनन्तकाल की 'प्रतीकता' के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में ··· आधिदैविक-विज्ञानात्मक **ब्राह्मणवेद**, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक **उपनिषद्वेद** ··· ४९९

२२०–अनन्तकालात्मक-प्रतीक के माध्यम से कालातीत अनन्तब्रह्म का सम्भावित-संस्मरण ··· ··· ··· ··· ५००

२२१–संदिग्धा सम्भावना, 'समग्र-स्वरूप' के 'समग्र' भाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ··· सन्दिहानवृत्ति की जागरूकता, एवं प्रकृति-विस्तारमात्रानुगता दिग्देशकालस्वरूप-मीमांसा ··· ··· ··· ··· ··· ५०१

२२२–**कृत्स्न, और सर्व** शब्दों का पारिभाषिक तत्त्वार्थ–समन्वय, तदनुबन्धिनी **पूर्णता**, और **परिपूर्णता** के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूपान्वेषण ···

२२३–अनन्तकालात्मिका क्षराक्षरप्रकृति की पूर्णतारूपा 'कृत्स्नता', तदनुगता सम्वत्सर-कालात्मिका अंशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं सम्वत्सरकाल ··· की असमग्रा-अनन्तता का दिग्दर्शन ··· ··· ··· ५०२

२२४–सम्पूर्ण सम्वत्सरकालों के अधिष्ठानात्मक अनन्तकाल की सम्वत्सरकालापेक्षया ··· समग्रतारूपा अनन्तता, किन्तु कालातीत अनन्तब्रह्मापेक्षया तदेकांशता, तन्नि-बन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं अनन्तकाल की असमग्रा–अनन्तता का ··· दिग्दर्शन ··· ··· ··· ··· ··· ,,

२२५–अनन्तब्रह्म की दृष्टान्तविधिरूपा प्रतीकविधि से बहिष्कृत अनन्तकाल, अनन्त-कालानुबन्धी सम्पूर्ण प्रयासों की तदानन्त्य के सम्बन्ध में आत्यन्तिक व्यर्थता, ··· एवं तत्सम्बन्ध में उद्बोधनात्मक श्रौत सन्दर्भ ··· ··· ··· ,,

२२६–परमाकाशात्मक-अनन्त-स्वायम्भुवकाल के लिए भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म, एवं-··· **'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद'** का तात्त्विक-समन्वय ··· ··· ··· ··· ··· ५०४

२२७–अनन्तब्रह्म की प्रतीकता के समन्वय के लिए कालातीत **ऋषिमानव** के प्रति ··· प्राकृत मानव का आत्मसमर्पण, एवं तद्वञ्चित-परदर्शनव्यासक्त-कालासक्त-भावुक-··· मानव की दिग्देशकालनिबन्धना भ्रान्ति-परम्पराएँ ···· ··· ५०५

२२८–सम्पूर्ण उत्पातों का जनक, भावुकतापूर्ण **'अनन्त'** शब्द, एवं निषेधभावसम-न्वित सापेक्ष अनन्त शब्द की शिथिलता ··· ··· ··· ,,

२२९–**अनन्त–अक्षर–परम–प्रजापति–चेतना–ज्ञान–आत्मा**-आदि-आदि सापेक्ष-··· शब्दों की भ्रामकता, तदाधारेण समन्वय-प्रयास-भ्रान्ति, एवं सापेक्ष-शब्दमात्र से ··· अतीत **'तत्तत्त्व'** ··· ··· ··· ··· ५०६

२३०–कालानन्तता की बलनिबन्धना सादिसान्तता, प्राकृतधर्म्मात्मिका **बलवत्ता**, ··· अप्राकृतभावात्मिका **रसवत्ता**, एवं रसात्मक **अनन्तब्रह्म**, तथा बलात्मक ··· **अनन्तकाल** का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध ··· ··· ··· ,,

२३१--सर्वात्मक-समग्रभाव से वञ्चित कालात्मक पदार्थ, एवं दृष्टान्तविधि के सम्बन्ध में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता ५०७
२३२--प्राकृत-मानव की प्रतीकता के सम्बन्ध में ऊहापोह ... ... ,,
२३३--प्राकृत-मानव के साम्वत्सरिक-तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय ... ... ,,
२३४--प्राकृत विश्व, और प्राकृत मानव, प्राकृत मानव का जीवत्त्व, एवं अप्राकृत मानव का आत्मत्त्व, तथा जीवसीमागर्भित प्राकृत-विश्व ५०८
२३५--आत्मभाव से असंस्पृष्ट प्राकृत जीव, जीव के अविनश्वर-विनश्वर-विवर्त्त, तथा दोनों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ,,
२३६--जीव से जीव का विनिर्गमन, एवं अविनश्वर जीवसर्ग, शरीर से शरीर का विनिर्गमन, एवं नश्वर जीवसर्ग, तथा-'जीव में शरीर', और-'शरीर में जीव', लक्षण पार्थक्य-का समन्वय ५०९
२३७--अक्षरानुबन्धी-प्राकृत-मानवजीव, क्षरानुबन्धी प्राकृत इतर जन्तु, एवं प्राणी-जगत् का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ,,
२३८--प्राकृत-मानवीय अविनश्वर जीवों, तथा वैकारिक-पश्वादि-विनश्वर जन्तुओं के प्राकृत-स्वरूपों में महान् अन्तर ५१०
२३९--चान्द्रसम्वत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिजगत्, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक क्षरात्मक प्राकृतिक-जन्तु, और पराप्रकृतिमूलक अक्षरात्मक मानवजीव ... ... ,,
२४०--प्राकृत मानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सरप्रतीकात्मक केवल प्राकृत जन्तु ५११
२४१--मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता-अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक-प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण ... ... ,,
२४२--अप्राकृत-ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा, प्राकृत मानव की प्राकृत-बुद्धि की कुण्ठितता-विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण ५१२
२४३--अप्राकृत-मानव की 'ऋषिमानवता' का दिग्दर्शन ५१३
२४४--समदर्शनानुगत--विषमवर्त्तनात्मक-शास्त्रीय-आचारों में एकान्तनिष्ठ मानव, और उस की 'ऋषिमानवता' ५१४
२४५--लोक-वित्त-पुत्र-एषणात्रयी से असंस्पृष्ट, एवं लोक-वित्त-पुत्र-कामनाओं से संस्पृष्ट मानव की 'ऋषिमानवता' ... ... ,,
२४६--परदर्शनमूला लोकभावुकता से असंस्पृष्ट, इष्टदेवानुगता भावुकता से नित्य संस्पृष्ट, आस्थाश्रद्धापरायण ऋजुकर्म्मनिष्ठ मानव की 'ऋषिमानवता' ... ... ,,

२४७–कृत्रिम–विनय, सौजन्य, सौम्या प्रकृति, मन्द–मधुर-स्मित-वाणी-लोकपरिग्रहप्रदर्शन-···
आदि प्रदर्शनों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, दीनता-हीनता-आदि प्रदर्शनों से पराङ्मुख,···
सहजस्थिति से समन्वित–उत्तरदायित्वपूर्णा निष्ठा से समलङ्कृत मानव की ···
'ऋषिमानवता' ··· ··· ··· ··· ५१४
२४८–प्राकृतिक यच्चयावत् द्वन्द्वों से असंस्पृष्ट, अतएव निर्द्वन्द्वरूपेण कर्त्तव्यनिष्ठा-- ···
परायण मानव की **'ऋषिमानवता'** ··· ··· ··· ५१५
२४९–**'योऽस्मि सोऽस्मि'** रूपेण तूष्णीं ईशप्रेरणया कर्त्तव्यनिष्ठ, फलाफलासंस्पृष्ट, ···
जरामर्य्यसत्रानुगामी मानव की **'ऋषिमानवता'** ··· ··· ,,
२५०–योगजदृष्टिपरायण, महर्षि दीर्घतमा के **'विद्वने, न विद्वान्'** घोष के अनुगामी, ···
आत्मनिष्ठ, सर्वनिष्ठ मानव की **'ऋषिमानवता'**, एवं–तद्घोष का तात्त्विक– ···
समन्वय ··· ··· ··· ··· ··· ,,
२५१–तथाविध ऋषिमानव की कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, ···
एवं–**'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि'-'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'** का रहस्यात्मक-···
समन्वय ··· ··· ··· ··· ··· ५१६
२५२–सत्यकाम जाबालि के गोचारण–दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, तदनु- ···
ग्रह से कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा--वञ्चित सन्तवाद का आविर्भाव ··· ··· ५१७
२५३–आचारनिष्ठा का **प्रथमस्खलन** दर्शनजगत् में, तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादानुगत··
द्वितीयस्खल , तद्द्वारा प्रसूत सन्तवादानुगत **तृतीयस्खलन**, एवं सन्तमतात्मिका···
साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक अन्तर्मुखता ··· ··· ,,
२५४–नैष्ठिक के **'सत्तासिद्ध भगवान्'**, भावुक के **'भाव के भूखे भगवान्'**, ब्रह्म की···
सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी माता भागीरथी के स्थान में 'खटोटी की काल्पनिक गङ्गा' का···
प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, तात्त्विक उपासनकाण्ड, आदि के ···
स्थान में काल्पनिक ज्योतिरुपासनाओं का आविर्भाव ··· ··· ,,
२५५–आचारस्खलित भारतराष्ट्र का--काल्पनिक दार्शनिकता, नास्तिकता, सन्तमतवाद, ···
गुरुदम्भपरम्परा, आदि आदि भावुकताओं से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का ···
प्राकृतिक चमत्कारव्यामोहन ··· ··· ··· ··· ५१८
२५६–आचारधर्म्मात्मिका शास्त्रीय–धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार- ···
धर्म्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्मृति से भारतराष्ट्र की श्रीसमृद्धि का प्रजा- ···
तन्त्रीय–गणतन्त्रकाल में सर्वथैव पलायन ··· ··· ··· ,,
२५७–शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की कालातीत ब्रह्म के सम्बन्ध ···
में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थिति का समन्वय ··· ··· ५१९
२५८–तद्धारणा के माध्यम से ही दार्शनिक मस्तिष्क से जगन्मिथ्यात्त्व-कल्पना की प्रसूति,···
तदनुग्रहेणैव कर्म्मत्यागात्मक कल्पित त्याग–संन्यास–भावों का काल्पनिक– ···
आविर्भाव ··· ··· ··· ··· ··· ,,

२५९–कर्म्मत्यागात्मिका–अध्यासमूलिका–कल्पित–वेदान्तभावुकता के व्यामोहन का समस्त इतिवृत्त, एवं–'**मनुष्या एवैके–अतिक्रामन्ति**' श्रुति का संस्मरण ५२०
२६०–'**तत्स्वयं योगसंसिद्धः**' मूलक 'योग' शब्द के स्वरूप–समन्वय के सम्बन्ध में पारिभाषिक–दिग्दर्शन, एवं–'**योगः कर्म्मसु कौशलम्**' का तात्त्विक स्वरूप समन्वय ... ... ,,
२६१–धारणा–ध्यान–समाधि–लक्षण, भावुकतासंरक्षकमात्र अभिनव–'**योग**' से असंस्पृष्ट बुद्धियोगात्मक गीता का 'योग', एवं स्वधर्म्म–कर्म्मनिष्ठात्मक–आचारयोग की योगात्मकता, और–'**योगी भवार्जुन !**' का समन्वय ५२१
२६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध आधिदैविक–सृष्टिसर्गबोध से अपरिचित रह जाने के दुष्परिणाम, एवं सर्गस्वरूपवञ्चिता काल्पनिक–आध्यात्मिकता के व्यामोहन से व्यामुग्ध, विविध मतवादासक्त–दिग्देशकालभ्रान्त राष्ट्रीय–जनमानस ... ... ,,
२६३–आधिदैविक भावानुगत **सर्ग** की प्राकृतता, एवं **प्रतिसर्ग** की अप्राकृतता, तदाधारभूत शाश्वतब्रह्म-लक्षण मनु, तथा प्रलयावस्था में भी मनु की शाश्वतता का समन्वय ५२२
२६४–शाश्वतमनु, एवं उनका शाश्वत मन्वन्तरकाल, तथा मनुपत्नी '**मनावी**' का स्वरूप–दिग्दर्शन ५२३
२६५–रुक्माभ–स्वप्नधीगम्य–अणोरणीयान् **मनु**, तदभिन्ना श्रद्धात्मिका '**इड़ा**', एवं–'**श्रद्धा विश्वमिदं जगत्**' का संस्मरण ... ... ,,
२६६–परपुरुषात्मक मनु, तदभिन्ना अक्षरप्रकृति, एवं मनु के तात्त्विक स्वरूप-के सम्बन्ध में राजर्षि–मनु ... ... ,,
२६७–कालातीत–अप्राकृत–मनु का विश्वकर्म्मात्मक–योगात्मक–कौशल, एवं '**कुर्वन्नपि न लिप्यते**' का समन्वय ५२४
२६८–सृष्टि में प्रविष्ट मनुब्रह्म की शाश्वत–अभ्युदय निःश्रेयसता, एवं '**योगसंसिद्धः**' का तात्त्विक–समन्वय ... ... ,,
२६९–प्राकृतिक त्रैगुण्य से असंपृष्टा प्रकृति की उपादेयता, एवं '**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**' ! का समन्वय ५२५
२७०–प्रतीकविधि से असंपृष्टा '**प्रतिरूपविधि**', तन्माध्यम से अनन्त-मानव की अनन्त-ब्रह्मानुगता दृष्टान्तलक्षणा-प्रतिरूपता का दिग्दर्शन ... ... ,,
२७१–अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक-दृष्टान्तात्मक-अप्राकृत ऋषिमानव के अन्वेषण, उपलब्धि की दुरधिगम्यता ५२६
२७२–कालात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मनः-शरीर–बुद्धि-लक्षण प्राकृतभावों का अन्वेषण सम्भावित, एवं कालातीत–पुरुषविध-आत्मरूप-ऋषिमानव का अन्वेषण असम्भव, तथा प्राकृत मानव के सुख–स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन ... ,,

२७३–सर्वदिक्नः असहाय विवश मानव का अशरणशरण एकमात्र धर्म्म, एवं तत्त्वरूप–जिज्ञासा ५२६
२७४–प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका भावुकतापूर्ण अनुभूतियाँ, तन्मूला गुरु-परम्परा, एवं गुरुओं की अनुभूति से भावुक-शिष्यों का बुद्धिविमोहन ... ५२७
२७५–अनुभूतियों के परमाचार्य्य ? गुरुवरों ? के अकाण्डताण्डव, एवं तन्निग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिभव ... ... ,,
२७६–मानवका अनन्य सहायक '**मानवधर्म्म**', तत्प्रतिपादिका शास्त्रत्रयी, तन्मूलक ऋषिमानवदृष्ट **धर्म्म**, तन्निबन्धन प्राणात्मक **ऋषितत्त्व**, एवं तदुपबृंहित आर्षधर्म्मात्मक-**शाश्वतधर्म्म** ५२८
२७७–शब्दशास्त्र की प्रतिरूपता के माध्यम से ही अप्राकृत ऋषिमानव की उपलब्धि ...
२७८–अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् वासुदेव के अप्राकृत कालातीत स्वरूप के तद्युग में एकमात्र ज्ञाता वस्वग्नि के अवतार महात्मा भीष्म ... ... ,,
२७९–भगवान् के महाकालात्मक अनन्त–विराट्स्वरूप के दर्शनमात्र से विकम्पित तत्सखा भावुक अर्जुन ... ... ,,
२८०–गुरुभक्त भावुक भक्तों के द्वारा अन्तर्य्यामी ? के दर्शन ?, तदतिमान से तद्द्वारा शास्त्रीय-धर्म्माचारों की आत्यन्तिक–उपेक्षा, एवं तथाविध मलीमस-व्यामोहन के प्रति उद्बोधनप्रदानता-श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप, आचारधर्म्मशिक्षात्मक **गीता-शास्त्र** ५२९
२८१–मानव की प्राकृत कालिक बुद्धि के लिए अदृष्ट ऋषिमानव, एवं अदृष्ट सुसूक्ष्म धर्म्म, तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-श्रुतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामाणिकता
२८२–शब्दात्मिका श्रुति–स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत ऋषिमानव के प्रति '**प्रतिरूपशिल्पता**', तदनुगता कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारधर्म्मानुगता योगनिष्ठा, एवं '**योगसंन्यस्तकर्म्माणम्**' इत्यादि शास्त्रीय–सिद्धान्त का समन्वय ... ५३० ,,
२८३–स्वनिष्ठात्मिका '**धर्म्मनिष्ठा**' का संस्मरण, तन्मूलक स्वस्वरूपबोध, एवं अपौरुषेय-तत्त्ववेद के आधार पर आचारधर्म्म की व्यवस्थिति ५३१
२८४–मानवऋषि की 'अनुभूति' से असंस्पृष्टा, तद्दृष्टिमात्रानुगता शब्दशास्त्रनिष्ठा, एवं 'स्वानुभूति' के सम्बन्ध में ऋषिमानव के आर्ष-उद्गार, तथा-'**शास्त्रयोनित्त्वात्**' सूत्र का संस्मरण ५३२
२८५–ऋषिदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित-'**आचारण**' के 'माध्यम' की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानभूमि शास्त्रीय–आचारनिष्ठ-'**आचार्य्य**' .. ... ,,
२८६–'**आचार्य्य**', और '**अन्तेवासी**' शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं '**आचार्य्याद्धयेव, विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति**' इत्यादि श्रुति का संस्मरण ... ,,

२८७–शास्त्ररहस्यज्ञाता 'आचार्य्य,' आचारप्रतिपादक 'शब्दशास्त्र', तद्द्रष्टा, 'ऋषि,' तत्स्मर्त्ता 'मुनि', तत्संस्थापक 'अवतारपुरुष' आदि मानवभूतियों का 'अप्राकृत ऋषिमानव' कोटि में अन्तर्भाव ५३
२८८–सहज मानवश्रेष्ठ के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप-परिचय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा ५३४
२८९–प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक-अभाव, तथा-'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः' ... ,,
२९०–'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ का समन्वय, एवं-'प्रतीकमध्येधे अग्निः' इत्यादि मन्त्र का का संस्मरण ... ... ,,
२९१–प्रतीकसापेक्ष अङ्गाङ्गीभाव, एवं पार्थिव गायत्रिग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्–दर्शन ५३५
२९२–पार्थिव सर्गाधारभूत सौर-पारमेष्ठयादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक-क्षरानुगता केवल पार्थिवजगत् की ही प्रतीकता ... ... ,,
२९३–अक्षरात्मक केन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौरमण्डल, एवं तदभिन्न सौरमानव ... ,,
२९४–सौररश्मिमण्डल की अच्छिद्रपवित्रता, तदनुगत मन्वन्तरभाव, एवं सूर्य्यादि–अनन्तकालान्त–विवर्त्तों में 'प्रतीक' भाव का असंस्पर्श ५३६
२९५–नानाभावात्मक अङ्गभावों से अभिन्न–'अङ्गी' ... ... ,,
२९६–अङ्गाङ्गीभावात्मक–प्रतीकात्मक–अङ्गभावों से व्यामुग्ध,--आचारनिष्ठाशून्य-तत्त्वादी दार्शनिकों का वाग्विजृम्भण ... ... ,,
२९७–अङ्गाङ्गीभावनिबन्धना प्रतीकता के व्यामोहन से आस्तिक-नास्तिक दर्शनों में निरर्थक वाक्कलह, एवं कार्य्यकारणात्मक प्रतीकभावों से असंस्पृष्ट महिमात्मक विवर्त्त के द्वारा कलह की उपशान्ति का प्रयास ... ... ,,
२९८–क्षरात्मक-भौतिक-शरीरमात्रानुगत प्रतीकलक्षण अङ्गाङ्गीभाव, एवं तत्सम्बन्ध में–'अङ्गादङ्गात्सम्भवति' इत्यादि श्रौतसन्दर्भ का संस्मरण ५३७
२९९–पूर्वाङ्ग का अङ्गित्त्व, उत्तराङ्ग का अङ्गत्त्व, एवं अङ्गात्मक 'प्रतीक' में ही अङ्गी-अङ्ग-भावों का अन्तर्भाव, तथा 'प्रतीक' शब्देतिहास का संस्मरण ... ५३८
३००–क्षरभावनिबन्धना सगुणोपासना से अनुप्राणित 'प्रतीक' भाव की अनन्तब्रह्म-धरातलापेक्षया आत्यन्तिक निरपेक्षता ... ... ,,
३०१–सर्वश्री शङ्कराचार्य्य महाभाग का अध्यासवादात्मक,-अतएव आधिदैविक-आचार से असंस्पृष्ट अद्वैतवाद, एवं तत्प्रतीकनिग्रहेण राष्ट्रीय आचारनिष्ठा का शैथिल्य, इति-नु महद्दुःखास्पदमेव ... ... ,,
३०२–प्रतीकसमन्वयासक्ति के व्यामोहन से अनुप्राणित मानव के 'पुरुष–मानव–मनुष्य–नर' नामक चार श्रेणि–विभाग ५३९

३०३–अनन्तकालात्मक 'प्रतीक–व्यामोहन', एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती धृष्टता ... ५३९

३०४–अनन्तकालानुगता–'सत्'–शिव–सुन्दरम्' लक्षणा साम्वत्सरिक–प्रतीकत्रयी का संस्मरण ... ... ,,

३०५–निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्वत्सरकाल, प्रत्प्रतीक चान्द्रसम्वत्सरकाल, एवं–प्रतीकगणनात्मिका अङ्गादङ्गात्–रूपा सन्तानपरम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आत्यन्तिक विमोहन ५४०

३०६–सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या के **महिमाविद्या, कालविद्या**, नामक दो विवर्त्त, एवं तन्मूलक **महिमासर्ग**, तथा **रेतोधासर्ग** का तात्विक-स्वरूप-समन्वय ... ५४१

३०७–भावसर्गात्मक ऋषिसर्ग की मनुःसर्गता का दिग्दर्शन ... ... ,,

३०८–चिदात्मसर्ग, चित्सर्गात्मक–पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन ५४२

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप-परिचय ... ... ,,

३१०–वर्णसर्गचतुष्टयी के **ब्रह्मौदनवर्णसर्ग, प्रवर्ग्यवर्णसर्ग**-लक्षण दो प्रधान विवर्त्त ... ५४३

३११–अवर्णब्राह्मणात्मक अप्राकृत ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्णब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संरक्षण ... ,,

३१२–वर्णानुबन्धिनी त्रैवर्णिक प्रजा से अनुप्राणित **मानव–मनुष्य–नर**–भावों का समन्वय ५४४

३१३–प्रकृतिसिद्ध, वर्णधर्म्मात्मक-**'स्वधर्म्म'** से अनुप्राणिता वर्णचतुष्टयी, एवं-**'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्'** का संस्मरण ... ... ,,

३१४–'स्वधर्म्म' से अनुप्राणित चतुर्विध पुरुषार्थों का नाम संस्मरण ५४५

३१५–आत्मपर्वानुगत **मोक्षभाव**, बुद्धिपर्वानुगत **धर्म्मभाव**, मनःपर्वानुगत **कामभाव**, शरीरपर्वानुगत **अर्थभाव**, एवं चतुष्पर्वानुगत पुरुष-मानव-मनुष्य-नर-भावों का चतुर्विध स्वधर्म्मों से क्रमिक सम्बन्ध ... ...

३१६–पुरुषात्मानुगत **अनुशीलनधर्म्म**, मानवबुद्ध्यनुगत **आचरणधर्म्म**, मनुष्य-मनोऽनुगत **अनुसरणधर्म्म**, नरशरीरानुगत **अनुकरणधर्म्म**, एवं स्वधर्म्म के महिमाभाव ५४६

३१७–शरीरप्रधान नरों का **प्रजात्त्व**, तदनुगत अनुकरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित **'प्रजातन्त्र'** ... ... ,,

३१८–मनःप्रधान मनुष्यों का **गणत्त्व**, तदनुगत अनुसरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित **'गणतन्त्र'** ... ... ,,

३१९–बुद्धिप्रधान मानवों का **राजन्यत्त्व**, तदनुगत आचरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित **'राजतन्त्र'** ५४७

३२०–आत्मप्रधान पुरुषों का **नीतिकुशलत्त्व**, तदनुगत अनुशीलनधर्म्म, एवं तदनुप्राणित–**'नीतितन्त्र'**, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म्मचतुष्टयी का समन्वय-प्रयास ... ... ,,

३२१–पौरुष, तथा भाग्य के अनुबन्ध से सर्गचतुष्टयी का स्वरूपोपक्रम, एवं 'पौरुष' की स्वरूप–परिभाषा ५४९

३२२–दिग्देशकालानुप्राणिता भूताभिव्यक्ति, एवं भाग्यवादी, तथा पुरुषार्थनिष्ठ–मानवों में प्राकृतिक विभेद ... ... ,,

३२३–पुरुषार्थक्षेत्रानुगता दिगदेशकालमर्य्यादा का समर्थन ... ... ,,

३२४–पौरुषशाली महामानवों की सत्यसंकल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृतकाल-मर्य्यादानुगता उन की दिग्देशकालानुगति का समन्वय ५५०

३२५–अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित चमत्कार–व्यामोहनासक्त आज के सन्त–सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार-निष्ठा के प्रति अवहेलना ... ... ,,

३२६–भगवान् की सर्वकरणीयता से अनुप्राणित लोकसूत्र, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित भक्त–सन्तों का सिद्धि–चमत्कारात्मक महान् विमोहन ... ... ,,

३२७–देवविद्यात्मिका 'चान्द्रीविद्या' क सम्भावित प्रदर्शन, एवं तद्द्वारा सिद्धिभक्त भावुक मानवों के आचारात्मक सहज–नैष्ठिक स्वरूप का विमोहन ... ५५१

३२८–देवर्षिभावानुगता नैष्ठिकी–आचारात्मिका देवसिद्धियों की भावुकतापूर्णा–भूत-सिद्धियों से असंस्पृष्टता, एवं भूतसिद्धि के महान् पण्डित एतद्देशीय सर्पविमोहनादि कुशल अगणित यायावर–लोकमानव ... ... ,,

३२९–देवविद्यानुगता अलौकिक–सिद्धियों में निष्णात सन्तों के प्रति आस्था–समर्पण, किन्तु तथाविध सिद्ध–सन्त–महापुरुषों की प्रदर्शनों से आत्यन्तिक–तटस्थता ... ५५२

३३०–दिग्देशकालव्यामोहक–भौतिक–चमत्कारों से तात्कालिकरूपेण तुष्टा-पुष्टा-लोकप्रजा का परिणामतः मानवीय निष्ठादृष्टि से आत्यन्तिक–विनाश ... ... ,,

३३१–आचारात्मिका–शास्त्रीया कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देवविद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र वर्ष पूर्व के भारत में देवसिद्धियों का सगुण-प्रतिमारूप भी भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म्म का ही समर्थन,–पालन ... ५५३

३३२–सर्वविध–सिद्धि–चमत्कार–प्रदर्शनों के पारम्परिक व्यामोहनों से ही भारतराष्ट्र की आचारनिष्ठात्मिका श्री–समृद्धि की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता ५५४

३३३–राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षित शास्त्र, तत्कर्त्तव्य, तन्निष्ठ विद्वान्, तद्रक्षक क्षत्रिय, तदनुवर्त्मा श्रद्धाशील जनतन्त्र, आदि आदि की विद्यमानता में भी त्रिसहस्त्रवर्षात्मिका कालावधि में राष्ट्रस्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव, एवं समस्यात्मक एक महान् प्रश्न ? ... ... ,,

३३४–परदर्शनमूला भयावहा भावुकतारूपा एक ही 'भूल' के माध्यम से समस्यात्मक प्रश्न का समाधान ५५५

३३५–दिग्देशकालचक्र से ऊर्ध्व स्थित भी अलौकिक–कालातीत–पुरुषार्थनिष्ठ–मानव के द्वारा कालातीत के महिमामय प्राकृत काल का सम्मान, एवं तदपेक्षित कर्म्मभोग का समादर ५५५

३३६–आत्मनिष्ठ पुरुष–मानव, और उस का कर्म्मबन्धन-पार्थक्य ... ... ,,

३३७–आत्मकाम–आत्मरति–लोकातीत मानव की कर्म्मासंस्पृष्टता, एवं–'**तस्य कार्य्यं न विद्यते**' का समन्वय ५५६

३३८–आत्मतृप्त–एकान्तनिष्ठ–अलौकिक मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति ... ,,

३३९–'**तस्य कार्य्यं न विद्यते**' का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरक्षीरविवेक ... ५५७

३४०–आचारनिष्ठ भगवान् का सारथित्व, कर्त्तव्योपरत भावुक अर्जुन की भगवान् के द्वारा कर्त्तव्यप्रवृत्ति, एवं आचारात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अत्याज्या स्वधर्म्मनिष्ठा ५५८

३४१–भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा आचारात्मक स्वधर्म्म के परिपालन का दृढतम आदेश, एवं–'**असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः**' का संस्मरण ... ,,

३४२-भगवान् के द्वारा समस्या–निराकरणात्मक सफल–समाधान, एवं–'**कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**' का संस्मरण ५५९

३४३–राजर्षि विदेह जनक की दिग्देशकालात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा, एवं-'**लोकसंग्रह-मेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि**' का संस्मरण ... ... ,,

३४४–महती विभीषिका-रूपा भावुकता का मूलाधार '**प्रत्यक्षजगत्**', तन्निग्रहेण परिणाम-दर्शित्व का आत्यन्तिक अभाव, एवं अतीत का द्रोही केवल वर्त्तमानवादी प्राकृत-भावुक मानव ५६०

३४५–स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के भावुक नेताओं के द्वारा अतीत का प्रचण्ड विरोध, 'वर्त्तमान' व्यामोहन से स्वराष्ट्रनिष्ठा–विरोधी प्रतीच्यराष्ट्रों का अन्धानुकरण, एवं भारत के सांस्कृतिक–वैभव की अन्तर्म्मुखता ... ... ,,

३४६–वर्त्तमान कालवादी प्रत्यक्षासक्त भावुक–अर्जुन की विदेहजनकात्मक अतीत के उदाहरण के प्रति परिलक्षिता असन्तुष्टि ५६१

३४७–स्वानुगत प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन का आचारनिष्ठात्मक समाधान ... ... ,,

३४८–प्रत्यक्षवादी धर्म्मभीरु अर्जुन के करुणा-अहिंसा-मानवता-त्याग–तपस्यादि–मूलक भावुकतापूर्ण उद्गार, एवं-'नितान्त अवधेय-'**संकरस्य च कर्त्ता स्याम्-उपन्यामिमाः प्रजाः**'-उद्गार ५६२

३४९–प्रत्यक्षमूलक-तात्कालिक-भावों से आविष्ट अर्जुन का धारावाहिक-व्याख्यान, तथा चाकचिक्यपूर्ण लोकप्रिय-प्रज्ञाकौशल ५६३

३५०--अर्जुन की महत्वपूर्णा वक्तृता का मानवताप्रेमियों के द्वारा अभिनन्दन, तत्समतु--लिता आज के राष्ट्रीय नेताओं की कर्णप्रिया व्याख्यानशैली, एवं तदनुग्रह से ही तीन सहस्रवर्षों से क्रूर आततायीवर्गों के प्रति राष्ट्र का आत्मसमर्पण ५६४
३५१--अर्जुन से समतुलिता भावुकता की कृपा ! से ही भारतराष्ट्र के श्री-वैभवका आतता-यीवर्ग के द्वारा निर्म्मम-अपहरण और हमारी कायरतापूर्णा अहिंसासक्ति ... ५६५
३५२--मातृशक्ति पर अभियोग लगाने वाले निर्लज्ज अर्जुन के प्रति हो पड़ने वाली भग-वान् की आश्चर्य्यमयी उपेक्षा ... . ,,
३५३--सर्वनाशपरम्पराओं की जन्मदात्री भावुकतापूर्णा स्वधर्म्मविच्युति, एवं स्वधर्म्मात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण ५६६
३५४--हिंसा-अहिंसा, दण्ड-क्षमा, ध्वंस-निर्म्माण, आदि प्राकृतिक द्वन्द्वों से समन्विता दिग्-देशकालात्मिका प्रकृति, एवं तन्माध्यमानुपात से ही प्राकृतभावों की प्रकृतिसिद्धा व्यवस्थिति ... . ,,
३५५--पूर्वापरात्मक-भूत-भविष्यत्-की परिणामदर्शिता के माध्यम से ही वर्त्तमानस्थिति का न्यायविधान के द्वारा सम्भावित निर्णय, एवं तन्माध्यमेनैव प्राकृत वर्त्तमानवादी मानव की भी शास्त्रैकशरणता ... . ,,
३५६--प्रचण्ड--दुर्दान्त तस्कर--आक्रान्ता की मानवस्वभावसुलभा पुण्यवासना, एवं मानव का अन्ततोगत्वा मनुनिबन्धन आत्मनिष्ठ मानवस्वरूप पर विश्राम ... ५६७
३५७--झञ्झा--ताल--मृदङ्गादि से समन्वित नामसंकीर्त्तन के विपरीत स्वभक्त अर्जुन के प्रति भगवान् का कर्त्तव्यकर्म्मादेश, एवं शास्त्राचारनिष्ठ भगवान् ... ... ,,
३५८--प्रकृतानुसरणात्मक **पौरुष**, तथा **भाग्य** का संस्मरण, एवं सहज कर्म्मनिबन्धन, जरामर्य्यसत्त्वात्मक **'पौरुष'** की स्वरूप-परिभाषा... ... ... ५६८
३५९--ब्रह्मबलानुगत पौरुष, एवं क्षत्रबलानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,
३६०--**'राजा कालस्य कारणम्'** मूला भावुकता से आविर्भूता भ्रान्तियों का इतिवृत्त ... ५६९
३६१--कालधर्म्मविशारद आज के सत्ताभक्तों के द्वारा भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा पर आक्रोशपूर्ण मलीमस आक्रमण ... ... ,,
३६२--राष्ट्रवादियों के आपातरमणीय--आक्रोशात्मक अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्रवर्षानुगत भारतीय ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन ५७०
३६३--कालनिर्वाहक--सत्ताधीशों के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठने वाले ब्राह्मण की सत्तासापेक्षता से ही भारत के सांस्कृतिक--वैभव, तथा तन्मूलक भौतिक वैभव की अन्तर्म्मुखता... ... ... ५७१

३६४–सांस्कृतिक--आचारनिष्ठा की अन्तर्म्मुखता से ही शाश्वतधर्म्मलक्षण कर्त्तव्य का अभिभव, तन्मूलक मतवादों का प्राचुर्य्य, एव मतवादाभिनिविष्ट ब्राह्मण का अधःपतन ५७१
३६५–पतनगर्त्तनिमग्ना ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा काल्पनिक उपनिषदों का निर्म्माण, मौलिक-शास्त्रों के प्रति वञ्चकता, एवं विक्षिप्ततानुगता भयावहा प्रक्षिप्तता ... ५७२
३६६–ब्रिटिश सत्तातन्त्र का परमभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, तत्प्रसादप्राप्त्यर्थ ही ब्रिटिश-साम्राज्य का काल्पनिक--पुराणवचनों के द्वारा समर्थन, इति नु सर्वथा अब्रह्मण्यमेव ... ... ,,
३६७–राष्ट्रीय--स्वतन्त्रता--आन्दोलनों का आलोचक ब्रिटिश सत्ताभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, एवं तन्निबन्धना महती निर्ल्लज्जता ५७३
३६८–वर्त्तमान–स्वतन्त्र--भारतराष्ट्र के भारतीय विद्वानों के युगधर्म्मानुगत विभिन्न दो वर्ग, एवं प्रथम वर्ग के द्वारा धर्म्मव्याज से सत्ता की आलोचना, तथा द्वितीय वर्ग के द्वारा सत्ता की भावुकतापूर्णा मान्यताओं का समर्थन ५७४
३६९–अन्तर्राष्ट्रीय--व्यामोहनासक्त, स्वराष्ट्रनिष्ठावञ्चित हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं इस के 'स्व' भाव की 'पर' तन्त्रों से अनुगता 'परतन्त्रता' ... ... ,,
३७०–सर्वविनाशक--सत्ताश्रयात्मक--राज्याश्रय की निरपेक्षता से ही ब्राह्मणप्रज्ञाओं के द्वारा राष्ट्र का सम्भावित–जागरण ५७५
३७१–कालसापेक्ष सत्तातन्त्र, एवं कालातीत शाश्वत-धर्म्म के क्षेत्र में तत्तन्त्र का अनधिकार ... ... ,,
३७२–स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित, सुरक्षित शाश्वतधर्म्म, एवं–'**धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**' का संस्मरण ... ... ,,
३७३–ब्राह्मण के पौरुष की सत्तातन्त्र के द्वारा कार्य्यरूप में परिणति, एवं '**मैत्रावरुण-ग्रहश्रुति**' मूलक मित्रब्रह्म, क्षत्रवरुण के **अभिगन्तृत्त्व, कर्तृत्त्व**, भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
३७४–मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र के समन्वय--पार्थक्य से राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष-शक्तियों का विघटन, एवं तत्परिणामस्वरूप ब्रह्मक्षत्रसमन्वय से वञ्चित राष्ट्र का अभिभव ... ५७६
३७५–कालातीत चिदात्मसर्ग से नियन्त्रित 'कालसर्ग', एवं तदनुगता तद्रूपा कालिक प्रजा का स्वरूप-परिचय ... ... ,,
३७६–कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पौष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप-मनः,-शरीर-भावों का समन्वय ५७७
३७७–आत्मबुद्धिरूप ब्रह्म-क्षत्र के नियन्त्रण से पृथगभूत मनःशरीर-निबन्धन-विट्-शूद्र-प्रजा के द्वारा सम्भावित विश्वक्षोभ, एवं–'**क्षोभयेतामिदं जगत्**' वचन का समन्वय ... ... ,,

३७८–विड्भावापन्न-मनोधर्म्मा-चान्द्र-प्राकृत-भाग्यवादी-'मनुष्य' विध मानव, एवं तद-नुगता-पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा, ... ५७७

३७९–राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इस के सुन्दोप-सुन्दन्यायात्मक भीषण-परिणाम ५७८

३८०–**पुरुषनिष्ठ, पुरुषार्थी, भाग्यवादी, भाग्याधीन**, भेद से वर्णप्रजा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्त्तों का तात्त्विक-समन्वय ... ... ,,

३८१–'**क्रान्ति**' भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक--सर्गचतुष्टयी से सम-न्विता **श्वेत--रक्त--पीत--कृष्ण**--क्रान्तियों का नामसंस्मरण ५७९

३८२–प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध-'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विवर्त्तों का समष्ट्यात्मक सिंहावलोकन ... ... ,,

३८३–प्रतीकात्मक अङ्गाङ्गीभावों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, महिमामय सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तत्क्षेत्र में प्रतीकभाव का प्रवेश निषिद्ध ५८०

३८४–प्रतीकभाव का मूलोच्छेदक--'**उद्धरेदात्मना--आत्मानम्**' वचन ... ,,

३८५–सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म, तथा मानव की अभिन्नता, तत्सम्बन्ध में प्राकृत मानव की बुद्धि का व्यामोहन, एवं मानव के महान् भ्रामक '**समझ**' शब्द से अनुप्राणित-'**समझ बिना बुध बापड़ी**' इस लोकसूक्ति का संस्मरण ... ... ,,

३८६–पशु की तात्कालिकी बुद्धि से मानवबुद्धि का पराभव, एवं गृहस्थक्षेत्र में चतुगु णित–बुद्धिशालिनी नारी के द्वारा बुद्धिमान् मानव का अभिभव ... ५८१

३८७-'**संवित्**' भावापन्न मानव की श्रेष्ठता, एवं 'संवित्' स्वरूप-दिग्दर्शन ... ,,

३८८–भूत--भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की-'**यथार्थता**' का नग्नचित्रण ५८२

३८९–'प्रत्युत्पन्नमतित्त्व' का शैथिल्य, गृहस्थक्षेत्रानुगत **पुत्र--कन्या**-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्त्व, एवं पुत्र का अभि-नन्दनीय संविद्भाव ... ... ,,

३९०–नारी की भावुकतापूर्णा **तात्कालिकता**, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिनी **चिरकारिता**, तथा कालातीतानुगतित्त्व, और–'**चिरकारी प्रशस्यते**' ... ५८३

३९१–कार्य्यारम्भे दक्ष, कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यारम्भे स्तब्ध, कार्य्य-समाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप--चित्रण ... ... ,,

३९२–मनोवशवर्त्ती--इन्द्रियपरायण--बुद्धिमान्--प्रत्युत्पन्नमति भावुक मानवों के महतो-महीयान् आयोजन, किंवा योजनाएँ, एवं उन की छिन्न-भिन्नता ५८४

३९३–संविद्भावानुगत--सहजबुद्धिशाली चिरकारी नैष्ठिक-मानवश्रेष्ठ के क्षेमकर स्वल्पारम्भ, एवं तत्–'**संवित्--बुद्धि**' का स्वरूप-दिगदर्शन ... ... ,,

३९४–भावुक, तथा नैष्ठिक की सहज स्थितियों का श्रुति के द्वारा सहज-स्वरूप-चित्रण ... ५८५

३९५–नैष्ठिक के कर्त्तव्य-कर्म्म का आध्यात्मिक समन्वय ५८६
३९६–मानव, और मानवी के उभयात्मक स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं मानव-मानवी ... की स्वरूपानुगता वर्णचतुष्टयी का तात्विक समन्वय ... ... ,,
३९७–कठिनावयव मानव का आधारभूत सौर सम्वत्सर, तथा कोमलावयवा मानवी का ... आधारभूत चान्द्रसम्वत्सर ५८७
३९८–बहिः कठिन, अन्तः मृदु मानव, एवं बहिः मृद्वी अन्तःकठिना मानवी, तथा ... तदनुपात से सम्वत्सरचक्र का समन्वय ... ... ,,
३९९–सौर--चान्द्र--सम्वत्सर--भेदभिन्न मानव--मानवी के विभक्त व्यवस्थित--कर्म्म, एवं ... प्रकृतिविरुद्ध आज के 'समानाधिकारवाद' का स्वरूप--चित्रण ... ... ,,
४००–आङ्गिरस-आग्नेय-उतरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य-उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव-मानवी के सम्भावित-लैङ्गिक-परिवर्त्तन ... ५८८
४०१–लैङ्गिक-परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पात्र '**भङ्गास्वन**' नामक राजर्षि, इन की '**मानवी**' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी स्वरूप के प्रति मानवीरूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण ... ... ,,
४०२–दाम्पत्यसुख की प्रमुख-अधिकारिणी मानवी, सर्वशक्तिमयी '**आद्या**' मातृजाति, तत्–प्रति शक्तिस्वरूपवञ्चित मानव के अकाण्डताण्डव, एवं समानाधिकारी हितशत्रुओं के मातृशक्तिविमोहक-जघन्य-कर्म्म ५९०
४०३–स्वैराचारमूलक समानाधिकारव्यामोहन, तद्द्वारा **सहधर्म्मचारिणी मानवी** का **सहकामचारिणी**-पद पर संस्थापन, तथा कामोपभोगपरायणतामूलक समानाधिकार का तथ्य-विश्लेषण ५९१
४०४–मानव के समतुलन में मानवी के सभी मानवीय-गुणों की सर्वमूर्द्धन्यता का दिग्दर्शन, एवं प्राकृत विश्व में प्रकृति की सगुणमूर्त्ति मानवी का ही प्राधान्य ... ,,
४०५–सौरसम्वत्सरानुगत आग्नेय मानव, चान्द्रसम्वत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का 'मानवीत्व,' एवं मानवी का मानवत्त्व ५९२
४०६–आत्मानुगता सौरसम्वत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्वत्सरात्मक **मन**, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोभावुका मानवी ५९३
४०७–मानव के मनःशरीरपर्वों की स्वत्त्वाधिकारिणी भावुका मानवी के आत्म-बुद्धि-पर्वों का स्वत्त्वाधिकारी नैष्ठिक मानव ... ... ,,
४०८–मनःशरीरेण नितान्त भावुक मानव, एवं आत्मना बुद्धया च नितान्त भावुका मानवी ५९४
४०९–अत्यन्त सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य मानव मानवी का प्राकृतिक स्वरूप, अतएव ... बुद्धि से अतीता तत्कर्त्तव्यव्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्रप्रामाण्यैक- ... शरणता ... ...

४१०–मनःशरीरानुगत आहरादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केशप्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण ५६४
४११–शृङ्गारप्रसाधनैकासक्ता मानवी के, तथा आहारादि भोगासक्त मानव के स्वैराचार से दोनों का ही समान स्वरूप, एवं तत्सम्बन्ध में राजस्थान की एक महत्त्वपूर्णा लोकसूक्ति ५६५
४१२–बौद्धिक-लौकिक-क्षेत्रों में श्रद्धा का समावेश, अलौकिक-बुद्ध्यतीत क्षेत्रों में बुद्धि का प्रवेश, एवं क्षेत्रविपर्य्ययात्मिका महती भ्रान्ति से समन्वित भावुक मानव ... ,,
४१३–पशु की दिग्देशकालनिबन्धना जागरूका व्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में भावुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता ५६६
४१४–भावुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाण तथाविध भूतासक्त-बहिर्भावुक लोकमानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत-सत्तासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आतुरता ... ... ,,
४१५–बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकक्षेत्रों में अन्धानुकरण, और तद्रूपपरिणाम ... ,,
४१६–'समझ' रूपा 'संवित्' के अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (बापड़ी) बुद्धि, एवं-'**समझ बिना बुध बापड़ी**' इत्यादि राजस्थानीया लोकसूक्ति का समन्वय ५६७
४१७–'**बापड़ी**' शब्द के तात्त्विक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता ... ... ,,
४१८–विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समझदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता ... ... ,,
४१९–पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एवं भाग्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा 'संवित्' रूपा 'समझ' का संस्मरण ५६८
४२०–'समझ' को 'समझ लेने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, तदुद्गारों के ठीक ठीक न समझने से 'समझ' की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, और तदवस्था में-'समझ बिना बुध बापड़ी' ... ... ,,
४२१–'समझ' के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारा बौद्धिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समझ' के सम्बन्ध में–'**न स वेद, न स वेद**' का उद्घोष ५६९
४२२–वाक्छल से एकान्ततः असंस्पृष्टा सहज धारणा, तदनुप्राणिता 'संवित्' (समझ), एवं हमारी समझ, और उस की कर्त्तव्यानुष्ठानात्मिका-इयत्ता ... ... ,,
४२३–कर्त्तव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तमतवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतोमहीयान् उद्गार ६००
४२४–स्वानुगता 'समझ' के सम्बन्ध में किञ्चिदिव दिग्दर्शन ... ... ,,
४२५–'स एव' लक्षण अनन्तब्रह्म के स्वरूप-सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक तदभिन्न 'मानव', एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीतता ६०१

४२६–अनन्तब्रह्म का ही 'किञ्चित्' (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा,·· तथा तत्समाधानभूमि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि ·· ··· ६०१
४२७–प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एवं तत्पूरक बालोपलालनात्मक श्रौत-उदारणों ··· का स्वरूप-दिग्दर्शन ··· ··· ··· ··· ''
४२८–कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विवर्त्तों का नामसंस्मरण, एवं परम-··· कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय ··· ·· ६०२
४२९–बुद्धिपूर्वक-समन्वय का महान् आग्रह, तदुपशमनार्थ ही 'दिग्देशकालमीमांसा' का ··· बौद्धिक विजृम्भण, एवं वस्तुगत्या दिग्देशकालभावों का निस्सारत्व ··· ६०३
४३०–दिग्देशकालनिबन्धना बुद्धि के महतो महीयान् चमत्कारों से प्रभावित प्राकृत मानव ··· का बौद्धिक-व्यामोहन, एवं तन्निग्रहेणैव कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति तन्निरपेक्षता ··· ''
४३१-दिग्देशकालविमूढ प्राकृत बुद्धिमान् मानव के बुद्धिदम्भ पर कालातीता 'आर्षप्रज्ञा' ··· का प्रचण्ड प्रहार, तद्द्वारा विमोहनोपशान्ति, एवं तदनुग्रहेणैव-'**शाधि मां, त्वां** ··· **प्रपन्नम्**' का प्रणतभाव से अनुगमन ··· ··· ·· ''
४३२–दार्शनिकभाषाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं सहजभाषाप्रधान मन्त्र-··· ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत्, गीता-आदि का सम्भावित ··· नैष्ठिक समन्वय ··· ·· ·· ··· ६०४
४३३–आचारधर्म्मनिष्ठा-विरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव ·· भी भावुकता ··· ··· ··· ··· ''
४३४-प्रश्न, प्रदर्शनादि-भावों से असंस्पृष्ट नैष्ठिक मानव का आत्मसमर्पण, तदनु-बन्धिनी तूष्णींभावानुगता सहज जिज्ञासा, एवं तद्विपरीत भावुक, किन्तु श्रद्धालु की ··· जिज्ञासा का काल्वालीकृत–इतिवृत्त ··· ·· ··· ६०५
४३५–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त मानव में सहज ब्रह्मजिज्ञासा ·· का आविर्भाव, एवं तज्जिज्ञासा का धर्म्माचरण पर विश्राम ··· ··· ''
४३६–जिज्ञासात्मक ब्रह्म, एवं आचारणात्मक धर्म्म, भावुकता के निग्रह से दोनों क्षेत्रों ... का विपर्य्यय, तथा तन्निबन्धन **ब्रह्माचरणव्यामोहन**, और **धर्म्मप्रचार–व्यामोहन** ···· ···· ··· ···· ''
४३७–अभिनिवेशनिवारक धर्म्माचरण, तत एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम ···· की धर्म्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति ··· ·· ६०६
४३८–ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असंस्पृष्ट अवतारपुरुषों का धर्म्मात्मक-कर्त्तव्याचार के ··· संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव···· ···· ···· ''
४३९–ब्रह्मानुगत अभ्युदय–निःश्रेयस्-भावों की सिद्धि का अन्यतम द्वार धर्म्माचरण, ··· एवं तद्द्वारा ही अनन्तब्रह्म, और अनन्त मानव की अभिन्नता का स्वरूपप्रबोधोदय···· ६०७

४४०–स्वस्वरूपबोधात्मिका 'संवित्', तदनुग्रहप्राप्तिमूलक धर्म्माचरण, एवं स्वतः आवि-भूता पारिभाषिकी 'समझ' ६०७
४४१–स्वस्वरूप बोध की इयत्ता से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह एवं तद्वञ्चित प्राकृत मानव की प्रकृति-पुरुष-स्वरूप-बोधविमूढता ६०८
४४२–प्रकृति की ६ ठी वैकारिक-परम्परा से अनुप्राणित जड़भूतों के प्रति 'प्रकृतित्व'-व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूत-बुद्धि की परिसमाप्ति, और उसके भीषण परिणाम .... ,,
४४३–स्व-प्राकृत, और पौरुष-स्वरूप से सर्वथा पराङ्मुख प्राकृत-मानव के लिए अविज्ञाता सौर हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तत्त्वतः स्थूलभूतों के भी प्राकृतिक स्वरूप से पराङ्मुख मानव की सर्वविस्मृति .... ,,
४४४–दिग्देशकालभ्रान्त-विस्मृतिपरायण मानव की कल्पना से आविर्भूता प्रश्नावली, तत्काल्पनिक समाधान, एवं तद्द्वारा इसकी काल्पनिक–तुष्टि ६०६
४४५–'प्राकृत-शैली' से अनुप्राणित '**प्रश्न का उत्तर प्रश्न**', तद्द्वारा भावुक मानव के विमोहन का प्रयास, एवं तत एव उसका सम्भावित उद्बोधन .... ,,
४४६–सेर का सवासेर से, बताशे का पन्सेरी से परिमाण–समतुलन, एवं तत्समतुलित उत्तर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति ६१०
४४७–असमाधेय प्रश्नात्मक 'सम्प्रश्न' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरञ्जन, एवं 'सम्प्रश्न' शैली का स्वरूप–दिग्दर्शन ... ... ,,
४४८–वेदशास्त्र के सम्पूर्ण प्राकृत उत्तरों की रहस्यपूर्णा सम्प्रश्नात्मकता, एवं तदनुगत-'न तं विदाथ य इमा जजान' लक्षण महान् उद्बोधनसूत्र ६११
४४९–सम्प्रश्नात्मक उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तत्समतुलित औपनिषद मन्त्र का प्रासङ्गिक संस्मरण ... ... ,,
४५०–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्प्रश्न के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिणामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति ६१२
४५१–प्राकृत-बुद्धि के द्वारा परिगृहीत दिक्-देश-काल-भावों की वास्तविक अनन्तता से बुद्धि का पार्थक्य ६१३
४५२–बुद्धि के द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता-काल-दिक्-देश-त्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकालत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिन्नता ... ६१४
४५३–ऋजुभावापन्न समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न 'स्वरूपदर्शन', तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि ... ,,

४५४–बौद्धिक ज्ञानानुगत अस्तित्व के '**प्रत्ययैकसत्योपनिषत्**' मूलक तथ्य का स्वरूप-दिग्दर्शन ६१५

४५५–भौतिक-विषय-सुखों का स्रष्टा भूतात्मा, एवं तदनुग्रह से ही भौतिक विषयों की सुखरूपता ... ... "

४५६–भूतात्मानुगता सुखराशि की अव्यक्त-महान्-बुद्धि-मन-इन्द्रिय-आदि अर्वाचीन भावों में ऋणादानपरम्परा का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... "

४५७–सन्तानधाराक्रमसिद्धा सुखमात्राएँ, एवं अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण के लिए समातुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक-व्यामोहन ६१६

४५८–यच्चयावत् प्राकृत खण्डात्मविवर्त्तों के समतुलन में अनन्तभावापन्न महान् मानव ... "

४५९–**महाकाल, कालाश्वत्थ, कालाव्यक्त, कालमहान्, कालबुद्धि, कालमन, कालेन्द्रियवर्ग, कालशरीर,** आदि यच्चयावत् काल--विवर्त्तों के समतुलन में प्राकृत मानव की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय ... ६१७

४६०-चक्षुरिन्द्रियानुगत प्रत्यक्षभूतमात्र के प्रति व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव की बुद्धि के प्रति प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित, एवं तन्माध्यम से तत्प्रति–'**विद्धि नष्टानचेतसः**' ... का संस्मरण ... ... "

४६१–प्रकृतिसिद्ध--कर्त्तव्यात्मक--धर्म्माचरण के महान् उदर्क का संस्मरण, एवं तद्द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति ६१८

४६२–अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त प्राकृत विश्व के उभयात्मक आनन्त्य से समन्वित मानव का महान् 'पुरुषार्थ', तल्लक्ष्यपूर्त्तिजिज्ञासा, एवं तत्समाधानानुगता दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... "

४६३–प्रकृति से अतीत अनन्तब्रह्म की अनुग्रह-प्राप्ति के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता प्राकृत--कालात्मक--आचारालक्षण कर्त्तव्य की अनुगति, तथा आचार के पूर्वबोधात्मक '**शाब्दज्ञान**' के **ज्ञानत्त्व** का, एवं तदुत्तरबोधात्मक '**आचार-ज्ञान**' के **कर्म्मत्त्व** का स्वरूप-समन्वय ६१९

४६४–बौद्धिक तर्कजाल से व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव के अभिनिवेश से 'संवित्' रूपा 'समझ', तथा कर्त्तव्यरूप 'काम' भावों की पराङ्मुखता ... ... "

४६५–कर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक शाब्दबोध, एवं तदभिन्ना सवित् से मानव की स्वकर्त्तव्य--प्रवृत्ति का समन्वय ६२०

४६६–आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत--कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय--आदेशों का संस्मरण ... ... "

४६७-'विधि' लक्षण '**धर्म्म**' की स्वरूप--परिभाषा, एवं--'**आचारः परमो धर्म्मः**' का ... संस्मरण ६२१

४६८–कर्त्तव्यात्मक आचारधर्म्म की अनुगति से कालान्तर में 'अभयब्रह्म' की अनुग्रह प्राप्ति, एवं तदनुगता 'किञ्चित्' (कुछ) रूपा अभिन्नता का संस्मरण ... "

४६६–प्राकृत-व्यामोहनासक्त प्रत्यक्षवादी मानव की नग्नता, एवं तदनुबन्धेनैव परोक्ष-भावापन्न भी 'किञ्चित्' (कुछ) भाव की नग्नता का उपक्रम ६२२
४७०–'कुछ' के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती धृष्टता ... ,,
४७१–अभिव्यक्ति के मूलाधारभूत **'प्राजापत्यशिल्प'** का संस्मरण ... ... ,,
४७२–दिग्देशकालात्मक--प्राकृत--सृष्टपदार्थों से सम्बद्ध **अनुरूपशिल्प, प्रतिरूप-शिल्प,** नामक दो शिल्पविवर्त्त, एवं तत्स्वरूप--दिग्दर्शन ६२३
४७३–मूर्त्त--मौतिक--रेखाचिह्नों के द्वारा उभयविध शिल्पों का स्वरूप--समन्वय ... ,,
४७४–मानव की प्राजापत्या शिल्पता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न .. ६२४
४७५–प्रतिरूपशिल्पात्मक मानव की स्रष्टा प्रजापति से प्रतिद्वन्द्विता, एव प्रतिद्वन्द्विता में मानव का विजयश्री के द्वारा संवरण ६२५
४७६–मानवेतर सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त्तों की अंशात्मिका **'प्रतीकता'**, किन्तु मानव की महिमारूपा **'प्रतिरूपता'** .... ,,
४७७–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय **मनु**, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक **इन्द्र**, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक **'मानव'**, एवं–**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** का संस्मरण ६२६
४७८–प्रतिरूपशिल्पात्मक--मनु, तथा इन्द्राभिन्न मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वमूला परिपूर्णता ... ... ,,
४७९–**इन्द्र–प्राण–अग्नि–रुक्माभ**–भावापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव ... ,,
४८०–गतिरूप **कालाक्षर**, तदभिन्न **इन्द्र**, तत्सहयोगी **विष्णु**, एवं तद्द्वारा माया-वृत्तात्मक **'पुरभावों'** की स्वरूपाभिव्यक्ति ६२७
४८१–मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित–**'दश-शतानि'**, एवं-**'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** लक्षण देश–प्रदेशात्मक महिमामण्डल .... ,,
४८२–मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धवृगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव–मानवी की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय ... ... ,,
४८३–सौर–चान्द्र–सम्वत्सरवृगलद्वयी से सम्पन्ना–कृतरूपा मानव–मानवी की दाम्पत्य-रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगतिलक्षणा रूपं–रूपं–भावापन्ना–महिमान्विता प्रतिरूपता ६२८
४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गाद्–रूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय दाम्पत्य की कालातीता अनन्तपरिपूर्णतालक्षणा-प्रतिरूपता का समन्वय ... . ,,
४८५–अनन्तकालानुगता–प्राकृत–प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत–प्रतिरूपता की अविज्ञेयता ही तद्विज्ञेयता ६२९
४८६–अचिन्त्य–अनन्त–कालातीत–ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यच्चयावत् समाधानभासों की सम्प्रश्नता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया-श्रुतोपश्रुता आप्तपुरुषों की आर्षधारणाएँ ... ... ,,

४८७–वाग्विजृम्भण–विस्मृतिपूर्वक–'**अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः**' मूलक उद्बोधनसूत्र ...
के प्रति आत्मसमर्पण, एवं श्रौत–मूलसूत्रों का संस्मरण ६३०
४८८–**ऋद्धि–समृद्धि**–आदि विविध प्राकृत-द्वन्द्वों के प्रति आकर्षित मानवीय मन, ...
तदनुप्राणित मानवीय–मापदण्ड, एव तदनुगत मानव का महान् प्राकृत–स्वरूप ६३१
४८९–स्वानुगत–कालातीत–अनन्त–ब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्– ...
अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुह्यतमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता ... ६३२
४९०–इतर प्राकृत–परिणामात्मक–कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत–कालातीत–...
प्रमाणित महिमात्मक–मानवसर्ग की 'महत्ता' के कतिपय–प्राकृत निदर्शन ... ,,
४९१–मानवस्वरूप को संत्रस्त करने वाले आततायीवर्ग के प्रति ऋषिमानव का प्रचण्ड ....
उद्घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृद्विकम्पन ... ... ,,
४९२–स्वस्वरूपबोधानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी ...
मानव की भावुकतापूर्णा भयत्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न ६३३
४९३–दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्म्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास....
के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध ...
प्रश्नों का उत्थान .... ,,
४९४–स्वोत्पन्ना भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानव के द्वारा अनुदिन भयप्रवर्त्तक भावों ....
का सर्ज्जन, अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक–आदान–....
प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विडम्बनापूर्ण महान् विमोहन ६३४
४९५–तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति ...
तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन ... ... ,,
४९६–निरूपिता दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में तद्विस्मृतिरूप 'यत्किञ्चित्' ...
संशोधन, एवं दिग्देशकालनिबन्धन युगधर्म्मों के प्रति जागरूकता का दिग्दर्शन.... ६३५
४९७–व्यक्तित्वविमोहनात्मिका 'व्यक्ति' की एषणाओं से अनुप्राणिता दिग्देशकाल- ....
विमूढ़ता, तदनुगता वैय्यक्तिक-स्वार्थमयी–मलीमसा–दानवता–लक्षणा मानवता .... ,,
४९८–राष्ट्रवादी मानव के 'राष्ट्र' की दिग्देशकालनिबन्धना स्वरूप–व्याख्या, एवं ..
तन्निबन्धन महतोमहीयान् कल्पित विजृम्भण .... ,,
४९९–मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, ...
एवं 'मानव–स्वरूप' की अभिव्यक्ति से समन्वित ही 'राष्ट्र' शब्द के राष्ट्रत्व ...
की अन्वर्थता ६३६
५००–'राष्ट्र' रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड–विशेषों की राष्ट्रीयता, 'राष्ट्र' स्वरूप
व्याख्यात्मक मानव, एवं तद्व्यापकता का समन्वय ... ... ,,
५०१–आज के बुद्धिमान् मानव के द्वारा 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' शब्द का प्रतिष्ठा-...
पन, राष्ट्रीयता के प्रति आक्रोश, तथा तत्स्थान में **विश्वमैत्री–विश्वबन्धुत्त्व**– ...
आदि नवीन भावों का आविर्भाव ६३७

५०२–भूतव्यासक्तिमूला व्यापकता के भावुकतापूर्ण मलीमस इतिहास से अनुप्राणिता .... विश्वमैत्री–लक्षणा राष्ट्रीयता का स्वरूप–विस्फोटन ६३७
५०३–अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तित्त्व–आदि ... भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक– .... वैय्यक्तिक स्वार्थ ६३८
५०४–तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्याजधर्म्मात्मक आज के मानवता– .... अहिंसा–सत्य–दया–करुणा–नैष्ठिकता-आदि आदि वाग्विजृम्भण, एवं तदनुगता ... विलक्षण भाव–भङ्गिमा ... . ,,
५०५–दिग्देशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौणत्त्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण ... दृष्टिकोण का संस्मरण, तथा भारतीय सांस्कृतिक–अनुष्ठानों के आधारभूत .... काल की स्वरूप–परिभाषा ६३९
५०६–तत्त्वात्मक–मन्वन्तरकालात्मक–काल से अनुप्राणित दिग्भाव की स्वरूप– ... परिभाषा.... ... ... ,,
५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित **'देशभाव'** की स्वरूप–परिभाषा, एवं **'भारत-** ... **देश'** के **'भारतराष्ट्र'** नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्ट्या मूलोच्छेद ... ६४०
५०८–'भारत' रूप दिव्य–हव्यवाट्–सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्र- ... तीक-माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी–'भारत' संज्ञा का समन्वय ... ,,
५०९–दिग्देशकालव्यवधानात्मिका **'अनार्य्यता'**, एवं व्यापक-समब्रह्ममूला **'आर्य्यता'**, तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय ६४१
५१०–अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत शब्द, तत्प्रतीकात्मक आर्य्यावर्त्त रूप **'भारतखण्ड'**, तदनुप्राणित **'भारतवर्ष'**, तत्प्रतिष्ठ भारतीय ब्राह्मण, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण ... ... ,,
५११–स्वधर्म्मात्मक श्रौतस्मार्त्त विशेषधर्म्म का भावुकतापूर्ण विश्वप्रचार-व्यामोहन, ... तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म्म की अन्तर्म्मुखता, एवं **विशेषधर्म्म**, तथा ... **आर्य्यत्त्व** के पार्थक्य का तात्त्विक समन्वय ६४२
५१२–मानवमात्र की प्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता', एवं दिग्देशकालव्यामोहन से 'अनार्य्यता' का उद्गम, और एतद्देशीय मानवों की भी सम्भाविता 'अनार्य्यता', तथा अन्यदेशीय मानवों की भी सम्भाविता 'आर्य्यता' ६४३
५१३–प्रकृत्यनुगत सीमित वर्णधर्म्म, तथा प्रकृत्यतीता असीमा आर्य्यता, एवं भारतीय ... मानव की उभयसम्पत्ति का वर्त्तमानयुग में आत्यन्तिक अभिभव ,,
५१४–वर्णावर्णव्यवस्थाओं, आर्य्य अनार्य्य-भावों के व्यतिक्रम के तात्त्विक कारण का स्वरूप-दिग्दर्शन ६४४
५१५–भारतदेश के मूल 'अतिष्ठावा' (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य-'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण ... ... ,,

५१६–अखण्ड भारत अग्नि से समन्वित भारतदेश की अखण्डता, एवं त्रयीमूलक भारत-अग्नि के विस्मरण से अखण्डता की खण्ड-खण्ड-रूप में परिणति ६४५
५१७–वर्त्तनान राष्ट्रवादी की कल्पिता अखण्डता का नग्न चित्रण, तदनुबन्धी प्रान्तीयता-व्यामोहन, तद्दुष्परिणाम, और भारत का सम्भावित भीषण-भविष्य ... ,,
५१८–भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृति-जागरण के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में **प्रतीक**, और **प्रतिरूप** शब्दों का संस्मरण, एवं 'प्रतीक' भावानुबन्धिनी जड़मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन ६४६
५१९–जड़माध्यमों के विशोधक पुरातत्त्वविदों के द्वारा ध्वंसावशेषों का अन्वेषण, तदनुप्राणित **'पुरातत्त्वानुसंधान'**, एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव-संरक्षण का प्रयास ... ,,
५२०–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा भूत-भविष्यदनुगत पुरातन का प्रचण्ड विरोध, तत्स्थान में नवीनता का उद्घोष, एवं तदपि महान् व्यामोहनात्मक ध्वंसावशेषों के साथ सत्तातन्त्र का समालिङ्गन ६४७
५२१–दिव्यदृष्टि से समन्वित महामानवों की बौद्धिक-सनातन-कृतियों का जीर्ण-शीर्णत्त्व प्रतिपादन, तथा दिग्देशकालानुबन्धी भौतिक-ध्वंसावशेषों का सांस्कृतित्त्व-प्रतिपादन, एवं भारत का आत्यन्तिक सांस्कृतिक-अधःपतन .... ,,
५२२–भारत, तथा भारतेतर देशों के संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर, तदनुपातेनैव भारतीय-संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन-इतिहास का समन्वय-प्रयास ६४८
५२३–ऋतिशास्त्र की **'प्रतीकता'** के सम्बन्ध में **'प्रतिरूप'** भाव का संस्मरण, एवं 'प्रतिरूप' शब्द के तात्त्विक-चिरन्तन-इतिवृत्त का स्वरूप-दिग्दर्शन ६४६
५२४–अनन्ता प्रकृति, और अनन्त प्राकृत मानव का समतुलन .... ,,
५२५–भूताधिष्ठाता-वैश्वानराग्नि की सांस्कृतिकता का स्वरूप दिग्दर्शन, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति ६५०
५२६–अनन्तब्रह्म से समन्विता, सत्यं-शिवं-सुन्दरं-लक्षणा अनन्ता प्रकृति से अनुप्राणिता भारतीय-संस्कृति, और सभ्यता के आत्म-देव-भावनिबन्धन अनन्तमहिमामय माङ्गलिक विवर्त्त ६५१
५२७–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त **बौद्धिक-शब्दात्मक** प्रतीक, तथा **भौतिक-अर्थात्मक प्रतीक** ६५२
५२८–प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपभेद का दिग्दर्शन, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकभावों का पार्थक्य, और **ऋषिमानव**, **लोकमानव** के विभिन्न स्वरूप .... ,,
५२९–संस्कृति, और सभ्यता का स्वरूप-दिग्दर्शन ६५३
५३०–चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शाश्वत-उपयोगिता ... ६५४

५३१–भौतिक-ध्वंसावशेषों की सांकृतिक ? प्रतीकता का, एवं पुरातत्त्वात्मकता का महान् व्यामोहन ६५४
५३२–मानवीया सनातन-संस्कृति का 'प्रतिरूप' मानव, एवं 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति ... ... "
५३३–'यत्किञ्चित्' संशोधन से पराङ्मुख मानव की दिग्देशकालविमूढ़ता, एवं तन्मूला महान् भी मानव की अल्पताका दिग्दर्शन ६५५
५३४–अनन्ताकाशात्मक मानव की अनन्तता में दिग्देशकाल के द्वारा व्यवधान, तद्द्वारा मनुकेन्द्र का विचलन, तदनुगत भय, एवं तन्निग्रहेण अनन्त अभय ब्रह्म के महिमात्मक अनुग्रह की अन्तर्म्मुखता .... "
५३५–भयानुगत 'मृत्युभाव', तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शनमूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उद्बोधन-प्रदान ६५६
५३६–परिणामवादात्मक-सर्वविनाशक कार्य्यकारणभाव, तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्म्मुखता .... "
५३७–दिग्देशकालनिबन्धन-आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मों के सम्बन्ध में कर्म्मत्यागमूला भयावहा भ्रान्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन ६५७
५३८–जगन्मिथ्यात्वानुगता कर्म्मत्यागात्मिका महती भ्रान्ति के निग्रह से ही भारतराष्ट्र के विद्या-पौरुष-अर्थ-शिल्यादि यच्च-यावत्-वैभवों की अन्तर्म्मुखता .... "
५३९–एक व्यक्ति की भूल से घटित-विघटित परिवार-समाज, तथा राष्ट्र--विकम्पन के ऐतिहासिक तथ्य .... "
५४०–एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पनशान्ति, समृद्धि-वैभवोदय, एवं मानवव्यक्ति के **महान्**, तथा **अधम**-विवर्त्त ६५८
५४१–**संवित्**-मूला महता, एवं **अनुभूतिमूला** अधमता, तथा सुध-बुध, समझ-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वभावों का संस्मरण .... "
५४२–मानवव्यक्ति के व्यक्तित्वाधारभूत **अनन्तपुरुष**, **अनन्तप्रकृति**, नामक दो विवर्त्त, एवं तन्मूलक **एकत्व**, **अनेकत्व** का संस्मरण ६५९
५४३–मानवव्यक्तित्वानुगत पुरुषात्मक दिग्देशकालातीत आनन्त्य, तथा प्रकृत्यात्मक संख्यानुगत आनन्त्य का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... "
५४४–मानव की महत्ता, तथा अधमता की आधारभूता शक्तिद्वयी .... "
५४५–संविन्मूला **निष्ठा**, तथा अनुभूतिमूला **भावुकता** का स्वरूप-दिग्दर्शन ... "
५४६–प्रकृत्यनुगता भावुकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा के संरक्षणक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय ६६०
५४७–संविन्मूला अनुभूति का, तद्रूपा निष्ठासमन्विता भावुकता का प्राकृत–क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला भावुकता के प्रति ही श्रेयोऽर्पण .... "

५४८–दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु तदाचार से अनुप्राणिता 'भावुकता' का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक पुरुष में ऋजुता का आविर्भाव ६६०
५४९–भावुकता की आधारभूता अनुभूति का निष्ठाधारभूता संवित् में अर्पण–समर्पण, एवं निग्रह–अनुग्रहों से असंस्पृष्ट अनन्तपुरुष.... .... ६६१
५५०–निग्रह–अनुग्रह–प्रवर्त्तिका भावुकतात्मिका अनन्ता प्रकृति का अनन्तपुरुष के प्रति समर्पण, एवं समर्पण की स्वरूप–परिभाषा .... ,,
५५१–'पुरुष' लक्षण 'स्व' तन्त्र में समर्पिता प्रकृति की 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का तात्त्विक दिग्दर्शन ६६२
५५२–पुरुषानुशीलनात्मक **समर्पण**, अनुभूत्यात्मक **संस्मरण**, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणिता वास्तविक–वस्तुस्थिति का स्वरूप–समन्वय ... ... ,,
५५३–भगवान् के भावुक भक्तों, और नैष्ठिक भक्तों का संस्मरण, तथा सहज भावुक अर्जुन की भावुकता का स्वरूप–दिग्दर्शन, और भगवान् के द्वारा तन्नियन्त्रण .... ,,
५५४–नियन्त्रण के अभाव से भारतीय भावुक–मानवों की भावुकता के द्वारा त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में उत्तरोत्तर पराभव ६६३
५५५–'कर्त्तव्यनिष्ठा' वाक्य के '**कर्त्तव्य**' पर्व की प्रकृतिपरायणता, एवं '**निष्ठा**' पर्व की पुरुष–परायणता, तथा कर्त्तव्य, और निष्ठा के साङ्कर्य्य से '**अहन्ता**' का उदय.... .... ,,
५५६–अहन्तामूला–प्रत्यक्षप्रभावात्मिका–भूतजड़ता के द्वारा कर्त्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की–'**विमूढ़ता**', एवं कर्त्तव्यच्युत की '**मूढ़ता**' ६६४
५५७–परदुःखकातर, अतएव दिग्देशकालविमूढ़ अर्जुन–समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप .... ,,
५५८–मोहासक्त, अतएव 'मूढ़' उपाधि–विभूषित परदुःखकातर भावुक–मानवश्रेष्ठों के सम्बन्ध में श्रुति के उद्गार ६६५
५५९–कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा '**मूढ़ावस्था**', हीनकर्त्तव्यरूपा विमूढ़ता, एवं '**मा ते व्यथा**', '**माच विमूढ़भावः**' का संस्मरण .... ,,
५६०–धर्म्मभीरु–आस्तिक–भावुक की आद्यन्ता दुःखनिमग्नता, एवं तदनुगामी-भक्तों का भी तथा-गतित्व, किंवा '**तथागतत्त्व**' ... . ,,
५६१–ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-भीरु, मान्यताभावों में नितान्त भीरु, भावुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक-शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र ६६६
५६२–कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यामुग्ध मानव की तमोगुणान्विता जड़ता, एवं तद्द्वारा भीषण अकाण्ड-ताण्डव ... ... ,,
५६३–धर्म्मभीरु भावुक अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन, एवं इनकी धर्म्म-निष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती भ्रान्ति ... ... ,,

५६४–धर्म, तथा नीति का व्यवच्छेदात्मक भीषणतम महाभारतयुग, एवं धर्म्माभिनि-विष्ट भावुक अर्जुन, और नीत्यभिनिर्विष्ट कुनैष्ठिक दुर्य्योधन ६६७
५६५–'ईश्वरनिष्ठा' त्मिका सहज-'कर्त्तव्यनिष्ठा' का स्वरूप-दिग्दर्शन, तदभिन्ना 'शास्त्रनिष्ठा', तद्रूपा 'धर्म्मनिष्ठा', एवं दनुगत पुरुष-प्रकृति-समन्वयात्मक द्वन्द्वों का निर्विरोध-व्यवस्थापन .... ,,
५६६–दिग्देशकालधर्म्मों का समादर, एवं तदनुगत-'यत्किञ्चित्' संशोधन .... ,,
५६७–दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्थपरम्पराओं की अभिव्यक्ति ६६८
५६८–दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक ही मानव का तद्व्यामोहन से सम्भावित आत्मत्राण .... ,,
५६९–दिग्देशकाल के मर्म्मज्ञ, अवसरवादी दुर्य्योधन की धर्म्मशून्या नैतिक-कुशलता, एवं तद्द्वारा लाभान्वित दुर्य्योधन के लोकवृत्त का नीरक्षीरविवेक ६६९
५७०–आततायी दुर्य्योधन के द्वारा भगवान् से प्राप्त 'युद्धसहायता' के सम्बन्ध में धर्म्मशील-मानवों का विकम्पन .... ,,
५७१–ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिह्य निद-र्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म्म ६७०
५७२–'**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' का संस्मरण, प्रकृतिपरिपाकानुगत भौतिक-दण्ड, एवं तत्सम्बन्ध में कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति .... ,,
५७३–धर्म्माचार्य्यों के द्वारा कुनैष्ठिकों की भ्रान्तिपरम्पराओं का स्वरूप-विश्लेषण .... ,,
५७४–मानवतासुलभ क्षणिक उद्बोधन की उपेक्षा कर बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक का अन्ततोगत्वा बुद्धिशून्यता-लक्षण नाशक्षेत्र पर अवसान ६७१
५७५–भौतिकदण्ड के समतुलन में बौद्धिकदण्ड-विधान की भयावहता .... ,,
५७६–बौद्धिकदण्डानुभूति से अपरिचित जड़भूतवादी मानव की अन्तिम-अवस्थानुगता-'त्राहि माम्' लक्षणा करुणगाथा .... ,,
५७७–दुर्य्योधन, तथा अर्जुन को प्रदत्त सहायता के सम्बन्ध में दिग्देशकालभावानु-बन्धी ऊहापोहों का तथ्यात्मक-स्वरूप-समन्वय .... ,,
५७८–कुनैष्ठिक की धृष्टतापूर्णा अवसरवाणी का मूलोच्छेद, एवं भगवान् के द्वारा उभयपक्ष को साहाय्य–दान ६७३
५७९–कुनैष्ठक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य से ही अन्ततोगत्त्वा इनका समूल–विनाश ६७४
५८०–भगवत्सत्ता के समान–दायादभोक्ता देवता, और असुर, एवं तत्क्षेत्रानुगता भगवत्सत्ता के स्वाभाविक अनुग्रह का समन्वय ६७५
५८१–संवित्-मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला भावुकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति-पुरुष-निबन्धन स्वरूपों का समन्वय ६७६
५८२–प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषमा समस्या .... ,,

५८३–विषमावस्था की उपक्रमरूपा मूढ़ता, उपसंहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप दिग्-दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढता' का ही प्राचुर्य्य ६७७
५८४–मूढ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिणति, तत्परिणामभूता उग्रकर्म्मानुगति .... ,,
५८५–लोकक्षोभप्रवर्त्तिका जड़तानिबन्धना कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में ऐतिह्य उदाहरण .... ,,
५८६–आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढता से संरक्षण ६७८
५८७–भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण .... ,,
५८८–अव्ययात्मनिबन्धन अस्तित्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अव्ययास्तित्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्य्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य-अविचिकित्स्यभावों का दिग्दर्शन .... ,,
५८९–कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहेणैव भावुक की सन्निष्ठाप्रवृत्ति ६८०
५९०–नियन्त्रणात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर 'बुद्धियोग' .... ,,
५९१–दिग्देशकालात्मक लौकिक–बुद्धिवादात्मक 'बुद्धियोग', तथा दिग्देशकालातीत-अलौकिक–अबुद्धियोगात्मक–'बुद्धियोग' के स्वरूपों का तात्विक निदर्शन ६८१
५९२–कर्त्तव्यनिष्ठात्मक–अबुद्धियोगात्मक–'बुद्धियोग' से अनुप्राणिता **कालातीता-स्थिति, अनन्तकालगति, अनन्तकालस्थिति**–रूपा भावत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप–समन्वय .... ,,
५९३–आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप-समतुलन ६८२
५९४–सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, ताथ–**'कालं कालेन पीड़यन्'** का संस्मरण .... ,,
५९५–**'कालं कालेन पीड़यन्'** सूत्र के तत्त्वात्मक समन्वय ६८३
५९६–दिग्देशकालत्रयी से उत्पीड़ित भूत–भौतिक–पदार्थ, एवं तद्द्वारा भावुक मानव का कालिक–उत्पीड़न .... ,,
५९७–अमूर्त्तकाल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्त्तकाल, ... ६८४
५९८–मूर्त्तकाल से निरन्तर उत्पीड़ित–भयत्रस्त–शङ्कातङ्कितमानस मूर्त्त–भौतिक–पशुसर्ग .... ,,
५९९–आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से असंस्पृष्ट, अतएव 'आत्मरक्षाधर्म्म से पराङ्मुख पशुसर्ग की दिग्देशकालनिबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
६००–पशुसर्गासक्त भावुक मानवों के द्वारा मानव के स्वरूप–समतुलन की महती-भ्रान्ति, एवं तन्निवृत्ति की मङ्गलकामना ६८५
६०१–अनन्तकालात्मक महान् भय के स्वरूपबोध से ही सादि–सान्त दिग्देशकाल–भयों से सम्भावित आत्मत्राण, एवं 'महद्भय' का माङ्गलिक-संस्मरण .... ,,

६०२–प्राकृत-विश्व से अनुप्राणिता भावुकतापूर्णा-'भूल' के विविध शाखा-प्रशाखा-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्त्युपाय-प्रदर्शन ... ६८६
६०३–मानव के आत्मबुद्धिनिष्ठ महान् मानव–स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण भूलों का शरदभ्रवत् विलयन ६८७
६०४–सर्गात्मक पशुसर्ग, तथा असर्गात्मक मानवसर्ग के तत्त्वविवेक–अनुग्रह से आत्मबोधोदय, तदनुग्रह से अभयब्रह्म का संस्पर्श, एवं-'अभयं वै ब्रह्म' का संस्मरण ... ,,
६०५–दिग्देशकालात्मक– भयों से असंस्पृष्ट अभयमूर्त्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक–संस्मरण ६८८
६०६–सृष्टि के आरम्भ से अद्यावधि पर्य्यन्त प्रक्रान्त विरोधी तत्त्वों को निष्फल प्रमाणित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक–संस्मरण ... ,,
६०७–ब्रह्मास्त्र-वारुणास्त्र-आग्नेयास्त्र-वायव्यास्त्रादि-महाभारतयुगीय संहारक महतोमहीयान् प्राकृतिक-विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित-महान् मानव ६८९
६०८–सौभविमान-हर्य्यश्वविमान–नगरविमान-आदि देवयुगीय भौतिक वैज्ञानिक अद्भुत आविष्कारों का उपहास करते रहने वाला चिरपुरातन-चिरनूतन-महान् नैष्ठिक-मानवश्रेष्ठ ... ... ,,
६०९–मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्त्तकाल, एवं नियन्त्रित–मूर्त्तकालानुबन्धी इष्टकामधुक्–विश्वशान्तिकर इस का 'यज्ञविज्ञान' ६९०
६१०–कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय–हिन्दू–मानव की अनन्ता मानवता के साथ आज के दिग्देशकालासक्त मानवों का समतुलन— .... ,,
६११–आत्मधृतिपरायण, सुसांस्कृतिक–भारतीय हिन्दू–मानव के सम्बन्ध में दिग्देशकाल–भ्रान्ता–प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निराकरण, एवं इस की महती निष्ठा का संस्मरण ६९१
६१२–सनातन–भारतीय-हिन्दू–मानव की सनातना संस्कृति, सनातना शिष्टता, तदनुप्राणिता धृति, एव तदनुग्रह से ही इस के सांस्कृतिक-कालातीत स्वरूप का सुरक्षित सनातन-प्रवाह .... ,,
६१३–'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः-कालं कालेन पीड़यन्' का संस्मरण ६९२
६१४–'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ६९३
६१५–मानवीय–वचन के–'सः'–'माम्'–'इदं सर्वम्' पदों का तत्त्वार्थ–समन्वय ६९४
६१६–'कालं कालेन पीड़यन्' वाक्य का रहस्यात्मक समन्वय .... ,,
६१७–कालपुरुष के प्रकृतिनिबन्धन विविध महिमा–विवर्त्तों का तात्त्विक–संस्मरण ....
६१८–अनन्त से सतत उत्पीड़ित अन्त की अन्ततोगत्त्वा अनन्तता में परिणति, एवं तत्–सम्बन्ध में आचारात्मक पक्ष का स्वरूप-दिग्दर्शन ६९५

६१९–प्रकृतिसिद्ध–उत्तरदायित्वपूर्ण–स्वधर्म्मात्मक–कर्त्तव्य–कर्म्म के द्वारा सतत कालोत्पी-
ड़न से ही उत्पीड़ककाल की पीड़ाप्रवृत्ति का उपशम ६९६
६२०–कर्तव्यकर्म्म की स्वरूप-परिभाषा ... . ,,
६२१–कर्तव्यकर्म्मस्वरूपपरिचायिका, 'काल' कालेन पीड़यन्' मूला अनुशीलनात्मिका–
नितान्तमववेया 'शतसूत्री' ....
६२२–अनुशीलनामित्का 'शतसूत्री' से अनुप्राणित, दिग्देशकालस्वरूपमीमांसानुगत प्रति-
ज्ञात 'यत्किञ्चित्' संशोधन की समन्वय-निष्ठा से समन्विता मानव की कृतकृत्यता,
एवं दिग्देशकालानुगत माङ्गलिक–संस्मरणपूर्वक प्रतिज्ञात निबन्धोपराम ७०१

दिग्देशकालस्वरूपमीमांसानुगत–'आचारात्मक'
तृतीय–प्रकरण की संक्षिप्ता विषयसूची—
उपरत

३

——*——

उपरता चेयं–दिगदेशकालस्वरूपमीमांसा–खण्डस्य
संक्षिप्ता–विषयसूची

——*——

इति–शम्

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक–"भारतीय–हिन्दू–मानव, और उसकी भावुकता"

नामक–उद्बोधनात्मक–सामयिक–निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–नामक

चतुर्थखण्ड

४



श्रीः

मानवोक्थवैराजिक–ब्रह्मोद्य–मानवाश्रम (दुर्गापुरा) की प्रकाशनसूची–

(ले० मोतीलालशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः)



१—ईशोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमखण्ड	१२)
२—ईशोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–द्वितीयखण्ड	१२)
३—गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड	१३)
४— „ 'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड	१३)
५— „ 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड ★	१५)
६— „ 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड ★	१५)
७—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड	१२)
८—श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड	२०)
९— „ 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड	१५)
१०—संस्कृति, और सभ्यता, शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा	२५)

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक–प्रकाशनविभाग–
'मानवाश्रमविद्यापीठ', दुर्गापुरा
जयपुर (राजस्थान)

★–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ पुनः प्रकाशन–सापेक्ष हैं।

श्रीः

श्रीं तत्–सद्–ब्रह्मणे नमः

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' (चतुर्थखण्ड)

तत्र--'दिग्देशकालानुगत--पारिभाषिक--प्रकरण' नामक--प्रथम--प्रकरण

१

१–माङ्गलिकसंस्मरणम्––

१—कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

२—सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

३—पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥

४—स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्य्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां "तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः" ॥

५—कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

६ कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्य्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥

७—काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥

८—काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
"कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः" ॥

९—तेनेषितं तेन जातं 'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

१०—कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥

११—कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो 'दिशः'।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले नि विशते पुनः ॥
१२—कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥
१३—कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥
१४—कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥
१५—कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ॥
"सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः"

—अथर्वसंहिता १६ काण्ड। ६ अनुवाद। ५३–५४ सूक्त।

२–कालपुरुष से अपराध–क्षमापन, एवं तत्स्वरूपोपक्रम—

कालातीत महाकाल का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए आज हमें दिग्–देश–प्रवर्त्तक उस कालपुरुष की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ रहा है, जो कालपुरुष अपनी 'अनन्तप्रतीकता' के कारण मादृश कालानुगत प्राकृत भावुक मानवों के लिए सर्वथा अमीमांस्य, अतएव अनिर्वचनीय ही घोषित हुआ है। अनन्त कालपुरुष के एक क्षुद्र बिन्दुमात्र में प्रतिष्ठित, कालकवलित, कालोपासक, कालिक-दैशिक-दिगनुबन्धाबद्ध मानव अपने उपास्य अनन्तकाल के स्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्ति का साहस करे, यह इसकी धृष्टता ही तो मानी जायगी। यह सबकुछ जानते हुए भी, अनुभव करते हुए भी अपनी कालिक–दैशिक अन्यान्य प्राकृतिक धृष्टताओं का सतत अभ्यासी मानव यदि केवल औपासनिक- पद्धति के माध्यम से अपने इस अनन्तप्रभव की भी स्वरूपजिज्ञासा की धृष्टता में प्रवृत्त होता है, तो यह उसका अक्षम्य अपराध उसी प्रकार नहीं माना जायगा, जैसे कि एक अबोध शिशु जलपूर्णपात्र में प्रतिबिम्बित त्रैलोक्य व्यापक सूर्य्य के प्रतीक के माध्यम से सूर्य्यस्पर्श की धृष्टता करता हुआ भी अपराधी नहीं माना जाता। धृष्टताजनिता इस अपराधक्षमापन की भावना को मूल बनाते हुए ही, एकमात्र 'कालपुरुष' के अनुग्रह से ही कलिकालवात्याहित प्रक्रान्त दुर्दान्त काल के निबिड़ पाश से आबद्ध–सुबद्ध हो जाने वाले भावुक मानवों के स्वरूपोद्बोधन के लिए ही, उनको कालातीतभाव का अनुगामी बनाने के लिए ही दिग्–देश–गर्भिता यह 'कालस्वरूपमीमांसा'-प्रक्रान्त हो रही है। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

३–'काल' का शाब्दिक निर्वचन—

जैसा कि तृतीयखण्ड के उपक्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, "प्रत्येक तत्त्व, किंवा पदार्थ की स्वरूप-मीमांसा तत्तत्त्ववाचक, तत्पदार्थवाचक मौलिक सांस्कृतिक शब्द के अर्थ में ही अन्तर्निगूढ रहती

है" । अतएव स्पष्ट है कि, 'काल' की स्वरूप–मीमांसा का चिरन्तन इतिहास (काल का मौलिक स्वरूप) भी कालतत्त्व–वाचक 'काल' शब्द के गर्भ में ही प्रच्छन्न है । अतः इस शब्द के माध्यम से ही हमें काल के मौलिक-स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त होना चाहिए । 'प्रकृति' मात्र के 'प्रत्यय' (ज्ञान) से अनुराग रखने वाले वैय्याकरणोंनें संख्यानार्थक, एवं शब्दार्थक 'कल' धातु ('कल' **संख्याने, शब्दे** च-भ्वा० आ० से०) से कर्म्म में 'घञ्' प्रत्यय का सम्बन्ध मानते हुए '**कालः**' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति मानी है, जिसका निर्वचन हुआ है '**काल्यते–स कालः**' । '**एयन्तात्-पचाद्यच्**' रूप से '**कालयति सर्वं यः-सः कालः**' भी इसी काल शब्द का निर्वचनान्तर है । अक्षरार्थ इन निर्वचनों का स्पष्ट है । "जो तत्त्व सम्पूर्ण भूत भौतिक पदार्थों का **अयं घटः, अयं पटः-अयं मनुष्यः-अयं पशुः**-इत्यादिरूप से संख्यात्मक, तथा शब्दात्मक (नामात्मक) व्यवच्छेद (पार्थक्य) करता है, इस व्यवच्छेद के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को स्व–स्व पार्थक्य के लिए प्रेरित करता है, वही तत्त्व-विशेष 'काल' माना गया है । कोई भी पदार्थ इस कालसीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता ।

४–काल का दार्शनिक स्वरूप––

दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार काल उत्पद्यमान-उत्पन्न-यच्चयावत् पदार्थों का उत्पादक तत्त्व है, जिसके **निमेष-क्षण-दण्ड-मुहूर्त्त-प्रहर-अहः-रात्रि-पक्ष-मास-सम्वत्सर-युग** भेद से अनेक विवर्त्त माने गये हैं* । '**काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते । इत्थं च तस्याश्रयत्त्वमेव सम्यक्**' (सि० मु०) इत्यादि के अनुसार प्रतीयमान पदार्थों का आधारभूत सम्बन्धघटक तत्त्व, आश्रयभूत तत्त्व ही नव्यन्याय का कालपदार्थ है । नवपदार्थवादी काणादों के मतानुसार काल भी एकप्रकार का द्रव्य है÷। संख्या–परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–विभाग, ये काल के गुण–धर्म्म माने गए हैं दार्शनिक जगत् में, जिनके आचारात्मक स्वरूप से दार्शनिक-मान्यता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है । केवल तत्त्वमीमांसानुगता, अतएव सृष्टिसर्गात्मक आचारधर्म्म से सर्वथा असंस्पृष्टा इत्थंभूता दार्शनिक-मान्यता–से अनुप्राणिता कालस्वरूप की मीमांसा दार्शनिकों से ही सम्बन्ध रख रही है, जिसका नैगमिक–कालमीमांसा में कोई विशेष उपयोग नहीं है ।

५–काल का पौराणिक स्वरूप––

निगमशास्त्र में काल की जो स्वरूपमीमांसा हुई है, ज्ञानविज्ञानात्मक जो स्वरूप स्पष्ट हुआ है, नैगमिक तत्त्वों का आलङ्कारिक–बालोपलालनभाव से उपबृंहण करने वाले पुराणशास्त्र ने उसीका अपनी भाषा में जो स्वरूप–विश्लेषण किया है, उसका संक्षिप्त अक्षरार्थ–समन्वय यही है कि— "अतीत–वर्त्तमान–भविष्यत्–भेद से काल के तीन विभाग हैं । त्रिभावापन्न यह काल ही लोक का कलनात्मक व्यवच्छेद करता है । अपने

---

* जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥
—कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड–४५–४६–

÷–पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन–इति द्रव्याणि ।
—वै० सू० १।१।१।५।

व्यवच्छेदात्मक इस कलनधर्म्म से ही यह 'काल' कहलाया है। देवता–ऋषि–सिद्ध–किन्नर–आदि आदि सब इस काल के ही वशवर्त्ती हैं। यह काल साक्षात् भगवान् है, परमेश्वर है। सम्पूर्ण विश्व का उत्पादन-पालन-एवं विलयन इसी काल पर निर्भर है। परस्पर पृथक् रहने वाले पदार्थों के लिए काल समान है। यही सम्पूर्ण भूतों की सुषुप्ति है, यही जाग्रदवस्था है, एवं यही स्वप्नावस्था है। काल में ही कालान्तर में सब विलीन हो जाते हैं। अतएव यह दुरतिक्रम है। यथा हि—

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज ! ॥
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे, कालस्तथापरम् ॥१॥

—विष्णुपुराण १।२।१४।

अनादिनिधनः कालो रुद्रः सङ्कर्षणः स्मृतः ॥
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः ॥२॥

—तिथ्यादितत्त्वम्

कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च ॥
वर्त्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम् ॥
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥३॥
कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः ॥
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात् परमेश्वरः ॥४॥
सर्गपालनसंहर्त्ता स कालः सर्वतः समः ॥
कालेन कल्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥५॥
येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्यते कला ॥
सोऽन्तवच्च भवेत् कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥६॥
यः कर्म्मणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्त्तमानके ॥
सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः ॥७॥
येन मृत्युवशं याति कृतं येन लयं व्रजेत् ॥
संहर्त्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः ॥८॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ॥
कालः स्वपिति जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥९॥
काले देवा विनश्यन्ति काले आसुरपन्नगाः ॥
नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च काले सर्व्वं विनश्यति ॥१०॥

त्रिकालात् परतो ज्ञेय आगन्तुर्गतचेष्टकः ॥
तथा वर्षाहिमोष्णाख्यास्त्रयः काला इमे मताः ॥११॥
तथा त्रयोऽन्येऽपि ज्ञेया उद्यन्मध्यास्तरूपिणः ॥
सूक्ष्मोऽपि सर्व्वगः स वै व्यक्ताद्व्यक्ततरः शुभः ॥१२॥

——*——

६--स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ मानव का जन्म–साफल्य—

दिक्–देश-काल, इन सुप्रसिद्ध तीन शब्दों का चिरन्तन इतिहास ही 'विश्व' का चिरन्तन वैसा इतिहास है, जिस इतिहास के यथार्थ समन्वय के बिना मानव न तो अपने आत्मस्वरूप से (बुद्ध्यनुगत आत्मा की दृष्टि से) 'स्वस्थ' ही बन सकता, एवं न अपने प्रकृतिस्वरूप से (मनोऽनुगत शरीर की दृष्टि से) 'प्रकृतिस्थ' ही बन सकता। स्वस्थतानुगता प्रकृतिस्थता ही मानव का वह **पुरुषार्थ** है, जिस पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव प्रकृतिमूलक विश्वनिबन्धन **अभ्युदय** (लोकैश्वर्य्य) का, तथा आत्ममूलक विश्वेश्वर–निबन्धन **निःश्रेयस्** का, दोनों का अनुगामी बनता हुआ कृतकृत्य हो जाता है, एवं यही प्रजापतिनिर्दिष्ट परिपूर्ण मानव का जन्मसाफल्य है।

७–दिग्--देश--काल--निबन्धन चिरन्तन--इतिहास का मूलाधारभूत 'काल' शब्द —

नैगमिक सृष्टिसर्गव्याख्या की परम्परासिद्धा पद्धति के अभिभूत हो जाने से दिक्–देश–काल–शब्दों का चिरन्तन–परम्परासिद्ध इतिहास उस सीमापर्य्यन्त आज धूमिल बन चुका है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर मानव दिक्स्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ 'दिग्भ्रान्त' बन जाता है, प्रदेशस्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ 'देशच्युत' हो जाता है, एवं कालस्वरूप में प्रवृत्त होता हुआ कालान्तर में 'कालकवलित' ही बन जाता है। और ऐसा ही कुछ घटित विघटित हो रहा है अपने इस चिरन्तन–इतिहास की पारम्परिक जीवनपद्धति से चलित–स्खलित भावुक मानव के सम्बन्ध में निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से। दिग्–देश–काल–विमूढ़ आज का मानव कभी दिक्–विदिक् का अनुधावन करता है, तो कभी देश–प्रदेश–प्रत्यन्त–प्रदेशों का अनुगामी बनता है, तो कभी भूत–भवत्–भविष्यत्–काल मीमांसाओं मे निमज्जित बना रहता है। दिग्–देश–काल–त्रयी का यह महान् व्यामोहन महा अभ्वरूप से यों मानव को सतत उत्पीड़ित किए हुए है। यही उत्पीड़न सहजरूप से नैष्ठिक भी मानवश्रेष्ठ को आज सर्वथा 'भावुक' बनाए हुए है। अपनी इसी भावुकता से आज का मानव दिग्देशकाल–विमूढ़ बनता हुआ भावावेशपूर्वक यथेच्छ कल्पनाओं का सर्ज्जन कर तन्माध्यम से निर्लक्ष्य-रूपेण इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है–सर्वथैव अपनी सहजसिद्धा भी मानवीय–शक्तियों को यातयाम ही प्रमाणित करता हुआ। अतएव मानवोद्बोधन से सम्बन्ध रखने वाले खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध में दिक्–देश–कालानुबन्धिनी विमूढ़ता से उद्बोधन प्राप्त करा देने का दृष्टि से इन तीनों शब्दों के उस चिरन्तन इतिहास का दिग्दर्शन करा देना भी प्रासङ्गिक ही बन जाता है, जिस चिरन्तन इतिहास का मूलाधार 'काल' शब्द ही माना गया है।

८–भूत--भवत्--भविष्यत्--रूपेण विवर्त्तत्रयात्मक 'काल', और 'समय'—

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, 'काल' शब्द अपने शाब्दिक निर्वचन से **संख्या**, एवं **शब्द**, इन दो भावों से नित्यसम्बद्ध है। यही कालशब्द लोकव्यवहारभाषा में–'**समय**' नाम से प्रसिद्ध है। एवं इस 'समय' नामक काल के सर्वसाधारण की मान्यता में '**भूत–भवत्–भविष्यत्**' ये तीन विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। **कल, आज**, कल, रूप से उपवर्णित त्रिधा विभक्त 'समय' से प्रायः आबालवृद्धवनिता सभी सुपरिचित हैं। "कल (भूत) की वातें कल थीं, आज (भवत्) की बातें आज हैं, एवं कल (भविष्यत्) की बात कल देखी जायगी"–इसप्रकार से 'समय' नामक काल के ये तीनों विवर्त्त सार्वजनीन बने हुए हैं। सभी तो समय से, समय के तीनों विवर्त्तों से सुपरिचित हैं। फिर इस के सम्बन्ध में जानने जैसा और रह क्या जाता है?, जिस के लिए हम आज एक स्वतन्त्र निबन्ध का अनुगमन करने जारहे हैं।

९–कालानुबन्धी--'समयः' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय—

गत्यर्थक '**इण्**' धातु ('**इण्**' **गतौ अ. प. अ.**) ही '**अच्**' प्रत्यय के द्वारा '**सम्**' उपसर्ग के सम्बन्ध से '**समयः**' रूप में परिणत हुआ है, जिस का अर्थ है -'**समेति**', किंवा '**सम्यक् एति**'। ठीक ठीक रूप से जो तत्त्व गतिशील बना रहता है, वही '**सम्यक्–एति–गच्छति**' रूप से 'समयः' है। अर्थात् व्यवस्थित–क्रमसिद्ध गतिमान् पदार्थ ही 'समय' है। इसी के भूत–भवत्–भविष्यत्–नामक तीन विवर्त्त हैं। कालसूचक इन तीनों शब्दों का मूलाधार 'भू' धातु है, फिर वह सत्तार्थक हो, अथवा तो प्राप्त्यर्थक हो। सत्ता ही प्राप्ति का आधार है। किंवा सत्ता ही उपलब्धि का कारण बनती है, एवं उपलब्धि को ही 'प्राप्ति' कहा गया है, जैसाकि–'**यदि स्यादुपलभ्येत**' इत्यादि से स्पष्ट है। '**अस्तीत्येवोलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति**' (कठोपनिषत्) इत्यादि श्रुति स्पष्ट ही '**अस्ति**' रूप '**सत्ताभाव**', और उपलब्धिरूप 'प्राप्तिभाव', दोनों की अभिन्नता प्रमाणित कर रही है। सत्तार्थक, किंवा प्राप्त्यर्थक 'भू' धातु से 'क्त' प्रत्यय के द्वारा '**भूतम्**' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, शतृप्रत्यय के द्वारा '**भवत्**' का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, एवं शतृ–स्यट् के द्वारा '**भविष्यत्**' की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। तात्पर्य्य–व्यवस्थित, क्रमसिद्ध गतिभाव की विभिन्न तीन अवस्थाओं का नाम ही क्रमशः भूत-भवत्-भविष्यत् है। गतिभाव ही पदार्थ का स्वरूप है, यही पदार्थ का अस्तित्त्वस्वरूप-परिचायक है। अस्तिस्वरूपपरिचायक गतिभाव अस्तिलक्षणा 'सत्ता' से अभिन्न है। अतएव एति-समेति-लक्षण गतिभावरूप 'समय', एवं गतिभावानुबन्धी सत्ताभावात्मक 'भूः', तथा तदनुबन्धी भूत–भवत्–भविष्यत्, अभिन्न तत्त्व हैं। फलतः जो अर्थ 'समय' का है, वही समय के विवर्त्तरूप भूत–भवत्–भविष्यत्–भावों का प्रमाणित हो रहा है। शेष रह जाता है–'काल' शब्द। गतिभाव ही पदार्थव्यवच्छेद का, तदनुगत एकत्व–द्वित्त्वादि संख्याभाव का कारण बनता है। एवं गतिभाव ही वस्तुनाम का संग्राहक बनता है, जो कि '**नाम**' '**शब्द**' कहलाया है। इसप्रकार संख्या, एवं शब्द, दोनों भाव भी परम्परया गतिभाव में हीं समाविष्ट हैं। और यों संख्या, तथा शब्दभावसूचक 'काल' शब्द भी गतिभावसूचक 'समय' शब्द से अभिन्न प्रमाणित हो रहा है। एवं इसी समन्वयदृष्टि से अब यह कहा, एवं माना जा सकता है कि–गतितत्त्व का ही नाम 'काल' है, यही 'समय' है, एवं इसी के भूतादि तीन कालानुबन्धी विवर्त्त हैं।

१०–कालतत्त्व के आनन्त्य की महामहिमशालिता––

काल का पूर्वरूप भी यदि 'कल' भाव से आक्रान्त है, उत्तररूप भी यदि 'कल' भाव से आक्रान्त है, तो मध्य का 'आज' भी पूर्वोत्तर के 'कल' से संदंशपतित होता हुआ 'कल' भाव से पृथक् नहीं रह सकता, नहीं माना जासकता। फलतः भूतात्मक 'कल', भवदात्मक 'आज', एवं भविष्यदात्मक 'कल', तीनों का अन्ततोगत्त्वा अनवच्छिन्नरूपेण प्रवाहित गतिभावात्मक 'समय' के संग्राहक 'कल' भावात्मक 'काल' की सीमा में ही अन्तर्भाव संसिद्ध हो जाता है। और यही अपने कल–आज–कल (भूत–भवत्–भविष्यत्) रूप सोपाधिक विवर्त्तभावों से सीमितवत्–परिच्छिन्नवत्–प्रतीयमान भी इस कालतत्त्व की महामहिमशालिता है, जिसे आधार बना कर ही हमें दिग्देशकालस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होना है। अपनी स्थूलदृष्टि से सर्वथा सुगम भी प्रतीयमान, सर्वसामान्य के लिए 'काल'–'समय'–'भूतादि' रूप से सुलभ, तथा परिगृहीत भी 'काल' सचमुच अपनी '**अनन्तप्रतीकता**' से दुरधिगम्य, एवं दुरतिक्रम ही प्रमाणित हो रहा है। इत्थंभूत कालपुरुष को मुहुर्मुहुः नमन करते हुए ही कालचक्रानुगत यह भावुक जन अपनी आराध्या महाकाली की साक्षी में हीं तदभिन्न महाकाल की स्वरूपमीमांसात्मिका धृष्टता में प्रवृत्त होता हुआ अपराधक्षमापन से अपने आप को समन्वित मान रहा है।

११--भूत--भविष्यत्- कालों की अनन्तता, एवं वर्त्तमानकाल की सादि--सान्तता—

आप ऐसा कहते हैं कि,–"वर्त्तमान काल हमारे सम्मुख है। हम वर्त्तमानकाल का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। भूतात्मक अतीतकाल भी हम से सर्वथा परोक्ष बन चुका है, एवं भविष्यात्मक आगामीकाल भी हम से परोक्ष ही बना हुआ है"। भूतात्मक अतीतकाल आप से परोक्ष है, अतएव आप उसकी 'इयत्ता'–'स्वरूप'--'परिमाण' बतलाने में असमर्थ हैं। भविष्यात्मक आगामी काल भी आपकी अनुभूति से पृथक् रहता हुआ आपके मानसिक मापदण्ड से बहिर्भूत है। तो इसका तात्पर्य्य हमें यह समझ लेना चाहिए कि, भूतकाल, तथा भविष्यत्काल तो आपकी दृष्टि में अपरिमित बनता हुआ अनन्त, अतएव अविज्ञेय है। सादि-सान्त, अतएव विज्ञेय है आपके लिए मध्यस्थ वर्त्तमानकाल।

१२–अवलोकित दृश्यजगत् की वर्त्तमानकालता—

क्या स्वरूपलक्षण करते हैं आप अपने इस प्रत्यक्षदृष्ट–अनुभूत सादि-सान्त वर्त्तमानकाल का ?। इस लक्षणसमन्वय के गर्भ में हीं दिग्देशकाल का चिरन्तन इतिहास गर्भीभूत है। हाँ, तो अन्वेषण कीजिए स्वरूपलक्षणात्मक लक्षण का !। 'वर्त्तमानकाल' के साक्षात्कार करने का एकमात्र मुख्य साधन है आपके शारीरिक कोश में 'चक्षुरिन्द्रिय'। सुषुप्ति का परित्याग कर प्रातः उदयवेला में जब भी आप आँखें खोलते हैं, तो आप की आँखों के सम्मुख प्राकृतिक विश्व का समष्ट्यात्मक, तथा व्यष्ट्यात्मक स्वरूप उपस्थित हो जाता है। अपना प्रासाद, प्रासादावस्थित अन्य पारिवारिक जन, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म, पृथिवी, सूर्य्य, आकाश, अग्नि, वायु, आदि आदि सम्पूर्ण चर अचर पदार्थ आपके सम्मुख व्यक्त होपड़ते हैं। और इस व्यक्तीभाव के आधार पर ही तो आप 'वर्त्तमानकालप्रत्यय' से अपने आपको समन्वित मानते हैं। कल्पना कीजिए, यदि आपको कुछ भी प्रतीत न हो, तो क्या उस अवस्था में भी आप 'वर्त्तमान' का अभिनय कर सकेंगे ?। नहीं, कदापि नहीं। तो आपके कथनानुसार ही–अब हमें यह मान लेना चाहिए कि,–"**चक्षु-**

रिन्द्रिय के माध्यम से अवलोकित चर अचरात्मक विविध दृश्यजगत् ही हमारे लिए वर्त्तमान-काल है"।

१३--अवलोकन-लोचन, और आलोक का समन्वय—

'**अवलोकित**' का सम्बन्ध हुआ '**लोचन**' से। क्या घोरघोरतम निबिड़ अन्धकार में भी आपके लोचन तथाकथित 'वर्त्तमान' का 'अवलोकन' करने की क्षमता रखते हैं?। नहीं। क्यों?। आप यही तो समाधान करेंगे कि,-"लोचन से तबतक अवलोकन सम्भव ही नहीं, जबतक कि दृश्यजगत्, तथा द्रष्टा लोचन (चक्षु), दोनों के मध्य में किसी '**आलोक**' को साक्षी नहीं बना लिया जाता। **आलोक की मध्यस्थता से ही हमारे लोचन** अवलोकन **में समर्थ होते हैं**। और तभी हम 'वर्त्तमानकाल' के स्वरूपाभिनय में समर्थ बनते हैं। यथार्थ है-यदि रात्रि है, तो लोचन को अवलोकन के लिए नक्षत्र-चन्द्रमादि के आलोक-माध्यम की अपेक्षा है। यदि नक्षत्र-चन्द्रमादि का आलोक मेघावरणादि, तथा प्रासादभित्यावरणादि के द्वारा आवृत है, तो दीप-विद्युतादि आलोक-माध्यम की अपेक्षा है। यदि रात्रि नहीं है, तो क्या होता है?। भगवान् सूर्य्यनारायण अपने सहस्रांशु से आलोकित रहते हुए रोदसीविश्व के यच्चयावत् चराचर पदार्थों को अलोकित कर देते हैं, प्रकाशित कर देते हैं।

१४-सौरलोकानुगत अवलोकन, और लोकसाक्षी सूर्य्यनारायण—

इसी सौर आलोक से आपके लोचन अहःकाल में सभीकुछ देखने में समर्थ बन जाते हैं। नक्षत्र-चन्द्रमादि का आलोक, एवं दीपक-विद्युतादि का आलोक भी, विश्वास कीजिए! इसी सौर आलोक की ही की महिमा है। इसी आलोकमात्रा से ये आलोकित हैं, प्रकाशमान हैं। और यों अन्ततोगत्त्वा सौर आलोक ही आपके लोचन से प्रतिफलनरूपेण सम्बद्ध होता हुआ आपको अवलोकनदृष्टि प्रदान कर रहा है। 'अव-लोकन' ही तो 'लोक' का स्वरूप-परिचायक है। **अवलोकन, लोक, आलोक**, सबकुछ एक ही सौरज्योति के विविध महिमारूप हैं। तभी तो सूर्य '**लोकसाक्षी**' नाम से प्रसिद्ध है। यों अन्ततोगत्त्वा आप अपने प्रत्यक्ष दृष्टानुभूत 'वर्त्तमानकाल' को 'सौर आलोक' पर ही प्रतिष्ठित मान रहे हैं, मान ही लेना पड़ेगा। '**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'।

१५--वर्त्तमानकालात्मक सौरकाल, और त्रयीमय त्रिगुणमूर्त्ति सूर्य्यनारायण—

आप केवल अपने लोचनबल से अवलोकनात्मक वर्त्तमानकाल के दर्शन-अनुभव में तबतक सर्वथा असमर्थ हैं, जबतक कि आपके लोचन सौर आलोक से समन्वित नहीं हो जाते। क्या इसी से यह भी संसिद्ध नहीं होगया कि, सौर आलोकमण्डल ही वस्तुगत्या 'वर्त्तमानकाल' है। यही वह '**सृष्टिकाल**' है, जिसका मनीषी विद्वानोंनें '**पुण्याहकाल**' रूप से संस्मरण किया है। यही सौर पुण्याहकालात्मक वर्त्तमान सृष्टिकाल हमारा, आपका, यत्किञ्च जगत्यां जगत्, सबका आधार-आवपन-आयतन-आलम्बन-प्रतिष्ठा, तथा उक्थ बना हुआ है। इसी वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यनारायण को आधार मानकर हमें दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है, '**त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः**' इस माङ्गलिक संस्मरण के साथ।

१६--जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः—

'**जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः**' से उपवर्णित काल वह क्रमसिद्ध 'काल' है, जिसकी सीमा में एक-दश-शत-सहस्र-लक्ष-कोटि-अर्बुद-खर्बुद-न्यर्बुद-परम-परार्ध्य-संख्याएँ कलनरूप से,

क्रमरूप से सुव्यवस्थित हैं। यह संख्यानुगत क्रम ही हमें इस आलोकात्मक, किंवा अवलोकनात्मक क्रमसिद्ध काल का स्वरूप-परिचय कराता है। अतएव इस संख्यानुगता क्रमधारा को ही हम 'काल' कहा करते हैं, जो कि काल क्रमसिद्ध है, जिसका कि सौर आलोकात्मक सृष्टिकाल से, तद्रूप पुण्याहकाल से, एवं तद्रूप वर्त्तमान काल से ही सम्बन्ध है।

१७-संख्यानुगत क्रमभाव, एवं क्रमधारात्मिका कालव्यवस्था—

भूत, और भविष्यत्रूप से अनाद्यनन्त बने रहने वाले, अतएव सर्वथा '**अमूर्त्त**' भावापन्न महाकाल के गर्भ में तत्प्रतीकरूप से व्यक्त होपड़ने वाला एक से आरम्भ कर परमपरार्ध्यरूपा क्रमसंख्या से असंख्य, किन्तु निर्णीतसंख्यात्मक–कलाभावों से कलनभाव में परिणत होजाने वाला सौर आलोकात्मक वर्त्तमानकाल ही वह क्रमसिद्ध, अतएव कलनात्मक सादि-सान्त-मूर्त्तकाल है, जिसके माध्यम से ही मानव अनन्त के साक्षात्कार में समर्थ होता है। क्रमसंख्यासिद्ध इस सौर आलोकात्मक वर्त्तमानकाल का ही नाम '**ज्योतिः-कालात्मक**' काल है, जिसे ज्योतिर्विदोंनें **सम्वत्सर-अयन-मास-पक्ष-अहोरात्र-मुहूर्त्त-क्षिप्र-एतर्हि-इदानि-प्राण-अन-निमेष–लोमगर्त्त–स्वेदायन**–आदि रूप से व्यवस्थित मानकर कालगणात्मक खगोलचक्र की व्यवस्था की है।

१८--संख्यात्मक कलाभावों से क्रमसिद्ध काल की स्वरूपनिष्पत्ति, तथा क्रमगणनासिद्ध काल की मूर्त्तता—

गणना से संसिद्ध इत्थंभूत कालचक्र ही वह 'मूर्त्तकाल' है, जिसे आधार बनाकर आर्ष मानव के सम्पूर्ण कर्म्मकलाप क्रमरूप से कालसाक्षी में हीं व्यवस्थित बना करते हैं। प्राकृत विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने आरम्भ के अव्यक्त मुहूर्त्त से आरम्भ कर अन्त के अव्यक्त मुहूर्त्त पर्य्यन्त के जीवनकाल में क्रमसिद्ध गणन के आधार पर, गणित के आधार पर ही '**जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति**' इन षड्भावविकारों से अनुप्राणित रहता है। गणित ही भौतिक विश्व का समष्ट्यात्मक व्यष्ट्या--त्मक वैसा मूलाधार है, जिसे आधार बनाकर मानव गणनसिद्ध व्यवस्थित गतिभावात्मक मूर्त्तकाल के माध्यम से अमूर्त्त अनन्तकाल की साक्षी में कालातीत आत्मभाव की उपलब्धि में समर्थ बन जाया करता है।

१९--सादि--सान्त--मूर्त्त-भावापन्न वर्त्तमानकाल के अवच्छेदक भूत--भविष्यत्--कालों की अमूर्त्तता, एवं अनन्तता—

"**वर्त्तमानकाल जहाँ सादि-सान्त-काल है, मूर्त्तकाल है, वहाँ भूत, और भविष्यत्काल अनन्तकाल है, अमूर्त्तकाल है**" यह कहा गया है। व्यक्त पदार्थों का आवर्त्तनात्मक क्रमसिद्ध काल ही 'वर्त्तमानकाल' है। सूर्य्यानुगत आलोक ही पूर्वकथनानुसार व्यक्त पदार्थों की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला प्रतीति, प्रतीतिरूपा भाति, एवं भातिरूपा उपलब्धि (प्राप्ति-अवलोकन) का आधार बनता है। अतएव व्यक्तमूर्ति सौरकाल को ही हम 'वर्त्तमानकाल' कह सकते हैं, जिसका अर्थ है 'सृष्टिकाल'। सूर्य्योत्पत्तिकाल से आरम्भ कर सूर्य्यनिधनकालपर्य्यन्त सम्पूर्ण सौरकालविवर्त्त एक 'वर्त्तमानकाल' है। और यह सूर्य्यकालात्मक एक

वर्त्तमानकाल, किंवा सृष्टिकाल सर्वथा क्रमसिद्ध बना हुआ है। यह क्रमभावात्मक गणनभाव ही इस सूर्य्य-कालात्मक वर्त्तमानकाल की 'मूर्त्तता', तथा सादि-सान्तता है, जिस सादि सान्त-भाव की, मूर्त्तभाव की आधारभूमि स्वयं सूर्य्यगोलक ही बना हुआ है। सूर्य्यगोलक अवश्य ही कभी न कभी किसी नियत काल में उत्पन्न हुआ था। अतएव यह कभी न कभी अवश्य ही अपने इस प्रत्यक्षदृष्ट आलोकात्मक प्रत्यक्ष-मूर्त्तरूप (मूर्त्तिरूप) से विलीन हो जायगा। और उस अवस्था में आज (वर्त्तमान में) प्रत्यक्षरूपेण अवलोकित यह सर्वविध चर अचर प्रपञ्च अपने विलयनभाव में आता हुआ अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्द्देश्य उस तमोभाव में परिणत हो जायगा, जो कि तमोभाव सूर्य्य की अभिव्यक्ति से पूर्व विद्यमान था * (है)। सूर्य्याभिव्यक्ति से पूर्व की तमोभूता अव्यक्तावस्था ही 'भूत' नामक वह अव्यक्तकाल माना जायगा, जिसका कोई ओर छोर, आदि-अन्त-नहीं है। एवमेव सूर्य्यविलयन से उत्तर की तमोभूता अव्यक्तावस्था ही 'भविष्यत्' नामक वह अव्यक्तकाल कहलाएगा, जिसका भी कोई आद्यन्त नहीं है।

२०-अनन्ताव्यक्त--भूत-भविष्यत्-काल से परिगृहीत सादि-सान्त-व्यक्त भी वर्त्तमान-काल की अनन्तता का का समन्वय--

पूर्वावस्थानुगता भूतात्मिका अव्यक्तावस्था, एवं उत्तरावस्थानुगता भविष्यदात्मिका अव्यक्तावस्था, दोनों कहने को दो अवस्था हैं। मध्यस्था व्यक्तावस्था-(सूर्य्यसत्ताकालावस्था) के कारण ही एक ही अव्यक्तावस्था का अभिनय भूत-और भविष्यत्-रूप से हो रहा है। वस्तुतः यह एक ही अवारपारीण वैसा महान् अव्यक्त-भाव है, जो मूर्त्तभावानुबन्धी नामरूपभावों से पृथक्-अतीत रहता हुआ, सम्पूर्ण मूर्त्तभावों-नामरूपभावों-व्यक्तभावों-सादि सान्तभावों का तटस्थ कूटस्थ साक्षी बना रहता हुआ स्वयं अपने एक ही रूप से मध्यस्थ व्यक्त मूर्त्त सादि सान्त वर्त्तमान के अनुबन्ध से भूत और भविष्यत्-रूप से उपवर्णित होता हुआ सर्वथा अमूर्त्त-अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। और साथ ही भूत-भविष्यल्लक्षण अपने अप्रज्ञात-अनिर्द्देश्य-अलक्षण-अप्रतर्क्य-इत्थंभूत अमूर्त्त सम्पूर्ण अनन्तभाव को यह अनन्तकाल मध्यस्थ सादि-सान्त मूर्त्त व्यक्त सौर वर्त्तमान-काल से मानो अभिव्यक्त ही कर रहा है। वर्त्तमानकालात्मक सादि सान्त काल अवश्य ही भूत-भविष्यत्-कालात्मक अनाद्यनन्तकाल का अभिव्यञ्जक ही तो है। तभी तो केवल कहने सुनने मात्र के लिए क्रमसिद्ध-गणनसिद्ध प्रमाणित होता हुआ भी सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल अपने सुसूक्ष्म विस्तार से 'अनन्त' ही प्रमाणित हो रहा है।

'क्रमसिद्ध'-'गणनसिद्ध' आदि कहने सुनने मात्र से ही तो वर्त्तमानकालात्मक मूर्त्त-सादि-सान्त भी व्यक्तकाल की इयत्ता का परिग्रहण सम्भव नहीं है समूहालम्बनरूप से। जिस स्वेदायनकाल में अव्यक्तकाल से व्यक्तकालात्मक सूर्य्य का व्यक्तीभाव हुआ था, एवं जिस ब्राह्म अहोरात्र के अवसानात्मक स्वेदायनकाल में ही व्यक्तकालात्मक सूर्य्य अन्ततोगत्वा अव्यक्तरूप में परिणत हो जायगा, उस गणनात्मक सादि-सान्त मूर्त्तकाल की भी इयत्ता किसने की है सामूहिक रूप से ?, कर ही कौन सकता है ? । अतएव व्यक्तभावात्मक गणनसिद्ध भी,

---

* आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्द्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १।५)

क्रमसिद्ध भी वर्त्तमानकाल गणनातीत–क्रमातीत–अमूर्त्त–अनाद्यनन्त–भूतभविष्यल्लक्षण अनन्तकाल के आनन्त्य को, अनन्तस्वरूप को सर्वात्मना अभिव्यक्त करता हुआ स्वयमपि परमार्थतः 'अनन्त' ही प्रमाणित हो रहा है। **अव्यक्त की अनन्ता अभिव्यक्ति भी अनन्ता ही मानी गई है। अमूर्त्त-अनन्तकाल का मूर्त्त सादि सान्तरूप भी तत्त्वतः अमूर्त्त अनन्त ही माना जायगा।** क्योंकि जो मूर्त्त सादि–सान्त व्यक्त वर्त्तमानकाल पूर्वोत्तररूपेण उभयथा अमूर्त्त–अनन्त–अव्यक्त भूत–भविष्यत्–काल से पिनद्ध (सीमाबद्ध) है, वह वर्त्तमानकाल अपने तात्कालिक भाव से व्यक्त–मूर्त्त–सादि सान्त कहलाता हुआ भी तत्त्वतः अपने उपक्रमोपसंहारात्मक मूलभाव से अव्यक्त–अमूर्त्त–अनन्त ही तो है। वर्त्तमानकालात्मक प्रत्येक भूत (पदार्थ) जब कि अव्यक्तादि, एवं अव्यक्तनिधन है, तो उभयतः अव्यक्तपरिगृहीत मध्यस्थ व्यक्तभाव भी तत्त्वतः अव्यक्त-भाव की सीमा से पृथक् कैसे रह सकता है ? *।

२१–भूत का भविष्यत् में, एवं इन दोनों का वर्त्तमान में अन्तर्भाव, तथा भूत-भविष्यत् की महदक्षरमूला अनन्तता––

जो भूत, वही भविष्यत्। एवं भूत, और भविष्यत् के मध्यम में प्रतिष्ठित वर्त्तमान भी भूत, और भविष्यत् से अभिन्न। तो ऐसी स्थिति में क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि, 'भूत–भवत्–भविष्यत्–', तीन पृथक् शब्दमात्र हैं, जो किसी एक ही अनन्तभाव का यशोगान कर रहे हैं। वही भूत है, वही भवत् है, वही वर्त्तमान है। वही अमूर्त्त है, अनाद्यनन्त है (भूत–भविष्यत्‌रूप से), तो वही मूर्त्त है, सादिसान्त हैं (वर्त्तमानरूप से)। **'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि, बहु ब्रह्मैकमक्षरं, महद्‌ब्रह्मैकमक्षरम्'** कहते हुए ऋषिप्रज्ञा ने अनन्त की इसी अनन्तरूपता, सर्वकालात्मिका कालातीतता महाकालात्मकता की ओर ही सङ्केत किया है, जिस सङ्केतानुग्रह से ही हम भी अनाद्यनन्त कालपुरुष की यशोगाथा में प्रवृत्त हो पड़ने का आज महत् सौभाग्य उपलब्ध कर रहे हैं।

२२–भूत--भविष्यल्लक्षण अमूर्त्त--अव्यक्त--अनन्तकाल के द्वारा वर्त्तमानकाल–लक्षण–मूर्त्त-व्यक्त--सादि-सान्त-काल की अभिव्यक्ति—

अहःकाल के माध्यम से समन्वय कीजिए। प्रातः से सायं पर्य्यन्त व्याप्त काल आप की दृष्टि में 'वर्त्तमानकाल' है। क्या कोई वैसी राशि–स्तूप–किंवा ढेर है 'वर्त्तमान' नाम का, जिस के प्रति अङ्गुलि–निर्देशपूर्वक आप 'यह **वर्त्तमानकाल है**,' ऐसा अभिनय कर सकते हैं ?, नहीं। अपितु अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–पुनः व्यक्त-पुनः अव्यक्त–तो पुनः व्यक्त-इसरूप से अव्यक्तादि के धाराक्रम से प्रतिक्षण-विलक्षण-भावापन्ना क्रियाधारा के माध्यम से ही तो आप 'वर्त्तमान' शब्द का उच्चारण करने में समर्थ बनते हैं। प्रतिबिन्दु–बिन्दु अमूर्त्त-मूर्त्त-अमूर्त्त-मूर्त्त-इस धारावाहिक क्रम से समन्विता है। जिसे जिस क्षण में आप 'भूत' मानते हैं, उत्तरक्षण में वही वर्त्तमान है, तदुत्तर क्षण में वही भविष्यत् है, एवं तदुत्तरक्षण में वही भविष्यत्, और पुनः वर्त्तमान है। तदुत्तरक्षण में वही वर्त्तमान भूत है, एवं तदुत्तरक्षण में वही भूत वर्त्तमान है। और यों प्रातः से सायं पर्य्यन्त

---

* **अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।**
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ (गीता २।२८)।

व्याप्त रहने वाले आप के माने हुए एक अहःकालात्मक वर्त्तमानकाल में हीं आप भूत–भवत्–भविष्यत्–तीनों का सन्तान–क्रम उपलब्ध कर रहे हैं। इसीलिए तो हमें कहना पड़ा कि–जो भूत (अव्यक्त) है, वही वर्त्तमान (व्यक्त) है, जो वर्त्तमान है, वही भविष्यत् है। अनन्त ही सादिसान्तरूपेण प्रतीयमान है। सादिसान्त ही अनन्त की प्रतीति का मूलाधार है। 'भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः' ही अनन्तप्रतीति का मूलबीज है। और यों भूतभविष्यल्लक्षण अनन्त–अमूर्त्तकाल ही अपने वर्त्तमानलक्षण सादि सान्त मूर्त्तकालरूप से अपने अनन्त–अमूर्त्तभाव को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है *।

२३–द्वादश होरात्मक मानवीय अहःकाल के साथ सौर सत्तात्मक वर्त्तमानकाल का समतुलन––

आप अपने प्रत्यक्षदृष्ट द्वादश होरात्मक एक अहःकाल को 'वर्त्तमान' काल कहते हैं, और इसी में पूर्वोक्त अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–(भूत–वर्त्तमान–भविष्यत्) रूप से तीनों कालों का समन्वय कर रहे हैं। आप की इस मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमानकालात्मक अहःकाल का स्वरूप क्या है?, प्रश्न का एकमात्र समाधान होगा–**'सूर्य्यसत्ताकाल'**। प्रातः जिस क्षण में सूर्य्योदय होता है, वही अहःकाल का आरम्भस्थान है, एवं सूर्य्यास्तक्षण अहःकाल का अवसानस्थान है। तो क्या जिस क्षण में ज्योतिर्म्मय सूर्य्य व्यक्त हुआ, उस क्षण से आरम्भ कर जिस क्षण में यह सूर्य्य पुनः अव्यक्त बन जायगा, उस क्षणपर्य्यन्त का सूर्य्यसत्ताकाल एक 'अहःकाल' नहीं कहला सकता?, एवं क्या इस सूर्य्यसत्तात्मक अहःकाल को 'वर्त्तमानकाल' नहीं कहा जासकता?। अवश्य ही कहला सकता है, कहा जासकता है, कहा गया है। साथ ही एक अहःकालात्मक सूर्य्यसत्ता–कालात्मक वर्त्तमानकाल को भी अव्यक्तादि तीनों क्रमधाराओं के अनुबन्ध से अवश्य ही त्रिकालात्मक भी कहा, और माना जागया आपके द्वादश होरात्मक अहःकालात्मक एक वर्त्तमान काल (एक दिन) की भाँति।

२४–सूर्य्यसत्ताकालात्मक, अहर्लक्षण वर्त्तमानकाल के अनन्तभावानुगत गणनक्रम का उपक्रम––

सर्वानुभूत इसी मानुष 'अहःकालात्मक (दिनरूप) वर्त्तमानकाल के समतुलन–माध्यम से अब हमें वर्त्तमानकालात्मक ब्राह्म–अहःरूप (ब्रह्मा के दिनरूप) उस सूर्य्यसत्ताकाल को लक्ष्य बना लेना है, जिस केवल वर्त्तमानकालात्मक भी सूर्य्यसत्तात्मक एक ही अहःकाल की सीमा में अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–लक्षण

---

* प्रयोगाधिकरणो भूतकाल एव वर्त्तमानकालः, इति नव्यन्यायविदः प्राहुः। आरम्यापरिसमाप्ति–र्वर्त्तमानकालः, इति शाब्दिकाः प्राहुः। सोऽयं वर्त्तमानकालश्चतुर्विधः–**"प्रवृत्तोपरतश्चैव, वृत्ताविरत एव च। नित्यप्रवृत्तः, सामीप्यो, वर्त्तमानश्चतुर्विधः"**। उदाहरणानि, यथा–**'मांसं न खादति,'** आदौ प्रवृत्तं मांसभोजनं निवर्त्तयति–इत्यर्थः। **'इह कुमाराः क्रीडन्ति'**–इति तदानीन्तनक्रीड़नाभावेऽपि पूर्वक्रीड़ाया बुद्धौ वर्त्तमानत्वात्। **'पर्वतास्तिष्ठन्ति'**–नित्यप्रवृत्तत्वात्। किञ्च पर्वतानां स्थितत्वे वर्त्तमानत्वेऽपि भूतभवि–ष्यत्कालभ्यां सम्बन्धविवक्षया–**पर्वतास्तस्थुः**–स्थास्यन्ति–इत्यपि स्यात्। सामीप्यो द्विविधः–**भूतसामीप्यः, वर्त्तमानसामीप्यः**,। भूतसामीप्ये यथा–**'कदा आगतोऽसि ?'** इति प्रश्ने-अध्वस्वेदादेर्वर्त्तमानत्वात्–**'एषोऽहमहमागच्छामि'**, इत्यागतोऽपि वदति। भविष्यत्सामीप्ये यथा–**'कदा गमिष्यसि ?'** इति प्रश्ने **'एषोऽहं गच्छामि'** इति गमनक्रियमाणोद्यमोऽपि वदति।

चङ्क्रमणधारा के अनुपात से भूत–भवत्–भविष्यत्–नामक तीनों सोपाधिक काल भुक्त हैं। यह अविस्मरणीय है कि, अपने व्यक्तभावात्मक, अतएव व्यक्तभावापन्न क्षरभाव के अनुबन्ध से वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल वस्तुगत्या 'मूर्त्तकाल' ही है, जिसे सादि–सान्तकाल माना गया है। इस सादि-सान्त–व्यक्त–मूर्त्त–वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल की वर्त्तमानरूपा अभिव्यक्ति का मूलाधार क्योंकि अनाद्यनन्त–अव्यक्त–अक्षरमूर्त्ति–अमूर्त्तकालात्मक महाकाल ही है। अतएव अपने मूलाधारभूत अव्यक्त अनन्तकाल की अनाद्यनन्तता भी परम्परया अनुस्यूत ही बनी रहती है तथाकथित इस व्यक्त–मूर्त्त–सादिसान्त–वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में भी। व्यक्तकालानुबन्धिनी इसी पारम्परिक–अनन्तता के दिग्दर्शन के लिए हमें दो शब्दों में सादि–सान्त–भावात्मक सूर्य्यसत्ताकालात्मक–व्यक्तभावापन्न वर्त्तमानकाल के अनन्तभावानुगत गणनक्रम की ओर ही कालोपासक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित कर लेना है।

२५–वाक्साहस्री के 'सहस्रधा महिमानः सहस्र'–भावमाध्यम से अहोरूप सूर्य्य का सहस्रांशुत्त्व, एवं तन्मूलक सहस्ररश्मिभाव—

अपनी सहस्रमहिमात्मिका वाग्विभूति से **'सहस्रधा–महिमानः सहस्रम्'** बने हुए *, वर्त्तमान–व्यक्त–मूर्त्त–कालसाक्षी भगवान् सूर्य्यनारायण इसी महिमासाहस्री से **सहस्रांशु, सहस्रदीधिति,** आदि नामों से उपस्तुत हैं। ज्योतिर्म्मय एक ही वाक्तत्त्व अपने दशावयव विराड्भाव से आरम्भ में दशधा विभक्त होकर आगे चलकर शत–सहस्र–भावों में परिणत हो जाता है, जिस इस विराट्साहस्री के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही वेदशास्त्र की वह **'वाक्साहस्रीविद्या'** प्रवृत्त हुई है, जिसे **'वषट्कारविद्या'** भी कहा गया है। आगे चलकर वाङ्मयीं ये सहस्र रश्मियाँ (ज्योतिर्म्मय गोतत्त्व) अपने प्रतिफलन से अनन्त सहस्र–भावों में परिणत हो जातीं हैं। सहस्र प्राणरश्मियों के इस सहस्र–सहस्रधा प्रतिफलनात्मक महिमा-विवर्त्त का परिणाम यह होता है कि, सम्पूर्ण सौरमण्डल इन महिमामयीं प्राणरश्मियों से अच्छिद्र बन जाता है। सम्पूर्ण सौर–आलोकमण्डल (आतपमण्डल–प्रकाशमण्डल) सौररश्मियों के सहस्र–सहस्र–भावानुबन्धी महिमात्मक प्रतिफलन का ही व्यक्त स्वरूप है। रश्मियों के प्रतिफलनात्मक महिमामय तन्तुवितानरूप जाल का ऐसा आतान हो रहा है, जिसमें यत्किञ्चित् भी छिद्र नहीं है। अतएव सौररश्मि का पारिभाषिक नाम–**'अच्छिद्रपवित्र'** मान लिया गया है। यद्यपि अनन्त–असंख्य हैं ये रश्मियाँ। तथापि इनका समूहात्मक पर्य्यवसान क्योंकि आरम्भ की मूलभूता वाक्साहस्री पर ही हो रहा है। अतएव अनन्त–असंख्य–रश्मियुक्त भी सौरमण्डल को सहस्ररश्मि-समन्वित ही मान लिया गया है, एवं इस पारिभाषिकी सहस्रता के आधार पर ही सूर्य्य को **'सहस्रांशु'** कह दिया है, जिसका आधार-**'पूर्णं वै सहस्रम्'** यह निगमवचन प्रमाणित हो रहा है। जिस कालानन्त्य का सूर्य्यमाध्यम से दिग्दर्शन अभीष्ट है, उसका आधार यह **'सहस्ररश्मिभाव'** ही बना हुआ है।

---

*–सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥
—ऋक्संहिता १०।११४।८

२६–'मन्वन्तरविद्या'-मूलक गणनानन्त्य, एवं श्रीभास्कराचार्य्य के भावुकतापूर्ण उद्गार–

सहस्र–सौर–रश्मियों के महिमामय वितान–आतानात्मक सन्तनन से परिमण्डलरूप में परिणत, इस साहस्री–भावानुबन्ध से ही सहस्रांशु–सहस्रदीधिति–आदि नामों से उपस्तुत–उपवर्णित भगवान् सूर्य्यनारायण का अहरागमात्मक–व्यक्त मूर्त्त, अतएव सादि सान्त–भावात्मक सूर्य्यसत्ताकाल अपने इस सादि–सान्त क्रमसिद्ध गणनभाव की विद्यमानता में भी कैसे आनन्त्य का अनुगामी प्रमाणित होरहा है ?, प्रश्न के यथार्थ समन्वय के लिए तो पुराणशास्त्र की सुप्रसिद्धा **'मन्वन्तरविद्या'** का ही स्वाध्याय करना चाहिए *। प्रकृत में तो केवल विषय–समन्वयदृष्ट्या मन्वन्तरमूला कालगणना का दिग्दर्शनमात्र ही पर्य्याप्त मान लिया जाता है, जिस इस दिग्दर्शनमात्र से सादि सान्त-भावापन्न भी सौरकालात्मक वर्त्तमानकाल की अव्यक्तकालानुगता अनन्तता का भलीभाँति अनुमान लगाया जासकता है, जिस अनुमेया सौरकालगणनात्मिका अनन्तता-मात्र के व्यामोहन से सहसा व्यामुग्ध बन जाने वाले सुप्रसिद्ध गणनविद्यावित् सर्वश्री **भास्कराचार्य्य** जैसे महान् विद्वान् को भी **'एतत्सर्वं पुराणाश्रितं बोध्यम्'** जैसे नितान्त–भावुकतापूर्ण–उद्गार अभिव्यक्त कर देने पड़े हैं।

२७–अव्ययमनोऽनुगत 'मनुभाव', एवं तन्मूलक 'मन्वन्तरभाव'––

सहस्ररश्मिमण्डलात्मक ज्योतिर्म्मय परिमण्डल के केन्द्र में (बृहतीछन्द के हृदय में) सूर्य्यपिण्ड अवस्थित है। इस सूर्य्यपिण्ड के सर्वान्तरतम अणोरणीयान्–महतोमहीयान्–हृदयाकाश में प्रतिष्ठित प्राण-मूर्त्ति–हृदयभावावच्छिन्न–इन्द्रात्मक–सावित्राग्निमय जो शाश्वत–सनातन तत्त्व प्रतिष्टित है, उसी का नाम है–**'मनु'**। यही समस्त सौर ब्रह्माण्ड का **उक्थ–ब्रह्म–साम**–लक्षण आत्मा है, जिसके आधार पर ही सौर-रश्मि-भाव **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–शक्तियों के द्वारा सौरब्रह्माण्डान्तर्गर्भित स्थावर–जङ्गम–प्रजा का सञ्चालन कर रहे हैं, जैसाकि-**'सूर्य्य आत्मा जगतस्थस्थुषश्च'–'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'–'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'**–इत्यादि नैगमिक–वचनों से प्रमाणित है। श्वोवसीयस्–मनोमूर्त्ति अव्ययब्रह्म ही केन्द्रस्थ आत्मा है, जो अनन्तकालात्मिका अव्यक्ता अक्षर-प्रकृति के द्वारा सादि–सान्त–कालात्मिका व्यक्ता क्षरप्रकृति के माध्यम से मूर्त्त–भौतिक स्थावर–जङ्गम–प्रपञ्च के सर्वेसर्वा प्रमाणित हो रहे हैं। मनोमूर्त्ति–प्रकृतिविशिष्ट यह अव्ययपुरुषात्मा ही वह 'मनु' तत्त्व है, जिसका–**'पुनन्तु मनसा धियः'-'पुनन्तु मनवो धिया'** इत्यादि वचनों से सङ्केत हुआ है। इत्थंभूत आत्ममूर्त्ति–मनोमूर्त्ति-हृदयस्थ मनु के महिमामय सौररश्मिभाव का नाम ही है-**'मन्वन्तर'**, जिसके आधार पर ही हमें सौर सादि–सान्त–काल की अनन्तता का अन्वेषण करना है।

२८–असंख्य मन्वन्तरों के सौर अहःकालानुबन्धी त्रिंशद् विवर्त्त–

अनन्त–असंख्य–हैं सौररश्मियाँ पूर्वोक्त 'सहस्रधा–महिमानः–सहस्र'–रूप से। अतएव अनन्त–असंख्य हैं मनोनिबन्धन, किंवा मनुनिबन्धन मन्वन्तर, जिनका **'मन्वन्तराण्यसंख्यानि'** रूप से पुराणशास्त्र में साटोप

---

*–खण्डचतुष्टयात्मक **'श्राद्धविज्ञान'** के **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में मन्वन्तर-विद्यामूला इस कालगणना का सङ्केत करा दिया गया है (देखिए तत्खण्ड–पृष्ठसंख्या१०५ से १२० पर्य्यन्त)।

***–एतमेके वदन्त्यग्निं मनु, मन्ये प्रजापतिम्।**
इन्द्रमेके परे प्राण, मपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥ (मनुः १२।१२३।)

उपवर्णन हुआ है। इन असंख्य अनन्त भी मन्वन्तरों का पारिभाषिकी **'त्रिंशत्' (३० तीस)** संख्या पर ही विश्राम मान कर मन्वान्तरमूला कालगणना का समन्वय हुआ है पुराणशास्त्र में, जिस इस मन्वान्तरमूला कालगणना के आधार पर ही सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित है।

२६–मानवीय अहोरात्र के त्रिंशत् (३०) मुहूर्त्तों के साथ सौर अहोरात्र के त्रिंशत् मन्वन्तरों का समतुलन—

जिस वस्तुतत्त्व के लिए अपनी लोकव्यवहार–भाषा में हम **'मुहूर्त्त'** शब्द का प्रयोग करते रहते हैं, सृष्टिविद्यानिबन्धना शास्त्रीय– भाषा [परिभाषा] में उसी का नाम **'मन्वन्तर'** है। मुहूर्त्त' शब्द हमारा जाना–पहिचाना हुआ शब्द है। अतः इसे मध्यस्थ बना कर ही हमें **'मन्वन्तर'** शब्द के पारिभाषिक समन्वय में प्रवृत्त होना है। सुविदित है कि, २४ घन्टों के एक अहोरात्र [दिनरात] में ६० [साठ] घड़ियाँ होती हैं। **'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्'** इस सुप्रसिद्धा परिभाषा के अनुसार दो घड़ियों की समष्टि का नाम ही एक 'मुहूर्त्त' है। फलतः दिन रात की ६० घड़ियों के ३० तीस मुहूर्त्त हो जाते हैं, जिस का सीधासा अर्थ यही निकलता है कि, ३० घड़ियों, किंवा १५ मुहूर्त्तों का भोग तो बारह घन्टात्मक दिन में हो रहा है, एवं ३० घड़ियों, किंवा १५ मुहूर्त्तों का उपभोग बारह घन्टात्मिका रात्रि में हो रहा है, जिस का फलितार्थ यही निकल रहा है कि– अहोरात्र में २४ घन्टे हैं, ६० घड़ियाँ हैं, एवं ३० मुहूर्त्त हैं। तथा इन सब होरा–घटिका–मुहूर्त्तादि की समष्टिरूप एक अहोरात्र का नाम है एक तिथि। जिसप्रकार मुहूर्त्त को 'मन्वन्तर' कहा जाता है, एवमेव अहोरात्रात्मिका एक तिथि के लिए सृष्टिविद्यात्मिका परिभाषा में **'कल्प'** शब्द व्यवस्थित हुआ है। एक 'मानवमास' में यदि ३० तीस तिथियाँ हैं, तो ३० अहोरात्रात्मक ब्राह्म–मास में ३० ही कल्प हैं। एक मानुष अहोरात्र में यदि ३० मुहूर्त्त हैं, तो एक ब्राह्म अहोरात्र में ३० ही मन्वन्तर हैं। एक मानुष अहःकाल में यदि १५ मुहूर्त्तों का भोग हो रहा है, तो एक ब्राह्म अहःकाल में १५ मन्वन्तरों का भोग हो रहा है। और इसप्रकार मानुष–अहोरात्रात्मिका मुहूर्त्तमती तिथि की वे सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ ब्राह्म अहोरात्रात्मक तिथि-स्थानीय प्रत्येक कल्प में मन्वन्तररूप से व्यवस्थित हो रहीं हैं, जिस इस समतुलन को आधार बना कर ही हमें सृष्टिकालानुबन्धिनी कालगणना के आनन्त्य की उपासना में प्रवृत्त होना है।

३०–मानव का शतायुः–परिमित आयुर्भोगकाल, एवं तन्मूलक 'बृहतीसहस्रप्राण' का रहस्यात्मक समन्वय—

सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल–लक्षण एक अहःकाल अपनी कितनी अवधि रखता है ?, यह मूलप्रश्न है, जिस का पर्य्यवसान **'सूर्य्य का आयुःकाल कितना है ?'** इस वाक्य पर हो रहा है। लक्ष्यीभूत इस प्रश्न के समन्वय से पहिले यह जान लेना आवश्यक होगा कि, जिज्ञासा करने वाले **'मानव–का आयुःकाल कितना है ?'**। **'शतायुर्वै पुरुषः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मानव का वेदोक्त आयु–र्भोगकाल शतवर्षात्मक [सौ १०० वर्षात्मक] माना गया है वेदशास्त्र की इस आस्थापूर्णा मान्यता का मूला–धार आयुःसूत्रप्रदाता सूर्य्यनारायण का त्रिवृद्भावापन्न सुप्रसिद्ध वह **'आयुष्टोमयज्ञ'** ही है, जिस का **'बृहती–छन्दोविज्ञान'** से सम्बन्ध है। 'पूर्वापरवृत्त' नाम से प्रसिद्ध गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–

त्रिष्टुप्-जगती-छन्दो-नामक ६-७-८-९-१०-११-१२ अक्षरात्मक सप्त अहोरात्रवृत्तों में से मध्य का नवाक्षर बृहतीछन्द ही सूर्य्य की प्रतिष्ठाभूमि है, जैसा कि-'सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। नवाक्षरभेद से चतुष्पर्वा बृहतीछन्द के षड्त्रिंशदक्षर [३६] हो जाते हैं। बृहती के इस सब अक्षरों से-प्रत्येक से-सौरी गौसाहस्री का सम्बन्ध होजाता है। फलतः ३६ बार्हत अक्षरों के महिमारूप 'बृहतीसहस्र' [षट्त्रिंशत्सहस्र-३६००० छत्तीस हजार] संख्याओं में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक बृहतीप्राण मनो-वाक् से परिगृहीत बनता हुआ मनःप्राणवाङ्मय है, जिसके द्वारा मनोमयी ज्ञानशक्ति, प्राणमयी क्रियाशक्ति, एवं वाङ्मयी अर्थशक्ति नाम की तीनों जीवनस्वरूपसमर्पिका शक्तियाँ सङ्गृहीत हो रहीं हैं। इन त्रिभावापन्ना ज्ञानक्रियार्थ-शक्तिमयीं मनःप्राणवाङ्मयीं बार्हत-अक्षरात्मिका षट्त्रिंशत्-सहस्राक्षरों से समन्वित षट्त्रिंशत्सहस्र-संख्यात्मक अहोरात्रों की राशि-(स्तूप) का ही नाम है-'आयुष्टोम' [आयुःप्रदाता बार्हत प्राणों का स्तोम-ढेर-राशि]। इस आयुष्टोम के मनः-प्राण-वाङ्मय-अहोरात्रीय एक एक आयुःसूत्र का मानव-जीवन के एक एक अहोरात्र में भोग होता रहता है। प्राकृतिक सौरसंस्थान से ये आयुर्म्मय जीवनीय प्राण मानव को निरन्तर ३६००० अहोरात्र पर्य्यन्त मिलते रहते हैं, जिन इन छत्तीस हजार अहोरात्रीय आयुःप्राणों की भोगकालावधि का ही नाम 'शतायुःकाल' है, एवं यही शतायुः मानव की शतवर्षात्मिका जीवनावधि का आयुष्टोममूलक सौर बार्हत-अक्षरप्राणात्मक रहस्यपूर्ण समन्वय है।

३१-आयुष्टोमयज्ञ के द्वारा सम्वत्सर-प्रजापति का शतायुष्ट्वभाव, एवं तदभिन्न-तन्ने-दिष्ठ मानव का आयुष्टोमनिबन्धन शतायुर्भोगकाल--

'योऽहं-सोऽसौ,-योऽसौ-सोऽहम्' मूला अनन्तब्रह्मानुगता अद्वैतनिष्ठा में परम्परया अभ्यस्त भारतीय आत्मनिष्ठ मानव को यह जान कर कोई आश्चर्य्य नहीं होगा कि, शतायुः से समन्वित मानव का तथाविध शतायुर्लक्षण बार्हत-भोगकाल मानव के मूलस्रष्टा प्रजापति से भी ज्यों का त्यों समसमन्वित है, जिस समन्वय का सहजभाषा में यही अर्थ है कि, मानव जिस प्रजापति के आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है, उस प्रजापति का आयुर्भोगकाल भी शतायुः ही है। शतवर्षात्मक प्रजापति से नेदिष्ठ [समीपतम] मानव अपने मूलभूत प्राजापत्य-स्वरूपानुबन्ध से ही तो शतायु बनता है, जिस इस सहस्र-भावानुगता बृहतीछन्दोऽनुगता समानपूर्णता के आधार पर ही-'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्-,पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। ईश्वरप्रजापति क्योंकि अपने बार्हत-साहस्री-मण्डल से शतायु है 'आयुष्टोम' के द्वारा। अतएव तदभिन्न-तन्नेदिष्ट मानव भी उसी अनुपात से शतायु बना हुआ है।

३२-शतायु ईश्वरप्रजापति के अविज्ञेय-दुर्विज्ञेय-विज्ञेय-सुविज्ञेय-भावात्मक चतुर्विध महिमाविवर्त्त—

क्या स्वरूप है उस शतायु ईश्वरप्रजाति का ?, प्रश्न को सर्वथा विभिन्न चार दृष्टिकोणों से-अविज्ञेयस्वरूप, दुर्विज्ञेयस्वरूप, विज्ञेयस्वरूप, एवं सुविज्ञेयस्वरूप-भेद से चार महिमाभावों में विभक्त माना जा सकता है। मायासीमा से अतीत वही ब्रह्म अपने निरवच्छिन्न-दिक्-कालाद्यनवच्छिन्न-असीम-परात्पर-स्वरूप से सर्वथा 'अविज्ञेय' है। महामायावच्छिन्न सहस्रपुण्डीरवल्शात्मक-अश्वत्थवृक्षलक्षण-

अमृतब्रह्मशुक्रमूर्त्ति–अव्ययाक्षरात्मक्षरसमन्वित वही षोड़शी प्रजापति अपने महामायी–**स्वरूप से 'दुर्विज्ञेय' है।** स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–नाम से प्रसिद्ध **पञ्चपुण्डीरों** की समष्टिरूप–योगमायावच्छिन्न–पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्यवल्शाधिष्ठाता वही प्रजापति अपने योगमायात्मक स्वरूप से **'विज्ञेय'** है। एवं सौर–चान्द्र–पार्थिव–नामक तीन रोदसी–लोकों का साक्षीभूत–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–रूप से आदित्य–वायु–अग्निमूर्त्ति–सम्वत्सरत्रिलोक्यधिष्ठाता–वामपलित नाम से प्रसिद्ध वही प्रजापति अपने सगुण–सावरण–स्वरूप से **'सुविज्ञेय'** है, जिस इस चतुर्थ सम्वत्सरप्रजापति का नेदिष्ठरूप ही शतायुः मानव माना गया है।

३३–अविज्ञेय परमेश्वर, दुर्विज्ञेय महेश्वर, विज्ञेय बल्श्वेश्वर, एवं सुविज्ञेय उपेश्वर–भावात्मक ईश्वरीय विवर्त्तों का दिग्दर्शन—

ब्रह्म के उक्त चारों विवर्त्तों में से सर्वारम्भ का मायातीत परात्पर विवर्त्त तो आयुः–सीमा से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है अपने अप्राकृतभाव से। अतएव उसे तो अचिन्त्य–अप्रतर्क्य ही माना जायगा *। शेष रहजाते हैं दुर्विज्ञेय–विज्ञेय–सुविज्ञेय–नामक तीन प्रजापति–विवर्त्त, जिनके साथ अवश्य ही–**'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः'** नियम से आयुर्भोग का समन्वय माना जा सकता है, माना गया है। अविज्ञेय परात्परका साङ्केतिक नाम है **'परमेश्वर'**, जिस के अनन्त धरातल पर महामायावच्छिन्न असंख्य दुर्विज्ञेय प्रजापति उसीप्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे कि अनन्त समुद्रधरातल पर असंख्य बुद्‌बुद प्रतिष्ठित हैं,जिन इन असंख्य विवर्त्तों में से प्रकृत में केवल एक ही विवर्त्त लक्षीभूत है। इसी का साङ्केतिक नाम है **'महेश्वर'**। योगमायावच्छिन्न तीसरा विज्ञेय प्रजापति **'बल्शेश्वर'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं चौथा सम्वत्सरात्मक सुविज्ञेय प्रजापति **'उपेश्वर'** नाम से प्रसिद्ध है। **परमेश्वर–महेश्वर–बल्शेश्वर–उपेश्वर**–चारों नाम तत्त्वमूला विज्ञानभाषा में सर्वथा विभक्त तत्त्वों के संग्राहक हैं, जिन इन चारों प्राजापत्य–विवर्त्तों को हमने प्रकृत में मानव की अपेक्षा से सामान्यरूपेण **'ईश्वर'** अभिधा से व्यवहृत कर दिया है। इन त्रिविध ईश्वरों के अनन्तर चौथा स्थान ईश्वरनेदिष्ठ उस मानव का आता है, जिस की आयु का विचार प्रक्रान्त है, एवं जिस मानवीय–आयु के अनुपात से ही त्रिविध ईश्वरों की आयु का प्रश्न समन्वयसापेक्ष बना हुआ है।

३४–नित्यप्रलयानुगत मानव, खण्डप्रलयानुगत उपेश्वर, प्रलयानुगत बल्शेश्वर, एवं महाप्रलयानुगत महेश्वरानुबन्धी लयभावों का समन्वय--

शतायुर्भोगानन्तर मानव अपने प्रभव सुविज्ञेय उपेश्वर में लीन हो जाता है, एवं इसी लयभाव को **'नित्यप्रलय'** कहा गया × है। सम्वत्सरप्रजापतिरूप 'उपेश्वर' नामक ईश्वर अपने शतायुर्भोगकालानन्तर स्वप्रभव योगमायावच्छिन्न बल्शेश्वर में विलीन हो जाता है, जिसे **'सौरप्रलय'** भी कहा गया है, एवं जो विलयनभाव **'खण्डप्रलय'** नाम से प्रसिद्ध है। अपने शतायुर्भोगकालानन्तर यह उपेश्वर स्वप्रभव महामाया–वच्छिन्न महेश्वर में विलीन हो जाता है, एवं इसी तीसरे लयभाव को **'प्रलय'** कहा गया है। अन्ततोगत्वा

---

* अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

× 'आप मरा और जग परल' (प्रलय)–राजस्थानीया लोकसूक्ति।

अपने शतायुर्भोगकालानन्तर यह महेश्वर भी मायाबन्धन के विशकलित होने पर स्वाधारभूत परात्पर परमेश्वर में विलीन हो जाता है, एवं यही अन्तिम लयभाव **'महाप्रलय'** नाम से प्रसिद्ध है। तदित्थं—**मानवानुगत नित्यप्रलय, उपेश्वरानुगत खण्डप्रलय, बल्शेश्वरानुगत प्रयत्न, एवं महेश्वरानुगत महाप्रलय**—भेद से लयभाव चतुर्द्धा विभक्त हो रहा है स्व-स्व-शतायुर्भोगकालों के अनुपात से। **सौ वर्ष के ही महेश्वर हैं, सौ वर्ष के ही उपेश्वर हैं, सौ वर्ष के ही बल्शेश्वर हैं, अतएव सौ वर्ष का ही मानव है।** कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् !

३५—स्वेदायनादि-वर्षान्त कालखण्डों के चौदह विवर्त्तों का समन्वय, एवं तत्समर्थक महर्षि बार्कलि—

स्वाक्षपरिभ्रमणानुगत—भूपिण्डपरिभ्रमण का नाम ही **'दैनंदिनगति'** है, जिस इस गति से ही चतुर्विंशति (२४) होरात्मक मानवीय एक अहोरात्र (दिनरात) का स्वरूप सम्पन्न होता है। अतएव आयु का मूलोपक्रमस्थान 'अहोरात्र' ही माना गया है, जबकि सुसूक्ष्मदृष्ट्या अहोरात्रस्वरूप—प्रवर्त्तक—स्वेदवेदात्मक अथर्ववेदमय—पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोभावात्मक **'स्वेदायन'** को ही भारतीय वैज्ञानिकोंनें आयु की मूलप्रतिष्ठा माना है। इस 'स्वेदायनतत्त्व' के द्रष्टा मानवमहर्षि **'बार्कलि'** ने शतपथब्राह्मण में स्वेदायन को ही काल का प्रमुख मापदण्ड घोषित किया है, जिस का निष्कर्ष यही है कि,—पन्द्रह (१५) स्वेदायनों की समष्टि से एक (१) **लोमगर्त्त** (रोमकूपपरिमाण) का स्वरूप सम्पन्न होता है। एवमेव १५ लोमगर्त्तों से १ **'निमेष'** का, १५ निमेषों से १ **'अन'** का, १५ अनों से १ **'प्राण'** का, १५ प्राणों से १ **'इदम्'** का, १५ इदंभावों से १ **'एतर्हि'** का, १५ एतर्हिभावों से १ **'क्षिप्र'** का, १५ क्षिप्रों से १ **'मुहूर्त्त'** का, १५ मुहूर्त्तों से १ **'अहः'** का, ३० मुहूर्त्तों से १ **'अहोरात्र'** का, १५ अहोरात्रों से १ **'पक्ष'** का, २ पक्षों से १ **'मास'** का, ६ मासों से १ **'अयन'** का, एवं २ अयनों से १ **'सम्वत्सर'** (वर्ष) का स्वरूप सम्पन्न होता है, जिस एक सम्वत्सर में बार्कलि के मतानुसार १०८०० (दसहजार आठसौ) मुहूर्त्त होजाते हैं। मुहूर्त्तों से पन्द्रहगुणित क्षिप्रों का, क्षिप्रों से पन्द्रहगुणित 'एतर्हि' का, एतर्हि से पन्द्रहगुणित निमेषों का, निमेषों से पन्द्रहगुणित लोमगर्त्तों का, एवं लोमगर्त्तों से पन्द्रहगुणित स्वेदायनों का एक सम्वत्सर में भोग हो जाता है, जिन इन स्वेदायनभावों के साथ बार्कलि ने वर्षास्तोकों का समतुलन किया है, जोकि समतुलन कादम्बिनीमूला वैदिकी **'वृष्टिविद्या'** का आधार माना गया है *। निम्न लिखित परिलेखों से उक्त स्वेदायन—लोमगर्त्तादि का पारस्परिक क्रम भली—भाँति स्पष्ट हो जाता है।

---

* **दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। यावन्तो मुहूर्त्ताः—तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि। यावन्ति क्षिप्राणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व एतर्हीणि। यावन्त्येतर्हीणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व इदानीनि। यावन्तीदानीनि, तावन्तः पञ्चदश—कृत्वः प्राणाः। यावन्तः प्राणाः, तावन्तोऽनाः। यावन्तोऽनाः, तावन्तो निमेषाः। यावन्तो निमेषाः, तावन्तो लोमगर्त्ताः। यावन्तो लोमगर्त्ताः, तावन्ति स्वेदायनानि। यावन्ति स्वेदायनानि, तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति।** —शतपथब्राह्मण १२।३।५।

पञ्चदश (१५) स्वेदायनों का एक (१) लोमगर्त्त	पञ्चदश (१५) क्षिप्रों का एक (१) मुहूर्त्त
पञ्चदश (१५) लोमगर्त्तों का एक (१) निमेष	पञ्चदश (१५) मुहूर्त्तों का एक (१) अहः
पञ्चदश (१५) निमेषों का एक (१) अन	त्रिंशत् (३०) मुहूर्त्तों का एक (१) अहोरात्र
पञ्चदश (१५) अनों का एक (१) प्राण	पञ्चदश (१५) अहोरात्रों का एक (१) पक्ष
पञ्चदश (१५) प्राणों का एक (१) इदम्	द्वि (२) पक्षों का एक (१) मास
पञ्चदश (१५) इदानीनि का एक (१) एतिर्हि	षट् (६) मासों का एक (१) अयन
पञ्चदश (१५) एतर्हीणि का एक (१) क्षिप्र	द्वि (२) अयनों का एक (१) वर्ष
	(वैदिकमान्यतानुसार) ÷

शत (१००) वर्षों का एक मानवायुर्भोगकाल

३६–उपेश्वरात्मक सम्वत्सरप्रजापति, एवं तन्मूलक तदभिन्न पुरुष (मानव)—

स्वेदायन से आरम्भ कर अयन पर्य्यन्त जितने भी सम्वत्सरावयव हैं, सब भातिसिद्ध काल के विवर्त्त हैं, एवं इस दृष्टि से अयनद्वयात्मक सम्वत्सर भी भातिसिद्ध कालात्मक ही है। यह सर्वात्मना अवधेय है कि,

÷ पौराणिकमतानुसार समन्वय—

१५ निमेषों की १ काष्ठा
३० काष्ठा की १ कला
३० कला का १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्तों का १ अहोरात्र

अमरमतानुसार समन्वय—

१८ निमेषों की १ काष्ठा
३० काष्ठा की १ कला
३० कला का १ क्षण
१२ क्षणों का १ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्तों का १ अहोरात्र
३० अहोरात्रों का १ मास
१२ मासों का १ सम्वत्सर

लोकप्रचलित साधारणमतानुसार समन्वय—

१५ कला की १ घड़ी
२ घड़ियों का १ मुहूर्त्त
१५ मुहूर्त्तों का १ दिन
२ दिनों का १ दिनरात
१५ दिनरातों का १ पखवाड़ा
२ पखवाड़ों का १ महीना
६ महीनों का १ अयन
२ अयनों का १ वर्ष

स्वेदायनादि वर्षान्त यच्चयावत् अवयव–अवयवीभाव अग्नि–सोमात्मक सत्तासिद्ध काल के ही स्वरूपसंग्राहक बने हुए हैं, जिस अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति को पूर्व में हमने **'उपेश्वर'** कहा है, एवं जिस इत्थंभूत उपेश्वर (सत्तात्मक–अग्नीषोममय सम्वत्सर) की पूर्णा अभिव्यक्ति का ही नाम 'मानव' है। सत्तासिद्ध सम्वत्सरप्रजापति का भोगकाल भी 'सम्वत्सर' नाम से ही प्रसिद्ध होपड़ा है। एवं सत्तात्मक काल, तथा भात्यात्मक काल की इसी समन्वयपद्धति को आधार मान कर भगवान् याज्ञवल्क्यने भोगकालात्मक सम्वत्सरपर्वों (भातिसिद्ध अहोरात्रादि पर्वों) के माध्यम से ही सम्वत्सरप्रजापति के साथ तदभिव्यक्तिरूप मानव का समतुलन व्यवस्थित किया है, जिस इस समतुलन के लिए तो चयनयज्ञमूला शातपथी **'सम्वत्सरविद्या'** का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

३७–सम्वत्सरप्रजापति, और पुरुष का पारस्परिक समतुलन—

तद्विद्यासमन्वयप्रसङ्ग में श्रुति ने कहा है कि–**'पुरुषो वै सम्वत्सरः'**, जिसका तात्पर्य्य यही है कि–यह पुरुष (मानव) सम्वत्सर का ही सर्वात्मना समतुलित प्रतीक है। कैसे ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे चलकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, जिसप्रकार अपने अनेक अवयवों की विद्यमानता में भी सम्वत्सर **'सम्वत्सर'** रूप से एकभावापन्न ही है, एवमेव पुरुष भी अनेक अवयवों के विद्यमान रहते हुए भी **'पुरुष'** रूप से एकभावापन्न ही प्रमाणित होरहा है। और यही मानवपुरुष के साथ सम्वत्सरप्रजापति का पहिला साम्य है। एक सम्वत्सर के जैसे **अहः–रात्रि**–नामक दो प्रमुख पर्व हैं, तथैव पुरुष के भी **ऐन्द्रप्राण (अहः), वारुण अपान (रात्रि)** रूप से दो ही पर्व हैं, यही दूसरा साम्य है। **ग्रीष्म–वर्षा–शीत**–रूप से सम्वत्सर के तीन ऋतुपर्व हैं, तो **प्राण–व्यान–अपान** रूप से मानव के भी तीन हीं ऋतुपर्व हैं। 'सम्वत्सर' के जहाँ **'सं–वत्–स–र'** रूप से चार अक्षर हैं, तो इस चतुरक्षरमूर्त्ति-चतुष्पात्–(तीन–मृत्युमात्रा–१ अमृतमात्रा के भेद से) सम्वत्सर के साथ **प्रकृत्यैव** यजन करने वाले मानव की 'यजमान' अभिधा भी–**'य–ज–मा–न'** रूप से चतुरक्षरा ही प्रमाणित हो रही है। सम्वत्सर में यदि **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरद्धेमन्त**-नामक पाँच ऋतुपर्व हैं, तो पुरुष में भी **प्राण–अपान–व्यान–समान–उदान**–नामक पाँच हीं ऋतुपर्व हैं। सम्वत्सर में यदि **वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिर**-नामक ६ ऋतुपर्व हैं, तो मानवपुरुष में भी चक्षुर्गोलकानुगत दो **अश्विनीप्राण**, नासाच्छिद्रानुगत दो **सारस्वतप्राण**, एवं श्रोत्रविवरानुगत दो **ऐन्द्रप्राण**–भेद से ६ ही **ऋतुपर्व** प्रतिष्ठित हैं। वसन्तादि ६ ऋतु, तथा मलिम्लुच ऋतु (अधिक–मासऋतु) भेद से सम्वत्सर में जहाँ सात ऋतुपर्व हैं, वहाँ मानवपुरुष में भी **'साकञ्ज'** नामक सात ही आध्यात्मिक ऋषिप्राणरूप सप्त ऋतुपर्व प्रतिष्ठित हैं। सम्वत्सर में जहाँ बारह मासात्मक पर्व हैं, वहाँ मानवपुरुष में भी मासानुगत बारह प्राण प्रतिष्ठित हैं। सम्वत्सर में यदि ३६० रात्रिपर्व हैं, तो मानव में भी ३६० ही स्थूल-**अस्थिपर्व** हैं। सम्वत्सर में यदि ३६० अहःपर्व हैं, तो मानव में भी ३६० ही **मज्जापर्व** हैं। इसप्रकार सभी दृष्टियों से-**'सम्वत्सरसमता वेदितव्या'** (गोपथब्राह्मण पू० ५.५) इत्यादि सिद्धान्तानुसार मानव सम्वत्सरप्रजापति से सर्वात्मना समतुलित ही प्रमाणित हो रहा है। (देखिए शतपथब्राह्मण १२।३।२ ब्राह्मण, एवं गोपथब्राह्मण पूर्वभाग ५ प्रपाठक के ५-६ ब्राह्मण)।

३८–उपेश्वर के स्रष्टा बल्शेश्वरप्रजापति, एवं इनके चित्पति–प्राणपति-भूतपति-लक्षण ब्रह्मा–विष्णु–महेशात्मक तीन विवर्त्त—

मानवस्वरूप के स्रष्टा सम्वत्सरप्रजापति का नाम हीं उपेश्वर है, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है। इस उपेश्वर का स्रष्टारूप ही वह 'बल्शेश्वर' है–जिसमें स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भू–पिण्ड–नामक पाँच पुण्डीर (पर्व–पोर) हैं। इनमें स्वयम्भू ही 'ब्रह्मा' हैं, परमेष्ठी ही विष्णु हैं, एवं सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड (तदुपलक्षित गायत्राग्नि) की समष्टि ही महादेव हैं। चित्पति ब्रह्मा, प्राणपति विष्णु, एवं भूतपति महादेव, तीनों क्रमशः अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त–व्यक्त–भावों के साक्षी बने रहते हैं। जो क्रम सञ्चरभावात्मक सर्ग का है, वही क्रम प्रतिसञ्चरभावात्मक प्रतिसर्ग का है।

३९–मानव का उपेश्वर में, उपेश्वर का बल्शेश्वर में, बल्शेश्वर का महेश्वर में, एवं महेश्वर का परमेश्वर में विलयन, तथा सर्गानुबन्धिनी लयपरम्परा––

उक्त प्रकृतिसिद्ध क्रमानुपात से सर्वप्रथम पृथिवी–चन्द्रमा–से समन्वित उपेश्वरमूर्ति सम्वत्सरात्मक सूर्य्य का आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में लय होता है, यही उपेश्वर का अवसान है, जिसे पूर्व में––'खण्डप्रलय' कहा गया है। दिव्ययुगसमाप्ति ही इसकी आयुःसमाप्ति है। आगे चलकर ब्राह्मयुगावसान पर पारमेष्ठ्य विष्णु से समन्वित स्वायम्भुव ब्रह्मा का महामायावच्छिन्न महेश्वर–अश्वत्थपुरुष में विलयन होजाता है, और यही बल्शेश्वर का अवसान है, जिसे पूर्व में 'प्रलय' कहा गया है। ऐसा भी समय आता ही है, जबकि अश्वत्थ-मूर्ति मायी महेश्वर की सहस्रों बल्शाओं का भी विलयन हो जाता है। महामाया का बन्धनविमोक ही वैसा समय माना गया है। इस बन्धन के विमुक्त होते ही अश्वत्थमूर्ति महेश्वर स्वप्रभव परात्पर परमेश्वर की अनन्तता में विलीन हो जाते हैं। और यही महेश्वर का अवसान है, जिसे 'माया' बन्धनविमोकदृष्ट्या पूर्व में-'महाप्रलय' कहा गया है। तदित्थं महामायी--सहस्रबल्शात्मक--महेश्वर, पञ्चपुण्डीरात्मक योगमायी-बल्शेश्वर, एवं सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यात्मक सम्वत्सरमूर्त्ति त्रिकल उपेश्वर, इन तीन प्राजापत्य विवर्त्तों के भेद से लयभाव क्रमशः महाप्रलय-प्रलय-खण्डप्रलय-इन तीन भावों में परिणत हो जाता है।

४०–पुरुषानुगत मानवयुग, उपेश्वरानुगत दिव्ययुग, बल्शेश्वरानुगत ब्राह्मयुग, एवं महेश्वरानुगत ईश्वरीययुग, भेद से चतुर्विधा युगव्यवस्था––

सम्वत्सरप्रतिमानरूपा नित्यलयानुगता मानवीय–कालमहिमा का समन्वय करने वाली कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है-'मानवयुग'। सम्वत्सरलक्षण-उपेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है--'दिव्ययुग'। बल्शेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है–'ब्राह्मयुग'। एवं महेश्वरप्रजापति की कालव्यवस्था का साङ्केतिक नाम है 'ईश्वरयुग'। मानव, उपेश्वर, बल्शेश्वर, महेश्वर, ये चारों हीं विवर्त्त स्व-स्व-युगानुगत शतवर्षात्मक-कालभोगों से शतायु ही बन रहे हैं, जिन इन चार विवर्त्तों में से सर्वान्त के महेश्वर-विवर्त्त के शतायुर्भोगकाल की मीमांसा मानवप्रज्ञा के लिए दुरधिगम्या ही मानी जायगी। कारण इस दुरधिगम्यता का स्पष्ट है। महेश्वर की सीमा में सहस्रबल्शेशार प्रतिष्ठित हैं। इन सहस्रों बल्शे-श्वरों के सहस्रधा विभक्त शतशत-आयुर्भोगकालों से सम्बन्ध रखने वाले आनन्त्य का यथावत् गणनात्मक

समन्वय करलेना अत्यन्त ही दुरधिगम्य है। अतएव प्रस्तुत प्रसङ्ग में महेश्वर के शतायुर्भोगकाल की गणना-मीमांसा को प्रणाम्य ही मान लिया गया है। शेष रह जाते हैं **बल्शेश्वर-उपेश्वर-मानव**-नामक तीन विवर्त्त, जिनका क्रमशः **ब्राह्मयुग-देवयुग-मानुषयुग**-नामक तीन युगों से सम्बन्ध है। इन युगपरिभाषाओं के माध्यम से ही हमें कालपुरुष की गणनात्मिका अनन्तता की उपासना में प्रवृत्त होना है निम्नलिखित परिलेख-माध्यम से रूपरेखा को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ करते हुए ही—

---

*--सर्वाधिष्ठाता--अखण्डः--परात्परः--परमेश्वरः--मायातीतः--(**अविज्ञेयः**)

१--सहस्रबल्शावच्छिन्नः--अश्वत्थमूर्त्तिः--महामायी--महेश्वरः--महाप्रलयाधिष्ठाता (अविज्ञेयः)

२--पञ्चपुण्डीरावच्छिन्नः--एकबल्शेश्वरः--योगमायी--बल्शेश्वरः--प्रलयाधिष्ठाता (दुर्विज्ञेयः)

३--सौरचान्द्रपार्थिवसम्वत्सरमूर्त्तिः--योगमायी--उपेश्वरः--खण्डप्रलयाधिष्ठाता (सुविज्ञेयः)

---

*--सम्वत्सरप्रतिमानभूतः--योगमायावच्छिन्नः--पुरुषो मानवः--नित्यप्रलयानुगतः (**ज्ञाता**)

४१-पार्थिव अक्षवृत्त, चान्द्र दक्षवृत्त, एवं सौर क्रान्तिवृत्त-मूलक मानव-पैत्र्य-दैव-अहोरात्रों का पारिभाषिक समन्वय—

* भूलोकानुगता आत्मनिष्ठा प्रजा ही '**मानव**' नाम से, चन्द्रलोकानुगता प्रजा ही '**पितर**' नाम से, एवं सूर्य्यलोकानुगता प्रजा ही '**देवदेवता**' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र '**मानुष-अहोरात्र**' कहलाया है, चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र '**पैत्र-अहोरात्र**' कहलाया है, एवं सूर्य्य से सम्बन्ध रखने वाला अहोरात्र '**दैव-अहोरात्र**' कहलाया है। तात्पर्य्य यही है कि, अहः (दिन) की सामान्य परिभाषा है **सूर्य्यप्रकाशानुगत भोगकाल**, एवं रात्रि की परिभाषा है **प्रकाश से वञ्चित तमोमय काल**। इस परिभाषा के अनुसार भूपिण्ड के **अक्षवृत्त**, चन्द्रपिण्ड के **दक्षवृत्त**, एवं सूर्य्यानुगत क्रान्तिवृत्त, इन तीन वृत्तों के भेद से पार्थिव-चान्द्र-सौर-कक्षाओं में प्रकाशभोगकालात्मक अहः, एवं तमोभोगकालात्मिका रात्रि का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् कालानुगामी बन जाता है। पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण से सम्बन्ध रखने वाली दैनंदिनगति की अपेक्षा से भूलोक पर १२ घन्टा पर्य्यन्त सौर प्रकाश की सत्ता है, तो १२ घन्टा पर्य्यन्त तम का साम्राज्य है। इस दृष्टि से पार्थिवी मानवप्रजा का एक अहोरात्र २४ घन्टात्मक बन रहा है। चान्द्र दक्षवृत्तानुपात से सम्बन्ध रखने वाली चान्द्रीगति की अपेक्षा से चान्द्र कक्षावृत्त का मानवीय पन्द्रह अहोरात्रात्मक अर्द्धभाग सौर प्रकाश से समन्वित रहता है, एवं अर्द्धभाग तम से समन्वित रहता है। यहाँ तमोमय सोम पितरों का अहःकाल बना हुआ है, ज्योतिर्म्मय आलोक पितरों की रात्रि प्रमाणित हो रहा है। कृष्णपक्ष पितरों का अहःकाल है, अमावास्या मध्याह्नकाल है। शुक्लपक्ष पितरों का रात्रिकाल है, पूर्णिमा मध्यरात्रि है पितरों की। यही कृष्णा-शुक्ल-पक्षात्मक काल पैत्र अहोरात्र है, जिसका तात्पर्य्य यह हुआ कि,

---

*--त्रयो वाव लोकाः--मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः--इति।—शत० १४।४।३।२४।

मानवीय ३० अहोरात्रों की समष्टि, किंवा एक मास का नाम ही पितरों का एक 'अहोरात्र' है जैसा कि–'मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रः' इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है।

४२–त्रिविध अहोरात्रों का निष्कर्षार्थ–समन्वय—

भूपिण्ड की साम्वत्सरिक–परिभ्रमण–गति के आधारभूत क्रान्तिवृत्त से वार्षिक गति का स्वरूप सम्पन्न होता है, जिससे सम्वत्सर के षट्–षट्–मासात्मक दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं, जो कि दोनों क्रान्तिवृत्तीय विभाग क्रमशः **उत्तरायण-दक्षिणायन** नाम से प्रसिद्ध हैं। षण्मासात्मक उत्तरायणकाल उत्तरध्रुवानुबन्ध से सौरप्रकाशभोगकाल है, यही सौरप्राणलक्षण–देवभाव से अनुप्राणित 'अहःकाल' है, एवं षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल दक्षिणध्रुवानुबन्ध से सौरप्रकाशविरोधी तम का भोगकाल है, एवं यही देवताओं का रात्रिकाल है। इसप्रकार मानव के एकवर्ष से (३६० अहोरात्रयुग्मों से) सौरप्राणात्मक देवदेवताओं के उत्तरायण–दक्षिणायन–भेद से एक अहोरात्र का स्वरूप सम्पन्न होता है, जैसा कि–'वर्षेण दैवतः' वचन से स्पष्ट है। २४ घन्टों का एक अहोरात्र मानव का, मानवीय एक मास का अहोरात्र पितरों का, एवं मानव के एक वर्ष का एक अहोरात्र देवताओं का, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

४३–दिव्य अहोरात्र, दिव्य दिव्यमास, एवं दिव्यवर्ष का परिभाषिक समन्वय —

मानव के ३० अहोरात्रों का मानवीय १ मास, ऐसे १२ मासों की समष्टि मानव का १ वर्ष, एवं ऐसे सौ वर्षों की समष्टि ही मानव का **मानुषयुग**, एवं यही मानवायुर्भोगकाल की इयत्ता, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी मानवयुगानुपात से अब दिव्ययुगानुगता व्यवस्था का समन्वय कीजिए, एवं तदनुपात से ही सम्वत्सरलक्षण उपेश्वर के शतायुर्भोगकाल को लक्ष्य बनाइए। **मानव का एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र** है, यह प्रसिद्ध है। यही **'दिव्य–अहोरात्र'** (देवताओं का एक दिनरात) है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों की समष्टि का नाम होगा एक **'दिव्यमास'** (देवताओं का एक महीना), जिस देवमास के मानुषवर्ष होंगे ३० तीस। हमारे ३० वर्ष, तो देवताओं का १ मास (३० अहोरात्र), यही निष्कर्ष है। ऐसे १२ मासों की समष्टि का नाम होगा देवताओं का एक **दिव्यवर्ष**, जिसके मानववर्षानुपात से होंगे ३६० तीनसौ साठवर्ष। अर्थात् मानव के ३६० वर्षों की समष्टि का नाम होगा एक **'दिव्यवर्ष'**। ऐसे दिव्य १०० वर्षों के मानुषवर्ष ३६००० (छत्तीसहजार) हो जाते हैं।

४४–दिव्ययुगानुगता आयुर्व्यवस्था की अनन्तता का मूलाधार—

स्थूलदृष्टि से दिव्य शतवर्ष (मानुष ३६००० वर्ष) पर ही सम्वत्सरात्मक उपेश्वर का आयुर्भोगकाल समाप्त होजाना चाहिए था, जैसे कि ३६००० मानव अहोरात्रात्मक सौ वर्षों में मानव का आयुःकाल उपरत होजाता है। किन्तु दिव्यवर्षानुगता व्यवस्था का 'शत' भाव सौर–साहस्री के सम्बन्ध से सहस्र–भाव पर विश्रान्त होता है, जबकि मानवयुगानुगता आयुर्व्यवस्था शतभाव पर ही परिसमाप्त है। वाक्साहस्री से अनुप्राणिता सहस्रभावानुगति का महिमात्मक समन्वय ही **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** रूप से दिव्ययुगीया आयुर्व्यवस्था को अनन्तता प्रदान कर रहा है, जिस इस आनन्त्य के यथावत् समन्वय के लिए तो साहस्री-विद्यानुगता 'मन्वन्तरविद्या' का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय अपेक्षित है।

१–महामायी महेश्वरः——शतायुः—ईश्वरयुगव्यवस्थानुपातेन—अचिन्त्योऽयमायुर्भोगकालः

२–योगमायी विश्वेश्वरः——शतायुः—ब्राह्मयुगव्यवस्थानुपातेन—उपास्योऽयमायुर्भोगकालः

३–सम्वत्सरमूर्त्तिरुपेश्वरः——शतायुः—दिव्ययुगव्यवस्थानुपातेन—आराध्योऽयमायुर्भोगकालः

४–सम्वत्सरप्रतिमानभूतो मानवः-शतायुः–मानुषयुगव्यवस्थानुपातेन—अनुगमनीयोऽयमायुर्भोगकालः

*

१–मानुषयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

२४ घन्टों का १ मानुष अहोरात्र

३० अहोरात्रों का १ मानुषमास

१२ मासों का १ मानुषवर्ष

१०० वर्षों का १ मानुषयुग

—मानुषयुगोऽयं–नित्यप्रलयानुगतः सैषा–जीवभावात्मिका–पुरुषसंस्था—

२–दिव्ययुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१ मानुषवर्ष का १ दिव्य अहोरात्र

३० दिव्य अहोरात्रों का १ दिव्यमास

१२ दिव्यमासों का १ दिव्यवर्ष

१२०० दिव्यवर्षों का १ खण्डदिव्ययुग

२००० दिव्ययुगों का १ महादिव्ययुग

—दिव्ययुगोऽयं–खण्डप्रलयानुगतः सैषा सम्वत्सरभावात्मिका उपेश्वरसंस्था

३–ब्राह्मयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१ महादिव्ययुग का १ ब्राह्म अहोरात्र

३० ब्राह्म अहोरात्रों का १ ब्राह्ममास

१२ ब्राह्म मासों का १ ब्राह्म वर्ष

१०० ब्राह्म वर्षों का १ ब्राह्म युग

—ब्राह्मयुगोऽयं प्रलयानुगतः सैषा अव्यक्तात्मिका बल्शेश्वरसंस्था

४–ईश्वरयुगानुबन्धिनी व्यवस्था

१००० ब्राह्मयुगों की समष्टि १ विश्वेश्वरयुग

—ईश्वरयुगोऽयं महाप्रलयानुगतः सैषा अचिन्त्या महेश्वरसंस्था

*

४५--सूर्य्यकेन्द्रस्थ मनु, एवं तन्मूलक मन्वन्तरों की मुहूर्त्तात्मकता का समन्वय----

सूर्य्यकेन्द्रस्थ मनोमय शाश्वत ऐन्द्र प्राण का ही नाम मनोमय 'मनु' है, जो सौरसम्वत्सर का हृद्य आत्मा माना गया है। दिव्ययुगानुबन्धी सूर्य्यसत्ताकाल की परिधि को व्यवस्थित करने वाला मध्यान्तर ही 'मन्वन्तर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो सौरमनु केन्द्र सम्बन्ध से पुराणशास्त्र में 'सूर्य्यपुत्र' नाम से उपवर्णित है। मानव-अहोरात्र-व्यवस्था में जो स्थान मुहूर्त्त का है, सृष्टिसत्ताकालात्मक एक सूर्य्यसत्तानुबन्धी दिव्ययुग-विवर्त्त में वही स्थान 'मन्वन्तर' का है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। विषय-समन्वयदृष्ट्या पुनः एक बार यह स्पष्ट कर लीजिए कि, मानवयुग-व्यवस्था में अहोरात्र की ६० घड़ियों में ३० मुहूर्त्त उपभुक्त हैं। आपके चतुर्विंशति (२४) होरा-(घन्टा)-त्मक एक अहोरात्र (दिन-रात्र) में ६० घटिका होती हैं, जिनके २-२ घटिकाओं के अनुपात में अहोरात्र में मुहूर्त्त ३० (त्रिंशत्) हो जाते हैं, जिनमें से १५ महुर्त्तों, किंवा ३० घड़ियों का भोग तो दिन में हो रहा है, एवं १५ मुहुर्तों, किंवा ३० घड़ियों का उपभोग रात्रि में हो रहा है। वस्तुतस्तुः दिन और रात में तो १४-१४ मुहुर्त्तों, किंवा २८-२८ घड़ियों का ही भोगोपभोग प्रकृत्या समन्वित है। १-१ मुहूर्त्त, किंवा २-२ घड़ियों का भोगोपभोग तो अहोरात्रानुबन्धिनी प्रातः सायं-सन्ध्याओं में ही अन्तर्लीन हो जाता है। फलतः अहोरात्र में तो १४-१४-(संकलनया २८) मुहूर्त्त ही उपभुक्त हैं।

४६--दिव्ययुगानुगत गणनानन्त्य का उपक्रम----

ठीक यही व्यवस्था सूर्य्यसत्ताकालात्मक उस दिव्ययुग में समझिए, जिसे हम आरम्भ से 'वर्त्तमानकाल' कहते आए हैं, एवं जो कि सूर्य्यसत्ताकाल ब्राह्मयुगानुबन्ध से ब्रह्मा का एक 'अहःकाल' (पुण्याह) कहलाता है। **ब्राह्म अहः, ब्राह्मी रात्रि**, दोनों की समष्टि एक ब्राह्म अहोरात्र है, जिसमें पूर्वोक्त मानुष अहोरात्रवत् ३० मुहूर्त्तों का उपभोग हो रहा है, जिन मुहूर्त्तों को इस दिव्ययुगपरिभाषा में 'मुहूर्त्त' न कह कर **'मन्वन्तर'** कहा गया है। १५ मन्वन्तरात्मक ब्राह्म अहःकाल, एवं १५ मन्वन्तरात्मिका ही ब्राह्मी रात्रि, सम्भूय इस दिव्य-युगात्मक एक अहोरात्र में ३० मन्वन्तरों का भोगोपभोग प्रमाणित हो जाता है। वस्तुतस्तु मानवयुग-व्यवस्थावत् यहाँ भी १४ मन्वन्तरों का भोग अहःकाल में, एवं १४ मन्वन्तरों का उपभोग रात्रिकाल में, तथा १-१ मन्वन्तर का प्रातः-सायं-संध्या में भोग हो रहा है। अब इस 'मन्वन्तर' को लक्ष्य बनाकर ही हमें दिव्ययुगानुगता गणना के आनन्त्य का समन्वय करना है।

४७---सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि-युगों के ३६००००० (छत्तीसलाख) विभूतिभाव---

सत्य--त्रेता-द्वापर-कलि-नाम से प्रसिद्धा 'युगव्यवस्था' पूर्वोक्त अहःकालीन सौर मन्वन्तरों के आधार पर ही प्रतिष्ठिता है। अतएव बिना इस चतुर्युगी-व्यवस्था के समन्वय के दिव्ययुगानुगता कालगणना का समन्वय कदापि सम्भव नहीं है। कहा गया है कि, ३६० मानुषवर्षों का एक दिव्यवर्ष होता है, एवं ३६००० मानुष-वर्षों के दिव्य १०० वर्ष होते हैं, जो यह शतभाव सौरी वाक्साहस्री से सहस्रमहिमाभाव में परिणत होकर ही दिव्ययुगानुगता कालव्यवस्था का मापदण्ड बनता है। शत दिव्य वर्षों के स्थान में अब आपको सहस्र (१००० एक हजार) दिव्यवर्षों को माध्यम बना लेना चाहिए इस दृष्टिकोण से, जिसके मानुषवर्ष ३६०००० (तीन लाख साठहजार) वर्ष हो जाते हैं। ऐसे १० सहस्र दिव्यवर्षों के समुच्चय से पूर्वोक्त सत्य-त्रेता-

द्वापर–कलि–नामक चार युगों की अवधि सम्पन्न हुई है। चार (४) हजार दिव्ययुगों का १ सत्ययुग, तीन (३) हजार दिव्ययुगों का एक त्रेतायुग, दो (२) हजार दिव्ययुगों का १ द्वापरयुग, एवं एक (१) हजार दिव्य युगों का एक कलियुग, इसप्रकार ४-३-२-१ इस क्रमानुपात से क्रमशः चारों युगों का काल व्यवस्थित हुआ है, जिन चारों के समन्वय से १० हजार दिव्यवर्ष हो जाते हैं। एक दिव्य सहस्र वर्ष के मानुषवर्ष यदि ३६०००० (तीन लाख साठ हजार) होंगे, तो इसी अनुपात से दस सहस्र (१००००) दिव्य वर्षों के मानुषवर्ष होंगे–३६००००० (छत्तीस लाख) वर्ष, एवं यही चतुर्युगी का भोगकाल माना जायगा।

४८–सन्ध्यांशों से समन्वित बारह हजार दिव्यवर्षों के साथ ४३२०००० (तिंयालीस-लाख बीस हजार) मानववर्षों का समन्वय––––

दशसहस्र दिव्यवर्षात्मक, एवं षट्त्रिंशल्लक्षमित मानुषवर्षात्मक चारों युगों में प्रत्येक में क्रमशः ८००–६००–४००–२०० इतने इतने दिव्यवर्ष और समाविष्ट रहते हैं युगानुगता प्रातःसन्ध्या, एव सायंसंध्या के अनुपात से, जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, चार हजार दिव्यवर्ष सत्ययुग का भोगकाल, ४०० दिव्यवर्ष इस युग की प्रातःसंध्या का भोगकाल, ४०० दिव्य वर्ष इस युग की सायंसन्ध्या का भोगकाल, सम्भूय ४८०० (चार हजार आठसौ) दिव्यवर्ष सन्ध्याविशिष्ट सत्ययुग के, ४६०० (चार हजार छहसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्या–विशिष्ट त्रेतायुग के, ३४०० (तीन हजार चारसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्याविशिष्ट द्वापरयुग के, एवं १२०० (बारहसौ) दिव्यवर्ष द्विसन्ध्याविशिष्ट कलियुग के हो जाते हैं। यों १० के स्थान में सन्ध्यांशों के २ सहस्र दिव्यवर्षों के समावेश से द्वादश सहस्र (१२००० बारह हजार) दिव्यवर्ष सम्पन्न हो जाते हैं, जिनके मानुषवर्ष होते हैं ४३२०००० (तियाँलीस लाख बीस हजार)। यह है एक चतुर्युगी का भोगकाल।

४९–अतःपरमिदं महदाश्चर्य्यम्!

अतःपरमन्यदपि महदाश्चर्य्यम्। तियाँलीस लाख बीस हजार मानुष वर्षात्मक, एवं बारह हजार दिव्य-वर्षात्मक तथाकथित चारों युगों की समन्वितावस्था का नाम है एक **'खण्डदिव्ययुग'**, जिस इस खण्डता की आधारभूमि बन रही है सहस्ररश्मियों में से केवल एक सूर्य्यरश्मि। अभी तो ९९९ सूर्य्यरश्मियों का कालानुपात शेष ही बन रहा है। तात्पर्य्य यह निकला कि, पूर्वोपवर्णित १२ सहस्रदिव्यवर्षात्मक खण्डदिव्ययुग जैसे ९९९ (नौसौनिन्यानवें) खण्डदिव्ययुगों का जब संकलन और कर लिया जायगा, तब कहीं महादिव्य-युगात्मक–सूर्य्यसत्ताकालात्मक–वर्त्तमानकाल का सर्वात्मना समन्वय सम्भव बन सकेगा, जिसके आधार पर ही 'उपेश्वर' का शतायुर्भोगकाल व्यवस्थित है।

५०––चतुर्युगी से अनुप्राणिता दिव्यवर्षानुगता, एवं मानववर्षानुगता महिमा का समन्वय––

सर्वप्रथम चतुर्युगी से सम्बद्धा वर्षमहिमा का समन्वय कीजिए दिव्यवर्ष–दृष्ट्या, एवं मानुषवर्ष–दृष्ट्या। ४८०० दिव्यवर्ष हैं सत्ययुग के, जिसके मानुष वर्ष होते हैं १७२८००० (सत्रह लाख, अठाईस हजार)। ३६०० दिव्यवर्ष हैं त्रेतायुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं १२९६००० (बारह लाख छिनवें हजार)। २४०० दिव्यवर्ष हैं द्वापरयुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं ८६४००० (आठ लाख चौसठ हजार)। एवं १२०० दिव्य-वर्ष हैं कलियुग के, जिसके मानुषवर्ष होते हैं ४३२००० (चार लाख बत्तीस हजार)। चारों युगों के दिव्यवर्षों का संकलनात्मकरूप होता है १२००० (बारह हजार) दिव्यवर्ष, जिसके मानुषवर्षानुपात से ४३२०००० (तियालीस-लाख बीस हजार) मानुषवर्ष हो जाते हैं, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

युगनाम	सन्धिकाल	मध्यकाल	सन्ध्यांश	संकलन	दिव्यवर्षानुगता—चतुर्युग-कालमान
१–सत्ययुग	४००	४०००	४००	४८००	
२–त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००	
३–द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००	
४–कलियुग	१००	१०००	१००	१२००	
	१०००	१००००	१०००	१२०००	

१–सत्ययुग के दिव्यवर्ष	४८००	मानुषवर्ष १७२८००० सत्रहलाख, अठाईसहजार	एकसूर्यरश्मिभोगकालः
२–त्रेतायुग के दिव्यवर्ष	३६००	मानुषवर्ष १२९६००० बारहलाख, छिनवेंहजार	
३–द्वापरयुग के दिव्यवर्ष	२४००	मानुषवर्ष ८६४००० आठलाख, चौसठहजार	
४–कलियुग के दिव्यवर्ष	१२००	मानुषवर्ष ४३२००० चारलाख, बत्तीसहजार	
चतुर्युगी के दिव्यवर्ष	१२०००	मानुषवर्ष ४३२०००० तिंयालीसलाख, बीसहजार	

सत्रहलाख–अठाईसहजार–मानुषवर्ष,	एवं चारहजार–आठसौ दिव्यवर्ष सत्ययुगमान
बारहलाख–छिनवेंहजार–मानुषवर्ष,	एवं तीनहजार–छःसौ दिव्यवर्ष त्रेतायुगमान
आठलाख–चौसठहजार–मानुषवर्ष,	एवं दोहजार–चारसौ दिव्यवर्ष द्वापरयुगमान
चारलाख–बत्तीसहजार–मानुषवर्ष,	एवं एकहजार–दोसौवर्ष कलियुगमान
तियाँलीसलाख–बीसहजार–मानुषवर्ष,	एवं बारहहजार दिव्यवर्ष चतुर्युगमान

५१--सहस्र दिव्यचतुर्युगात्मक सौर सत्ताकाल, एवं तद्रूप पुण्याहकाल----

उक्त कालविस्तार सौरमण्डलानुगता केन्द्रभावपिनद्धा सहस्र रश्मियों में से केवल एक रश्मि से सम्बन्ध रख रहा है। इसी अनुपात से मन्वन्तरमाध्यम से हमें अब शेष ९९९ रश्मियों के कालविस्तार का संक्षेप से समन्वय कर लेना है। सहस्र-सौर रश्मियों के अनुपात से अब हमें सहस्र ही चतुर्युगियों के भोगकालों पर दृष्टिनिक्षेप अभीष्ट है। सूर्य्यसत्तात्मक-वर्तमानकालात्मक-अहःकाल के मुहूर्त्तस्थानीय १४ मनन्तरों को एक ओर रख लीजिए, एवं सहस्ररश्मिसमूहात्मिका सहस्र-चतुर्युगियों को एक ओर रख लीजिए। और तब दोनों के समन्वय के माध्यम से सूर्य्यसत्ताकाल का समष्ट्यात्मक दर्शन कीजिए। सहस्र-चतुर्युगियों में से ७१-७१ (इकहत्तर-इकहत्तर) चतुर्य्युगियों को विभक्त कर देने से १४ मन्वन्तरों की ९९४ (नौसौ-चोरानवें) चतुर्युगियाँ हो जातीं हैं। ६ चतुर्युग शेष रह जाते हैं, जिनका अहरनुगत-समष्ट्यात्मक-प्रातःसन्ध्यात्मक १५ वें मन्वन्तर में अन्तर्भाव हो जाता है। यों अहःकालीन १५ मन्वन्तरों में १००० (सहस्र) चतुर्युगात्मिका सहस्र सौर-रश्मियों का भोग समन्वित हो जाता है। इसीका नाम है सूर्य्यसत्तात्मक अहःकाल, जिसे '**पुण्याह**' (पुण्यदिन-पवित्र-दिन) कहा गया है, जिसका कि भारतराष्ट्र के तत्त्वज्ञ द्विजाति '**पुण्याहम्-पुण्याहम्**' रूप से अपने माङ्गलिक स्वस्तिवाचन-कर्म्म में सतत संस्मरण करते रहते हैं।

५२-मानवीय-चारअर्ब--बत्तीसकरोड़--वर्षात्मक पुण्याहकाल का समन्वय—

तदित्थं-१५ मनवन्तरों से समन्वित सूर्यसत्तात्मक अहःकाल में जिन दिव्य-सहस्र-चतुर्युगों का भोग हो रहा है, जो दिव्य-सहस्र-चतुर्युग प्रत्येक मन्वन्तर में ७१-७१-चतुर्युगों की समष्टि से उपभुक्त हैं, १५ वें प्रातःसन्ध्यास्थानीय मन्वन्तर में ६ चतुर्युगों से उपभुक्त हैं, उन सहस्र-दिव्य-चतुर्युगों का अनन्त विस्तार सचमुच ही तो मानव के सीमित-प्राकृत-जीवन के समतुलन में अनन्ततम ही प्रमाणित हो रहा है। मुहूर्त्त से समतुलित एक मन्वन्तर, और उसमें ७१ चतुर्य्युगों का उपभोग। तात्पर्य्य यह निकला कि, ७१ (इकहत्तर) चतुर्युगों की समष्टिरूप एक मन्वन्तरभोगकाल में दिव्यवर्ष तो हुए, ८,५२००० (आठ लाख, बावनहजार), एवं मानषवर्ष हुए ३०६८२०००० (तीस करोड़, अड़सठलाख, बीसहजार)। अहःकालात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में सहस्र-रश्मियों के भोगानुपात से एक सहस्र तो चतुर्युग समाविष्ट हैं, एवं १५ (पन्द्रह) मन्वन्तर समाविष्ट हैं। इस दृष्टि से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि-एकहजार चतुर्युगों के दिव्यवर्ष तो हुए १२०००००० (बाहर करोड़), एवं मानववर्ष हुए ४३२०००००० (* चार अर्ब, बत्तीस करोड़)। यही सम्वत्सरप्रजापतिस्वरूप उपेश्वर का शतवर्षात्मक आयुर्भोगकाल है। **मानवीय चार अर्ब बत्तीसकोटिमित वर्षों की समष्टि ही उपेश्वरप्रजापति का शतायुर्भोगपरिमाण है, सहज भाषा में यही सूर्य्यप्रजापति का आयुर्म्भोगकाल है**। यों मानवत् उपेश्वरात्मक सूर्य्यप्रजापति भी अपने दिव्य-

---

*-एक चतुर्युग के मानुषपर्व-४३२०००० (तियाँलीसलाख बीसहजार)
दस चतुर्युग के मानुषपर्व-४३२००००० (चारकरोड़ बत्तीसलाख)
सौ चतुर्युग के मानुषपर्व-४३२०००००० (तिंयालीसकरोड़ बीसलाख)
हजार चतुर्युग के मानुषपर्व ४३२०००००० (चार अर्ब, बत्तीसकरोड़)।

वर्षानुगत–साहस्रीभाव से शतायुः ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिस इस सौर आयुर्भोगकाल को आधार बना कर ही अब हमें बल्शेश्वरप्रजापति के शतायुर्भोगकाल का समन्वय–बोध प्राप्त कर लेना है ।

५३–अहःकल्पसमतुलित रात्रिकल्प, एवं ब्राह्म–अहोरात्र का गणन–समन्वय—

एक सहस्र -दिव्यखण्ड–युगों की समष्टि का नाम ही एक **'महादिव्ययुग'** है । सहस्र खण्डदिव्ययुगों में मन्वन्तरानुपात से सूर्य्य की सहस्ररश्मियों का सर्वात्मना भोग हो जाता है, और यही सूर्य की, किंवा तद्रूप उपेश्वरप्रजापति की जीवनसत्तानुगता इयत्ता है, जो कि इयत्ता पुराणपरिभाषानुसार ब्राह्म **'अहःकल्प'** कहलाई है । बल्शेश्वरात्मक अव्यक्त ब्रह्म का एक अहःकाल (एक दिनमात्र) ही सूर्य्य का जीवनसत्ताकाल है । इसी से हमें स्वतः ही इस तथ्य पर भी पहुँच जाना पड़ता है कि, ब्रह्मा का रात्रिकल्प भी (एकरात्रि) उसी काल-इयत्ता से समन्वित है, जिस से अहःकल्प समन्वित है । अर्थात् १५ मन्वन्तरानुगत सहस्रचतुर्युगों जितना हीं १५ मन्वन्तरात्मक–सहस्रचतुर्युगात्मक ही ब्रह्मा का रात्रिकाल है । इन दोनों अहः–रात्रि–कल्पों के संकलन से उसीप्रकार एक **'ब्राह्म–अहोरात्र'** का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जैसे कि ३० मुहूर्त्तात्मक–२४ होरानुगत एक मानुष अहोरात्र का स्वरूप व्यवस्थित है ।

५४–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' मूलक–सर्गसंहारात्मक असंख्य मन्वन्तर, एवं कालपुरुष की अनन्तता—

ब्राह्म अहःकल्प में सूर्य्यात्मक उपेश्वरप्रजापति (सम्वत्सरप्रजापति-पार्थिव-चान्द्र-सम्वत्सर-समन्वित सौर सम्वत्सर) अपने सहस्रसंख्यामित रश्मिभावों का भोग समाप्त कर स्वप्रभव आपोमय-परमेष्ठीरूप महल्लक्षण अव्यक्त में हीं विलीन हो जाते हैं, जो कि यह सौरब्रह्माण्डविलयन पुराणभाषा में **'खण्डप्रलय'** नाम से प्रसिद्ध है । चतुर्द्दश मन्वन्तरात्मक, किंवा पञ्चदश मन्वन्तरात्मक ब्राह्म अहःकाल ही सूर्य्यसत्ताकाल है । एक अहःकल्प एक सूर्य्य का पूर्णायुर्भोगकाल है । अहःकल्पान्त में सहस्रांशु सूर्य्यनारायण स्वप्रभव भृग्वङ्गिरोमय आपोमय महन्मूर्त्ति पारमेष्ठ्य समुद्र में विलीन हो जाते हैं । पुनः भृग्वङ्गिरोऽत्रि–मूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में भार्गव दाह्य सोमाधार पर प्रतिष्ठित आङ्गिरस अग्नि के चितिरूप से लम्बलम्बायमान अग्निज्वालापुञ्जरूप धूमकेतु–माध्यम से नवीन सूर्य्य का प्रादुर्भाव हो पड़ता है । और यह सर्ग–विलयनात्मक धारावाहिक क्रम–**'धाता यथा–पूर्वमकल्पयत्'** रूप से अनाद्यनन्तकाल से शाश्वतीभ्यः समाभ्यः * (सदासदा के लिए) यों हीं अबाधगति से प्रक्रान्त चला आरहा है । रात्रिकल्पानुगत–मन्वन्तरों से अनुप्राणित सूर्य्यविलयनात्मक खण्डप्रलय, एवं अहःकल्पानुगत मन्वन्तरों से अनुप्राणित–सूर्य्यसत्तात्मक–सर्ग, दोनों के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण महन्मूर्त्ति परमेष्ठी ही बने हुए हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है, जिस इस धारावाहिक अनाद्यनन्त सर्ग–विलयन के अनुपात से तो मन्वन्तरों की १५–३० संख्यानुगता इयत्ता का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता । इस धारावाहिक चङ्क्रमण की दृष्टि से तो सौरसर्ग–लय–मूलक मन्वन्तर भी असंख्य ही प्रमाणित हो रहे हैं । सृष्टि–लय–भावों के इसी आश्चर्य्यपूर्ण आनन्त्य को लक्ष्य बना कर राजर्षि मनुने कहा है—

मन्वन्तराण्यसंख्यानि, सर्गः–संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ —मनुः १।८०।

---

* स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (ईशोपनिषत्)

५५–'ब्राह्मीतिथि' से समतुलित एक ब्राह्म-अहोरात्र, एवं इसके मानववर्षानुपात से आठ अर्ब चौसठकरोड़ वर्ष––

एक सहस्र दिव्यखण्डयुगात्मक एक अहःकाल, एवं एक सहस्र दिव्यखण्डयुगात्मक ही रात्रिकाल, इन दोनों की समष्टिरूप एक ब्राह्म अहोरात्र का नाम ही है एक **ब्राह्मकल्प**, जिसे मानवपरिभाषा में एक **'ब्राह्मी–तिथि'** कहा जा सकता है। जितना वर्षभोगकाल अहः का है, उतना ही वर्षभोगकाल रात्रि का है। अर्थात् १५ मन्वन्तरानुगत सहस्र–चतुर्युगों के १२ करोड़ दिव्यपर्व, ४ अर्ब, बत्तीसलाख–मानववर्ष–जहाँ अहर्भोग-काल है, वहाँ १२ करोड़ दिव्यवर्ष, ४ अर्ब-बत्तीस करोड़–मानववर्ष रात्रिभोगकाल है। सम्भूय एक ब्राह्म अहोरात्र में २४०००००० (चौबीस करोड़) तो दिव्यवर्ष हो जाते हैं, एवं, ८६४००००००० (आठ अर्ब, चौसठकरोड़) मानववर्ष हो जाते हैं, और यही है ब्रह्मा की एक तिथि, एक कल्प, किंवा एक अहोरात्र।

५६––त्रिंशत् (३०) ब्राह्म––अहोरात्रों के माध्यम से बल्शेश्वर के शतायुर्भोगकाल का गण––नात्मक समन्वय–––

आठ अर्ब–चौसठ करोड़ मानववर्षात्मक, एवं चौबीस करोड़ दिव्यवर्षात्मक एक ब्राह्म अहोरात्र को आधार बना कर ही अब बल्शेश्वर के आयुर्भोगकाल के आनन्त्य का साक्षात्कार कीजिए। ब्राह्म ३० अहो–रात्रों–कल्पों–तिथियों की समष्टि ही एक **'ब्राह्ममास'** माना जायगा, जो कल्पात्मिका ब्राह्मी तिथियाँ क्रमशः **श्वेतवराह–नीललोहित––वामदेव––रथन्तर**–आदि नामों से प्रसिद्ध हैं निगमागमशास्त्र में, जैसाकि परि–लेख के द्वारा आगे चलकर स्पष्ट होने वाला है। एवंविध १२ मासों की समष्टि का नाम है एक **'ब्राह्मवर्ष'**। और यदि परमेष्ठ्यनुगता लोकसाहस्री की अभी अविवक्षा करली जाती है, तो ऐसे १०० वर्षों की समष्टि का नाम होगा एक **'ब्राह्मयुग,'** यही बल्शेश्वर–का शतायुर्भोगात्मक आयुःकाल मान लिया जायगा। मन्वन्तर, कल्प, एवं बल्शेश्वर– के शतायुर्भोगकालों से अनुप्राणित कुछ एक परिलेखमात्र ही प्रकृत में उपनिबद्ध कर दिए जाते हैं, जिनके माध्यम से प्रज्ञाशीलों को स्वतः ही कालपुरुषानुगता अनन्तता का समन्वय करते रहना चाहिए शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। इस सम्बन्ध में पुनः यह स्मरण करा दिया जाता है कि, जिसप्रकार उपेश्वरात्मक–सौरसम्वत्सर से सम्बन्ध रखने वाले दिव्ययुगात्मक कालपरिमाण का शतभाव सौरमण्डलानुगता वाक्साहस्री से सहस्रधा महिमानः–सहस्ररूप में परिणत होता हुआ सहस्ररश्म्यनुबन्ध से सहस्रचतुर्युगात्मक रूपेण आनन्त्य का संग्राहक बन जाता है, एवमेव प्रकान्त बल्शेश्वरमूर्त्ति ब्राह्मकालानुबन्धी शतवर्ष भी पार–मेष्ठ्या लोकसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र–सहस्र–भावापन्न उस महिमायम आनन्त्य के अनुगामी बन रहे हैं, जिन का अश्वत्थमूर्त्ति मायी महेश्वर की सहस्र बल्शाओं पर पर्य्यवसान होता है। इसी समतुलन को लक्ष्य बनाकर–महर्षि के द्वारा शत–सहस्र–दोनों भावों का समन्वयरूप से ही प्रतिष्ठापन हुआ है, जैसा कि–**'वन––स्पते! शतबल्शो–– विरोह, सहस्रबल्शा वि वयं रुहेम'** [ऋक्सं० ३।८।११।] इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। वनस्पतिमध्यस्था यह उक्ति शतबल्शायुक्त बल्शेश्वर से समन्वित सहस्रबल्शामूर्त्ति अश्वत्थ–ब्रह्म [महेश्वर] की ओर ही प्रतीकविधि से सङ्केत कर रही है। दिव्ययुगवत् यदि ब्राह्मयुग के शतभाव का भी लोकसाहस्री–निबन्धन समन्वय किया जाता है, तो मानवीया गणनप्रज्ञा सर्वथा ही कुण्ठित हो जाती है। परमपरार्ध्यमूला अन्तिम संख्या भी ब्राह्मयुगानुबन्धी सहस्रवर्षों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ बनी रह जाती है।

और यही है सादिसान्तभावापन्न भी काल की गणनानुगता वह अनन्तता, जिस के दिग्दर्शनार्थ ही यहाँ ब्रह्मयुगानुबन्धी–केवल शतभावानुगत **अहोरात्र–मास–वर्ष–शतायु**–भेद से चार प्रक्रमों के माध्यम से काल–गणना–परिलेख उपस्थित हो रहे हैं।

१–ब्राह्म अहोरात्र के [एक दिन रात के] दिव्यवर्ष—२४०००००००	दिव्यवर्षानुपात से ब्राह्म अहो–रात्र मास, वर्ष, एवं शतायुर्भोग-कालों का समन्वय
२–ब्राह्म अहोरात्र के [एक महीने के] दिव्यवर्ष—७२००००००००	
३–ब्राह्म वर्ष के [बारहमहीनों के] दिव्यवर्ष—८६,४०,००००००००	
४–ब्राह्मशतायु के [सौवर्षों के] दिव्यवर्ष—८६,४००००००००	
१–चौबीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्म अहोरात्र	
२–सात अर्ब, बीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्ममास	
३–छिंयासी अर्ब, चालीस करोड़ दिव्यवर्षों का एक ब्राह्मवर्ष	
४–छिंयासी खर्ब, चालीस अर्ब दिव्यवर्षों के ब्राह्म सौवर्ष	

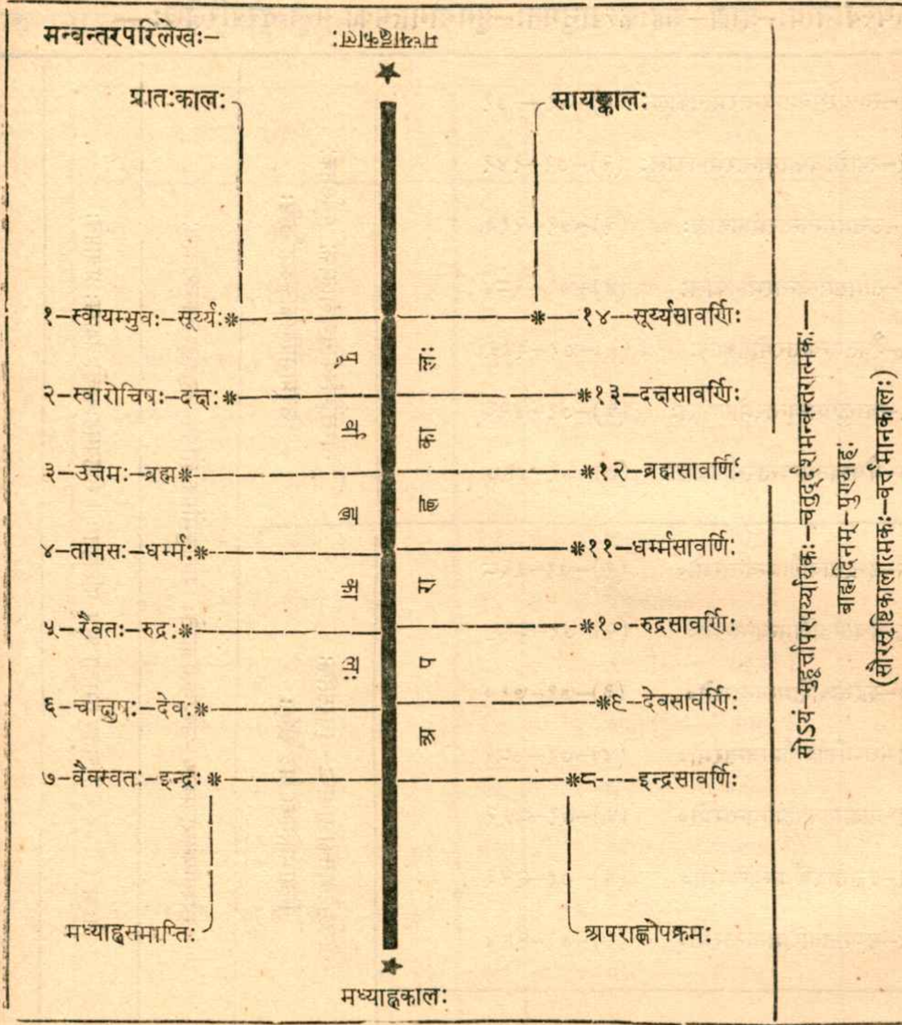
१–ब्राह्म अहोरात्र के [एक दिनरात के] मानववर्ष—८,६४०,००००००	मानववर्षानुपातसे ब्राह्म–अहो–रात्र, मास, वर्ष एवं शतायुर्भोग–कालों का समन्वय
२–ब्राह्म मास के (एक महीने के) मानववर्ष—२,५६,२०,००००००	
३–ब्राह्म वर्ष के (बारह महीनों के) मानववर्ष—३१,१०,४०,०००००००	
४–ब्राह्म शतायु के (सौवर्षों के) मानववर्ष——३१,१०,४०,०००००००००	
१–आठअर्ब, चौसठ करोड़ मानववर्षों का एक ब्राह्मअहोरात्र	
२–दोखर्ब, उनसठअर्ब बीसकरोड़ मानवर्षों का एक ब्राह्ममास	
३–इकतीसखर्ब, दसअर्ब, चालीसकरोड़ मानववर्षों का एक ब्राह्मवर्ष	
४–इकतीसनील, दसखर्ब, दसअर्ब मानववर्षों के ब्राह्म सौ वर्ष	

५७--पुराणशास्त्र की चतुर्दशमन्वन्तरमूला सृष्टिविद्या—

मानव के लिए अपने उस पार्थिव अहोरात्र का स्वरूप-स्पष्ट है, जिसमें २४ तो होरा (घन्टा) हैं, ६० घटिका हैं, एवं ३० मुहूर्त्त हैं। प्रत्यक्षदृष्टानुभूत मानवीय इसी अहोरात्र के बृहतीसहस्र (३६००० छत्तीस-हजार) चङ्क्रमणभाव से मानव के शतायुर्भोगकाल की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। मानवीय ३६० अहोरात्रों की समष्टिरूप मानवीय एक वर्ष के षण्मात्मक उत्तरायणकाल का नाम एक देव-अहः है, एवं षण्मा-सात्मक-दक्षिणायनकाल का नाम एक देवरात्रि है, और यही दैव-अहोरात्र है, जिसके माध्यम से खण्डदिव्य-युगानुगता महादिव्ययुगव्यवस्था हुई है, जिसके दिव्यवर्षानुपात से १२००००० (बारहकरोड़) तो दिव्यवर्ष हो जाते हैं, एवं ४३२००००००० (चार अर्ब बत्तीसकरोड़) मानववर्ष हो जाते हैं। एतावन्मित मानववर्षात्मक, एवं द्वाशकोटिमित दिव्यवर्षात्मक इस काल का ही नाम है एक 'ब्राह्मअहः', और यही है दिव्ययुगावच्छिन्न सम्वत्सरमूर्त्ति-उपेश्वरप्रजापति का शतवर्षात्मक आयुर्भोगकाल, जिसमें १५ मन्वन्तर उपभुक्त हैं। पन्द्रह-मन्वन्तरों की समष्टि, किंवा एक ब्राह्मअहः-ही उपेश्वर की आयु की इयत्ता है, वाक्साहस्री के सम्बन्ध से सहस्रधा वितायमान होने पर भी जिसे मान लिया गया है-शतायुरूप ही। निम्नलिखित परिलेख मुहूर्त्त-स्थानीय इन अहःकालीन मन्वन्तरों के ही संग्राहक बन रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में प्रसङ्गधिया यह और जान लेना चाहिए कि, १५ मन्वन्तरों में अहःकालनुगत मन्वन्तर १४ चौदह ही हैं। क्योंकि एक मन्वन्तर प्रातःसन्ध्या में ही अन्तर्लीन बना रहता है। अतएव इसे अहःकालभोग से पृथक् कर दिया गया है। यही कारण है कि, पुराणशास्त्र की मन्वन्तरमूला सृष्टिविद्याओं में 'चतुर्दश'-मन्वन्तर ही प्रमुख बने हुए हैं।

५८- ब्राह्म-अहःकाल के पूर्वपक्षीय सप्त मन्वन्तर, एवं उत्तरपक्षीय 'सावर्णि' नामक सप्त मन्वन्तर---

सौर सृष्टिकालानुबन्धी चौदह (१४) मन्वन्तरों के ७-७-मन्वन्तरों के दो प्रमुख क्रम व्यवस्थित हुए हैं, जिनका वैदिक विज्ञान की सुप्रसिद्धा 'उद्ग्राभ-निग्राभ--विद्या' से सम्बन्ध है। पूर्व का सप्तक उद्ग्राभभाव से, एवं उत्तर-सप्तक निग्राभभाव से समन्वित है। जिस क्रम से पूर्व सप्तक के सात मन्वन्तरों का क्रम-क्रमशः उद्ग्राभ (विकासमूलक चढ़ाव) होता है, उसी क्रमानुपात से उत्तर सप्तक के सातों मन्वन्तरों का क्रमशः निग्राभ (ह्रासमूलक उतार) होता है। अतएव उत्तर सप्तक के सातों मन्वन्तरों की सामान्य-अभिधा 'सावर्णि' होगई है। विकासदृष्ट्या जैसी स्थिति प्रथम (१) मन्वन्तर की है, ह्रासदृष्ट्या ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें (१४) मन्वन्तर की है। एवमेव २ का १३ वें से, ३ रा १२ वें से, ४ था ११ वें से, ५ वाँ १० वें से, ६ ठा ६ वें से, एवं ७ वाँ आठवें से समतुलित है। इस समतुलनात्मिका सवर्णता से ही ८-६-१०-११-१२-१३-१४-वें मन्वन्तर 'सावर्णि' कहलाने लग पड़े हैं। इस स्थिति को लक्ष्य बनाकर ही अब चौदहों मन्वन्तरों का परिलेख के द्वारा समन्वय कर लीजिए।



---

* सावर्णिः सूर्य्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः ।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम ॥
—मार्कण्डेयपुराण (सप्तशती)

तिथिस्थानीयः--ब्राह्म--अहःकल्पानुगतः--युगभोगात्मको मन्वन्तरपरिलेखः—

<table>
<tr><td>१–स्वायम्भुवमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(१)–७१—७१</td><td rowspan="7">सौरस्पृष्टिविकासकालात्मकः पूर्वसप्तकः
उद्ग्राभात्मिका–अर्द्ध सृष्टिः</td><td rowspan="14">सौरसम्वत्सरात्मकस्य –उपेश्वरप्रजापतेः शतायुर्भोगकालोऽयं चतुर्दशमन्वन्तरात्मकः</td><td rowspan="14">सहस्र (१०००) चतुर्युगभावा अत्र प्रतिष्ठिताः । सोऽयमहःकालो ब्रह्मणः प्रजापतेः</td></tr>
<tr><td>२–स्वारोचिषमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(२)–७१–१४१</td></tr>
<tr><td>३–उत्तममन्वन्तरभोगकालः</td><td>(३)–७१–२१३</td></tr>
<tr><td>४–तामसमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(४)–७१–२८४</td></tr>
<tr><td>५–रैवतमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(५)–७१–३५५</td></tr>
<tr><td>६–चाक्षुषमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(६)–७१–४२६</td></tr>
<tr><td>७–वैवस्वतमन्वन्तरभोगकालः</td><td>(७)–७१–४९७</td></tr>
<tr><td>८–इन्द्रसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(१)–७१–५६८</td><td rowspan="7">सौरस्पृष्टिह्रासकालात्मकः–उत्तरसप्तकः
निग्राभात्मिका अर्द्ध सृष्टिः</td></tr>
<tr><td>९–देवसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(२)–७१–६३९</td></tr>
<tr><td>१०–रुद्रसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(३)–७१–७१०</td></tr>
<tr><td>११–धर्म्मसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(४)–७१–७८१</td></tr>
<tr><td>१२–ब्राह्मसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(५)–७१–८५२</td></tr>
<tr><td>१३–दक्षसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(६)–७१–९२३</td></tr>
<tr><td>१४–सूर्य्यसावर्णिमन्वन्तरभो०</td><td>(७)–७१–९९४</td></tr>
<tr><td colspan="3">*–प्रातःसन्ध्यानुगतो भोगकालः———६—१०००</td></tr>
</table>

५९–ब्राह्ममासानुगता कल्पलक्षणा ३० तिथियाँ––

जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है, उक्त ब्राह्म अहःकाल की अवधि से समतुलित ब्राह्म रात्रिकाल के समन्वय से जिस एक **ब्राह्म–अहोरात्र** का स्वरूप–सम्पन्न हुआ है, वही एक **दैवसृष्टिकल्प** (**उपेश्वर–सृष्टि–संहारकाल**) कहलाया है, यही ब्रह्मा की एक 'तिथि' मानी गई है। जिसप्रकार मानवीय–मास में अहोरात्रात्मिका ३० तिथियाँ होतीं हैं, तथैव त्रिंशत्कल्पात्मक एक ब्राह्ममास के ये ३० कल्प ब्रह्मा की ३० तिथियाँ हीं हैं, जिनके समन्वय से एक **'ब्राह्ममास'** का स्वरूप–सम्पन्न हुआ है। परिलेख के द्वारा इन ब्राह्मी तिथियों का भी साक्षात्कार करलेना चाहिए।

ब्राह्ममासानुगतः–तिथिभावपरिलेखः—

शुक्लकल्पाः–पञ्चदश					कृष्णकल्पाः–पञ्चदश
१–श्वेतवराहः–(प्रतिपत्)	*	१	१६	*	१–नारसिंहः–(प्रतिपत्)
२–नीललोहितः-(द्वितीया)	*	२	१७	*	२–समानः—(द्वितीया)
३–वामदेवः—(तृतीया)	*	३	१८	*	३–आग्नेयः—(तृतीया)
४–रथन्तरः—(चतुर्थी)	*	४	१९	*	४–सौम्यः—(चतुर्थी)
५–रौरवः—(पञ्चमी)	*	५	२०	*	५–मानवः—(पञ्चमी)
६–प्राणः—(षष्ठी)	*	६	२१	*	६–तत्पुरुषः—(षष्ठी)
७–बृहत्—(सप्तमी)	*	७	२२	*	७–वैकुण्ठः—(सप्तमी)
८–कन्दर्पः—(अष्टमी)	*	८	२३	*	८–लक्ष्मी—(अष्टमी)
९–सत्यः—(नवमी)	*	९	२४	*	९–सावित्री—(नवमी)
१०–ईशानः—(दशमी)	*	१०	२५	*	१०–अघोरः—(दशमी)
११–व्यानः—(एकादशी)	*	११	२६	*	११–वराहः—(एकादशी)
१२–सारस्वतः—(द्वादशी)	*	१२	२७	*	१२–वैराजः—(द्वादशी)
१३–उदानः—(त्रयोदशी)	*	१३	२८	*	१३–गौरी—(त्रयोदशी)
१४–गारुडः—(चतुर्द्दशी)	*	१४	२९	*	१४–महेश्वरः—(चतुर्द्दशी)
१५–कूर्म्मः—(पूर्णिमा)	*	१५	३०	*	१५–पितरः—(अमावास्या)
ब्राह्मः–शुक्लपक्षः–पूर्णिमान्तः					ब्राह्मः–कृष्णपक्षः–अमान्तः

त्रिंशत् (३०)–कल्पाः–त्रिंशद्दिनानि–एको ब्राह्ममासः

६०–मायी महेश्वरानुगत शतायुर्भोगकाल की दुरभिगम्यतामूला अचिन्त्यता—

अब शेष रह जाते हैं मायी महेश्वर, जिनके शतायुर्भोगकाल की यथावत्–मीमांसा में तो मानव–प्रज्ञा सर्वथा कुण्ठित ही प्रमाणित हुई है, जिस इस अचिन्त्या–अनन्तता की ओर सङ्केत करने के लिए ही पुराण-शास्त्र में मार्कण्डेय की आयु का विचार समन्वित हुआ है। सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से इस चतुर्थ आयुःप्रक्रम के सम्बन्ध में केवल यही समन्वय कर लेना पर्य्याप्त होगा कि–छियासी अर्ब, चालीस करोड़ दिव्यवर्षात्मक, तथा इकतीस खर्ब, दस अर्ब, चालीस करोड़ मानववर्षात्मक काल बल्शेश्वरप्रजापति का एक वर्ष माना गया है (देखिए पृ० सं० ३१)। यही काल मायी महेश्वरात्मक सहस्रबल्शामूर्त्ति प्रजापति का एक अहःकाल माना जायगा, इतना हीं काल महेश्वर की रात्रि मानी जायगी, जिसका अर्थ यही होगा कि–एक खर्ब, बहत्तर-अर्ब, अस्सीकरोड़ दिव्यवर्षात्मक (१७२८००००००००), एवं बासठखर्ब–बीसअर्ब–अस्सीकरोड़–मानववर्षात्मक (६२२०८००००००००) काल एक **'माहेश्वर-अहोरात्र'** होगा। ऐसे ३० अहोरात्रों की समष्टि (अर्थात् ३० वर्षों की समष्टि) महेश्वरप्रजापति का एक मास होगा। ऐसे १२ मासों का एक महेश्वरवर्ष अनुमेय माना जायगा। एवं मानवीय मन के क्षणिक परितोषमात्र के लिए ऐसे १०० माहेश्वर वर्षों की समष्टि को महेश्वर का शतायुर्भोगकाल मानने की अक्षम्य धृष्टता करली जायगी, जबकि मानव के लिए तो उसके साक्षात्स्रष्टा सम्वत्सर-प्रजापतिमूर्त्ति सौर–उपेश्वर की कालावधि ही अचिन्त्या प्रमाणित हो रही है–**'न विश्वमूर्त्तेरवधा-र्य्यते वपुः'**।

६१–'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्यायेन वर्त्तमान सृष्टिकालभुक्त भोग्यपरिमाण-जिज्ञासा का उपक्रम—

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से अब इस प्रक्रान्त आयुर्भोगकाल के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। मायातीत अखण्ड–परात्पर–परमेश्वर के अनन्त–असीम–क्रोड़ में बुद्बुदसम अवस्थित असंख्य मायी महेश्वर–विवर्त्तों में से जिस किसी एक मायावच्छिन्न-मायी-महेश्वररूप-सहस्रबल्शामूर्त्ति-अश्वत्थे-श्वर की पञ्चपुण्डीरा सहस्र–बल्शाओं में से जिस किसी एक 'बल्शेश्वर' की आपोमयी पारमेष्ठ्य-सीमा के गर्भ में बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित–पृथिविचन्द्रगर्भित सौरसम्वत्सरात्मक उपेश्वर के शतायुर्भोगकाल से अनुप्राणित मानव के साक्षात् आधारभूत इस एक सृष्टिकाल की अवधि के भुक्त–वर्त्तमान–भोग्य–भावों की कालइयत्ता की विश्राम-भूमियाँ कौन कौन सी हैं ?, यही वह शेष प्रश्न है, जिसका दो शब्दों में समन्वय कर यह आयुर्भोग-प्रसङ्ग उपरत हो रहा है।

६२–धार्म्मिक आचारानुगत 'संकल्पसूत्र' के माध्यम से प्रश्नत्रयी के समन्वय की चेष्टा—

सूर्य्यसत्तात्मक वर्त्तमानकाल ही उपेश्वर का आयुर्भोगकाल है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इस एक वर्त्तमानकाल का ही नाम ब्राह्म अहः है, जिसे 'पुण्याह' कहा गया है। इसी के माध्यम से हमें वर्त्त-मानसृष्टिकाल के भुक्त–वर्त्तमान–भोग्य–इन तीनों प्रक्रमों का समन्वय करना है। कितना समय बीत चुका ?, कौनसा समय चल रहा है ?, एवं कितना काल शेष है अहःकालात्मक वर्त्तमानकाल में ?, ये तीनों प्रश्न उक्त शेष प्रश्न के अङ्ग बने हुए हैं, जिन तीनों का समाधनकेन्द्र भारतीय आस्तिक मानवों का, धर्म्मिष्ठ मानवों का दिग्देशकालानुबन्धी वह **'संकल्पसूत्र'** ही बना हुआ है, जिस संकल्पसूत्रसंस्मरण के बिना धार्म्मिक प्रजा के कोई भी विधि–विधान उपक्रान्त नहीं हुआ करते।

६३-श्वेतवाराहकल्पतिथ्यनुगत सृष्टिकालात्मक १४ मन्वन्तर—

ब्रह्मेश्वरात्मक ब्रह्मप्रजापति के तिथिस्थानीय जिन ३० कल्पों का परिलेख के द्वारा पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन में शुक्लपक्ष की प्रतिपत् (पड़वा) तिथि से समतुलित 'श्वेतवाराह' नामक प्रथम तिथि-कल्प ही ब्रह्मा के मास का प्रथम दिन है, प्रथम अहःकाल है । यही हमारा मूलभूत सौरकालात्मक वर्त्तमान-काल है, जिसका १४ मन्वन्तरों से सम्बन्ध माना गया है । एक ब्राह्म अहःरूप-श्वेतवाराहकल्पात्मक प्रथम (शुक्लप्रतिपत्) तिथिभावानुगत इस सृष्टिकाल के **१–स्वायम्भुव, २–स्वारोचिष, ३–उत्तम, ४–तामस-५–रैवत, ६–चाक्षुष**–नामक ६ मन्वन्तर भुक्त हो चुके हैं । सातवाँ '**७–वैवस्वतमन्वन्तर**' प्रक्रान्त है, जिसके भोगकालावसानानन्तर शेष **८–इन्द्र, ९–देव, १०–रुद्र, ११–धर्म्म, १२–ब्रह्म, १३, दक्ष, १४–सूर्य्य**–नामक ७ (सात) सावर्णिलक्षण मन्वन्तरों का भोग होने वाला है क्रमशः । यही सृष्टिकाल का भोग्यकाल माना जायगा । इन सब के अवसानान्त पर सूर्य्य का शतायुःकाल समाप्त हो जायगा, यही हमारी एक सम्वत्सरसृष्टि की इयत्ता मानी जायगी । एवं इसी को आधार बना कर हमें अपनी सम्पूर्ण कालव्यवस्थाओं का समन्वय करना पड़ेगा ।

६४-स्वायम्भुव मन्वन्तरादि चाक्षुष मन्वन्तरान्त-६मन्वन्तरों के भोगानन्तर सप्तम वैवस्वत-मन्वन्तरभोग की उपक्रान्ति—

स्थितस्य पुनः–गतिश्चिन्तनीया । वर्त्तमानकालात्मक सूर्य्य ही हमारे वर्त्तमानसृष्टिकाल का साक्षी है, जिस इस सृष्टिसाक्षीरूप सूर्य्य का उदय हुआ था ब्रह्मात्मक उपेश्वरप्रजापति की शुक्लप्रतिपत्-तिथि के उप-क्रम में, जिस 'तिथिकल्प' को 'श्वेतवाराहकल्प' कहा गया है । **अस्मिन् श्वेतवाराहकल्पे**–सौरसृष्टिकाल के स्वायम्भुवादि चाक्षुषान्त ६ मन्वन्तर उपभुक्त हो चुके हैं, व्यतीत हो चुके हैं । एक एक मन्वन्तर में क्योंकि ७१–७१–चतुर्युगों का भोग होता है । अतएव ६ (छह) चतुर्युगों की समष्टिरूप प्रातःसन्ध्यात्मक मन्वन्तर-भोग काल के अनन्तर क्रमशः भुक्त होने वाले ६ छओं मन्वन्तरों में क्योंकि प्रत्येक के अनुपात से ७१–७१–चतुर्युगों का भोग हो चुका है । अतएव प्रातःसन्ध्या से आरम्भ कर छठे चाक्षुष-मन्वन्तरपर्य्यन्त ४३२ (चार-सौबत्तीस) चतुर्युग भुक्त हो चुके हैं । अब सहस्र (१०००) चतुर्य्युगों में से ५६८ (पान्सौ अड़सठ) चतुर्युग भोगार्थ शेष रह जाते हैं, जिनमें से सातवें वैवस्वतमन्वन्तर के ७१ चतुर्य्युगों को इसलिए इन ५६८ चतुर्य्युगों में से पृथक् कर लेना है कि, सप्तम वैवस्वतमन्वन्तर का भोग आरम्भ हो चुका है । इस वैवस्व-तमन्वन्तरीय प्रक्रान्त भोग के माध्यम से ही सृष्टिकाल की इयत्ता समन्वय–सापेक्षा बन रही है ।

६५–षट्-मन्वन्तरानुगता सृष्टिभुक्तकाल की इयत्ता का समन्वय–

७१–चतुर्युगों से समन्वित एक मन्वन्तर के दिव्यवर्ष तो हैं–८५२००० (आठलाख बावनहजार वर्ष), एवं मानुषवर्ष होते हैं–३०६७२०००० (तीसकरोड़, सड़सठलाख, बीसहजार) । क्योंकि स्वाम्भुव मन्वन्तर से आरम्भ कर चाक्षुषमन्वन्तर–पर्य्यन्त के ६ छह मन्वन्तरों का प्रथम–प्रतिपत्–स्थानीय श्वेतवाराहकल्प में भोग हो चुका है । अतएव षट्–मन्वन्तरों का भुक्त सृष्टिकाल दिव्यवर्षानुपात से तो ५१,१२००० (इक्यावन–लाख, बारहहजार) दिव्यवर्षात्मक, है, एवं मानववर्षानुपात से १,४००,३,२०००० (एकअर्ब, चालीसकरोड़ तीनलाख, बीसहजार) मानववर्षात्मक है । यह है पूर्णमन्वन्तरानुगता षट्मन्वन्तरात्मिका भुक्तकाल ही इयत्ता ।

६६--सप्तम मन्वन्तर की ७१ चतुर्युगियों में से भुक्त काल की इयत्ता--

चाक्षुषमन्वन्तर के समाप्त होने के अनन्तर वर्त्तमान में ७ वें वैवस्वत मन्वन्तर का भोग चल रहा है, जिसके पूर्वानुपातानुगत ७१ चतुर्युगों में से अबतक पूरे २७ (सत्ताईस) चतुर्युगों का तो भोग समाप्त हो चुका है, जिस २७ चतुर्युग-समूह के मानववर्षों का अनुपात है–११६६ ४०००० (ग्यारहकरोड़, छाछठलाख, चालीस हजार) मानववर्ष। तदनन्तर आरम्भ होता है २८ वाँ चतुर्युग, जिसके सत्ययुग–त्रेतायुग–द्वापर–युग नामक तीन युग तो भुक्त हो चुके हैं, जिनके दिव्यवर्षों का अनुपात तो है–१०८०० (दसहजार आठसौ) दिव्यव-र्षात्मक, एवं मानुषवर्षानुपात है–३८,८८००० (अड़तीसलाख अठ्यासीहजार–मानववर्षात्मक। अब सर्वान्त में सम्मुख उपस्थित होता है २८ वीं चतुर्युगी का चतुर्थ युगात्मक वह कलियुग, जो आजकल वर्त्तमान है। पूर्णकलियुग के दिव्यवर्ष माने गए हैं १२०० (बारहसौ), एवं मानववर्ष माने गए हैं-४३२००० (चार-लाख बत्तीसहजार) । इन कलिवर्षों में से कलिवर्षों के मानुषवर्षानुपात से १०८००० (एक-लाख आठहजार के अनुपात से) चार विभाग मान लिए हैं, जो कलियुग के चार चरणों के स्वरूपसम्पादक बन रहे हैं *। संकल्पानुसार चारों चरणों में से वर्त्तमान में प्रथम चरण का भोग चल रहा है, जैसाकि-'**कलि-प्रथमचरणे**' इत्यादि संकल्पवाक्य के स्पष्ट है। प्रथम चरणात्मक १०८००० मानुषवर्षों में से अबतक ५००० (पाँचहजारवर्ष) भुक्त हो चुके हैं। वर्त्तमान में छठी कलिसाहस्त्री की शती का भोग प्रक्रान्त है ÷।

६७–संकलनधिया अद्यावधि–भुक्त सृष्टिकालगणना का समन्वय

अब २८ वें चतुर्युग के चौथे कलियुग के ५००१ वें वर्ष का भोगकाल विक्रमसम्वत् १९५७ (उन्नीसौ सत्तावन) से हो गया है। ४३२००० (चारलाख बत्तीसहजार) मानववर्षात्मक कलियुग के इन शेष ५००० को निकालने पर ४२७००० (चारलाख सत्ताईसहजार) मानववर्षात्मक वर्षों का भोग होगा। तब कलियुगका भोग समाप्त होगा, एवं तभी चतुर्युगात्मक २८ वाँ विवर्त्त अठाईसवाँ चतुर्युग) समाप्त माना जायगा। तदनन्तर इस प्रक्रान्त ७ वें वैवस्वत-मन्वन्तर की २८ से आगे की २९ से ७१ पर्य्यन्त की शेषभूत ४३ (तिंयालीस) चतुर्युगियों का क्रमिक भोग होगा, जिनकी इयत्ता मानववर्षानुपात से सम्भूय १८५७६०००० (अठारह करोड़, सत्तावनलाख, साठहजार) मानववर्षात्मिका मानी जायगी, और यहाँ आकर ७ सातवाँ मन्वन्तर समाप्त होगा।

उक्त सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर की ७१ चतुर्युगात्मिका समष्टि के, अर्थात् एक मन्वन्तर के कुल मानववर्ष होंगे ३०,६७,२०००० (तीसकरोड़–सड़सठ्लाख–बीसहजार)। इन में से २७ तो भुक्त चतुर्युग–समूहों के मानववर्ष निकाल दीजिए। २८ वें चतुर्युग के सत्य–त्रेता–द्वापर-के भुक्त मानववर्ष निकाल दीजिए। इसी २८ वें चतुर्युग के अन्त के कलियुग के ५००० पाँचहजार भुक्तवर्ष निकाल दीजिए। एवं इन सब सप्तम मन्वन्तरीय भुक्त मानववर्षों का पहिले संकलन कर लीजिए, जिस संकलन का विश्राम होगा–निम्नलि-खितरूप से—

*–सत्य–त्रेता–द्वापर–युगों में भी चार–चार चरण व्यवस्थित कर लेने चाहिएँ।

÷–विक्रमसं० १९५६ की समाप्ति पर कलिप्रथमचरण के पाँच सहस्र वर्ष समाप्त हो गए हैं, जिनके साथ ही गङ्गाप्रवाह का गौरव उपशान्त होगया है, जैसाकि पुराणवचन से प्रमाणित है। स्पष्ट हुआ कि, १९५६ सम्वत् के अनन्तर छठी सहस्राब्दी–किंवा शताब्दी के भी वर्त्तमान सं० २०१४ पर्य्यन्त के अनुपात से ५७ वर्ष भुक्त हो चुके हैं। ५०५७ वर्ष भुक्त होकर अब सं० २०१४ तक ५०५८ वाँ कलिवर्ष चल रहा है।

अद्यावधि--भुक्त--सृष्टिकालपरिलेखः—

भुक्त (१)—स्वायम्भुवमन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० तीसकरोड़, सड़सठलाख, बीसहजार
भुक्त (२)—स्वारोचिषमन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (३)--उत्तममन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (४)—तामसमन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (५)—रैवतमन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "
भुक्त (६)—चाक्षुषमन्वन्तर	(७१ चतुर्युगात्मक)—	३०,६७,२०००० " " "

भुक्त ६ छह–मन्वन्तरों के, किंवा ४२६— चारसौ छब्बीस चतुर्युगों के मानुषवर्ष	१,८४०३२०००० (एकअर्ब, चौरासीकरोड़ तीनलाख बीसहाजार)

सप्तम भुक्त वैवस्वत मन्वन्तर के २७ चतुर्युगों के मानुषवर्ष-११,६६,४०००० (ग्यारह करोड़ छाछठलाख चालीसहजार)

वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें सत्ययुग के भुक्त मानववर्ष—-१७२८००० (सत्रहलाख अाठाईसहजार)

" " २८ वें त्रेतायुग के भुक्त मानववर्ष—-१२९६००० (बारहलाख छिनवेंहजार)

" " २८ वें द्वापरयुग के भुक्त मानववर्ष—८६४००० (आठलाख चौसठहजार)

" " २८ वें कलियुग के भुक्त मानववर्ष—५००० (पाँचहजार)

स्वायम्भुवमन्वन्तरादि चाक्षुषमन्वन्तरान्त ६ मन्वन्तरों के चतुर्युगात्मक वर्षों का, एवं सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के आरम्भ के चतुर्युग से २८ वें तीन युगों, तथा कलियुग के भुक्त वर्षों का मानववर्षात्मक–संकलन	–१९६०८५३००० (एकअर्ब, छिनवेंकरोड़, आठलाख त्रेपनहजारवर्ष)

आजतक (वि० सं० १९५६ पर्य्यन्त) भुक्त (व्यतीत होजाने वाले) सौरसृष्टिकाल की

मानववर्षात्मिका–इयत्ता

६८–संकलनधिया अद्यप्रभृति–भोग्यसृष्टिकालगणनाका समन्वय—

(१) सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के २८ वें कलियुग के शेष मानुषवर्ष—	४२७००० (चारलाख, सत्ताईसहजार)
(२) सप्तमवैवस्वतमन्वन्तर के २९ से ७१ पर्य्यन्त के ४३— तिंयालीस चतुर्युगों के भोग्य–मानुषवर्ष	१८५७६०००० (अठारहकरोड़, सत्तावन–लाख, साठहजारवर्ष)
(३) अष्टम-(८) 'इन्द्रसावर्णि' नामक मन्वन्तर से आरम्भकर–चतुर्द्दश-(१४) 'सूर्य्यसावर्णि' नामक मन्वन्तर पर्य्यन्त उत्तरपक्षीय ७ सात मन्वन्तरों के भोग्य मानुषवर्ष	२१४७०४०००० (दो अर्ब, चौदहकरोड़ सत्तरलाख, चालीसहजार वर्ष)
(४) चतुर्द्दशमन्वन्तरान्त में सन्धिकालानुगत भोग्य मानुषवर्ष—	२५९२०००० (दोकरोड़, उनसठलाख, बीस हजार वर्ष)

२३५९१४७००० दो अर्ब, पैंतीसकरोड़, इक्यानवेंलाख सैंतालीसहजार

मानववर्षात्मक–भोग्य–सृष्टिकाल

६९–भूत-भविष्यल्लक्षणा अक्षरप्रकृतिस्वरूपा महत्प्रकृति की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

'श्वेतवराह' नामक शुक्लप्रतिपत्स्थानीय–एक ब्राह्म अहःकाल में (वल्शेश्वर के एक दिनमात्र में), एवं चतुर्द्दश मन्वन्तरात्मक-सूर्य्यसत्तानुगत-वर्त्तमान कालानुबन्धी एक सृष्टिकाल में (उपेश्वरप्रजापति के शतायुर्भोगकालात्मक एक कल्पसर्ग में) पूर्व–परिलेखद्वयी के अनुसार भुक्तसृष्टिकाल का परिमाण जहाँ १९६०८५३००० (एक–अर्ब, छिनवेंकरोड़, आठलाख, त्रेपनहजार मानववर्षात्मक) है, वहाँ भोग्यकाल २३५९-१४७००० (दोअर्ब, पंतीसकरोड़, इक्यानवेंलाख, सैंतालीसहजार) मानववर्षात्मक है। इन दोनों भुक्त भोग्यरूप भूत–भविष्यत्–लक्षण कालों की मध्यस्थता से ही प्रक्रान्त–वर्त्तमान–सृष्टिकाल का संग्रह होता जाता है भुक्तरूप भूतकाल के, एवं भोग्यरूप भविष्यत्काल के अनुग्रह से। इस तथ्य के आधार पर अब हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि-'वर्त्तमान' का वर्त्तमानत्व वस्तुतः भूत-भविष्यत्-पर ही

अवलम्बित है। दूसरे शब्दों में अव्यक्त-भावापन्न भूत (भुक्त), एवं अव्यक्तभावापन्न ही भविष्यत् (भोग्य), दोनों की व्यक्तभावापन्ना क्षणभावमात्रनिबन्धना-तात्कालिकी अवस्थाविशेष का नाम हीं 'वर्त्तमान' है, जो वस्तुगत्या भूत, और भविष्यत् के अतिरिक्त अपना कोई भी तो स्वतन्त्र स्वरूप नहीं रख रहा, जैसा कि आगे के कालस्वरूप-विश्लेषात्मक सन्दर्भ में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृतिमूलक इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर 'भूतं भविष्यत्-प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। भूत, और भविष्यत्-दोनों हीं अपने अव्यक्तभाव से अनन्त हैं। अतएव तदभिव्यक्तिरूप-गणनात्मक वर्त्तमान को भी अन्ततोगत्त्वा अनन्त ही माना जायगा, जिसकी दिग्देशानुगता सोपाधिकी सादि-सान्तता को निमित्त बनाकर ही हम मानुष-दैव-ब्राह्म-ईश्वरीय-भेदेन चतुर्धा विभक्त प्राजापत्य-कालपुरुष को सादि-सान्त मानने का वाग्विजृम्भण करते जा रहे हैं। और नितान्त धृष्टतापूर्ण इसी वाग्-विजृम्भण के माध्यम से पुनः यह कहने की धृष्टता करने लग ही तो पड़ते हैं कि, भुक्त, एवं भोग्य-सृष्टिकालों के समन्वय से (संकलन से) एक ब्राह्मदिन, किंवा एक सौरसृष्टि-काल का परिमाण ४३२०००००० (चारअर्ब, बत्तीस करोड़) मानववर्षात्मक प्रमाणित हो रहा है, जिसके एक अर्ब, छिनवेंकरोड़ आठलाख, त्रेपनहजार-मानव-वर्षात्मक वर्ष तो विक्रम सम्वत् १९५६ पर्य्यन्त भुक्त बन चुके हैं, एवं वि० सं० १९५७ से शेष दोअर्ब, पैंतीसकरोड़, इक्यानवेंलाख, सैंतालीसहजार भोग्यवर्ष भुक्ति के अनुगामी बन गए हैं।

स्मरण रहे-उक्त कालानुपात अर्द्ध तिथ्यात्मक ही है, केवल ब्राह्म अहः से ही अनुप्राणित है। इतना हीं कालपरिमाण ब्रह्मा की एक रात्रि का होगा। दोनों के समन्वय से एकब्राह्म अहोरात्र का काल व्यवस्थित होगा, और तब 'श्वेतवराह' शुक्ल-प्रतिपत् नाम की एक तिथि सुसम्पन्ना बन सकेगी। ऐसी ३० तिथियों से अनुगत कालपरिमाण ब्राह्ममासात्मक काल होगा। ऐसे द्वादश मासों से अनुगत कालपरिमाण वल्शेश्वर का शतायुर्गोगकालात्मक काल होगा, जिस इस आश्चर्य्यपूर्ण महदानन्त्य को स्मृत्त्वा स्मृत्त्वा हम तो रोमहर्ष का ही अनुभव कर रहे हैं।

७०–अर्वाचीन-भावुक–प्रज्ञाओं की आत्मस्वरूपविमूढ़ता, एवं भारतराष्ट्र के मौलिक स्वरूप का अभिभव—

मन्वन्तरविद्यामूलक उक्त पौराणिक–कालगणना-प्रसङ्ग को वर्त्तमानयुग की भूतावेशविष्टा भावुक प्रज्ञाएँ अवश्य ही **'पौराणिक–गप्प'** कह कर उपेक्षित मान सकतीं है, मानतीं हीं चलीं आरहीं है विगत अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्ता दासता के निग्रह से । अपने आप को परिपूर्ण सांस्कृतिक–शास्त्रमर्म्मज्ञ–तत्त्व–निष्ठ भी मानते मनवाते रहने वाले अर्वाचीन भारतीय–विद्वान् भी 'पुराण' नाम श्रवण से ही उत्तेजित हो पड़ते हैं । और **भारतवर्ष की संस्कृति–सभ्यता**–स्रोत के महान् प्रवाहरूप इस गरिमामहिमामय पुराण–शास्त्र की, **अत्र-उपवर्णित-सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-वंशानुचरित-मन्वन्तर-गाथा-कल्पशुद्धि-डामर-जामल-तन्त्र-ज्योतिष्चक्र–भुवनकोश–आख्यान–उपाख्यान**–आदि आदि की अपने कल्पित बुद्धिवाद के व्यामोहन में आकर न केवल उपेक्षा ही करने लग पड़ते हैं, अपितु संस्कृति–सभ्यता के महान् प्रतीकभूत **'आर्य्य–सर्वस्वात्मक'** इस महत्त्वपूर्ण पुराणशास्त्र की वैसी मलीमस–आलोचना में भी प्रवृत्त हो पड़ते हैं, जिसे कर्णा–कर्णिपरम्परया सुनने पर यही कह देना पड़ता है कि, अनन्तपुरुष की अनन्तता को विस्मृत कर देने वाला भारतराष्ट्र अनात्मवादमूलक-शून्यवाद से समन्वित होता हुआ जड़भूतवादात्मक प्रकृतिवाद में आपादमस्तक निम्मज्जित बनकर अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर बैठा है ।

७१–'सप्तहोता'-यज्ञमूलक सप्त–मन्वन्तरसर्ग, एवं तदाराधान में प्रवृत्ति—

'सप्तहोता' नाम की सुप्रसिद्धा प्रकृतिसिद्धा यज्ञप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली सप्तमन्वन्तर–रूपा पूर्वपक्षीया सर्गपद्धति के, एवं सप्तमन्वन्तरीया ही उत्तरपक्षीया सर्गपद्धति के तात्त्विक–वेदसिद्ध–स्वरूप के आधार पर प्रतिष्ठिता चतुर्द्दशमन्वन्तरमूला सर्गविद्या के आनन्त्य से अनुप्राणित गणनात्मक अनन्तकाल की उपासना में तो तभी सफलता प्राप्त की जा सकती है, जबकि हम अपने बुद्धि–मनः–शरीर–निबन्धन–प्राकृत स्वरूप को अनन्त 'आत्मपुरुष' के साथ समन्वित करलें । आत्मपुरुषानुगत उसी महिमामय आनन्त्य के काल–प्रतीक–माध्यम से दिग्दर्शन कराने के लिए ही तो हमें प्रसङ्गवश मन्वन्तरमूलक कालगणनाप्रसङ्ग का आश्रय लेना पड़ा है, जिस कालाश्रयता के माध्यम से ही अब हमें कालपुरुष की तत्त्वानुगता आराधना में प्रवृत्त होना है ।

७२–भाति, तथा सत्ता–सिद्धा कालद्वयी के माध्यम से अनन्तकालानुगता अनन्तकालोपासना में प्रवृत्ति—

'दिक्–देश–काल–स्वरूप–मीमांसा'–त्मक प्रस्तुत–प्रक्रान्त निबन्ध में आरम्भ से अबतक 'काल' को लक्ष्य बनाकर जो कुछ निवेदन किया गयाहै, उस का गणनात्मक उस **'भातिसिद्धकाल'** से ही सम्बन्ध माना जायगा, जिस के माध्मम से अवश्य ही यद्यपि कालानुगता अनन्तता का आभास तो प्रतीत–होने लगता है । तदपि एतावता ही सत्तोपलब्धिरूप से उस अनन्तता का मानवप्रज्ञा के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं हो पाता कालगणनात्मिका इस प्रातिभासिकी अनन्तता से । अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, गणनानन्त्यलक्षण, मन्वन्तरानुबन्धी भातिसिद्ध काल गणनातीत जिस **सत्तासिद्धकाल** का प्रतीकमात्र है, उसका आश्रय ग्रहण करते हुए ही हमें कालपुरुष के सत्तासिद्ध–सत्तोपलब्धिरूप–आचारलक्षण–आनन्त्य की उपासना में ही प्रवृत्त होना चाहिए, जिस के महिमामय विवर्त्त ही क्रमशः काल–दिक्–देश–रूप में परिणत हो रहे हैं ।

७३--तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या के स्वरूप की विलुप्ति, एवं कालस्वरूप की दुर्विज्ञेयता---

सत्तासिद्ध काल का जो सत्तात्मक स्वरूप प्रक्रान्त होने वाला है, तत्सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना कदापि अतिमान नहीं माना जायगा कि, लक्षीभूत–प्रतिपाद्य वह कालस्वरूप अनेक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञाशीलों के लिए भी अन्तर्हित ही बनता चला आरहा है। कारण इस अन्तर्हितता का स्पष्ट है। तत्त्वात्मिका जिस त्रयीविद्या के माध्यम से हम अत्र सत्तासिद्धकाल के आचारात्मक–स्वरूप को उपक्रान्त करने वाले हैं, उस त्रयीविद्या के तत्त्वात्मक–मौलिक स्वरूप की व्याख्या से भारतीय प्रज्ञाएँ अनेक शताब्दियों से पराःपरावत प्रमाणित होतीं हुईं वर्ण–स्वर–शब्द–पद–वाक्य–मन्त्रादि की समष्टिरूप शब्दग्रन्थात्मक वेदशास्त्र को ही ईश्वर–निःश्वासरूप–अपौरुषेय-वेद मानती, और मनवाती चली आरही है अभिनिवेशपूर्वक, जबकि तत्त्वात्मिका अपौरुषेया वेदत्रयी वैसा तत्त्व है, जिसे माध्यम बना कर ही उपेश्वरप्रजापति पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–नामक तीनों लोकात्मक प्रदेशरूप **देशों के**, पूर्वादि **दिग्भावों के**, एवं मन्वन्तरानुगत–गणनात्मक **कालविवर्त्तों** के अभि–व्यञ्जक बन पाते हैं *।

७४--त्रयीतत्त्वमूलक सत्तासिद्ध अनन्तकाल के चिरन्तन इतिवृत्त का उपक्रम—

त्रयीविद्यामूलक सत्तासिद्ध अनन्तकाल अपने अमूर्त्तभाव से क्योंकि अत्यन्त ही दुरधिगम्य–दुर्विज्ञेय बना हुआ है। अतएव कालस्वरूपजिज्ञासु–मानवश्रेष्ठों से तत्स्वरूपोपवर्णन के उपक्रम में हीं हम यह आवेदन कर देना चाहेंगे कि, वे अनुग्रह कर अपनी निरापदा–स्वस्था, एवं प्रकृतिस्था–शान्तप्रज्ञा के माध्यम से ही इस कालस्वरूपमीमांसा को लक्ष्य बनावें। क्योंकि कल्पनाप्रसूत थोड़ा भी बुद्धिवादात्मक–आत्मस्वरूपविमोहन हमारी लोक-प्रज्ञा को कालस्वरूप के सहजसिद्ध ऋजुभाव से पराङ्मुख प्रमाणित कर सकता है। अब-'**त्रयीमयाय-त्रिगुणात्मने नमः**' इस सुप्रसिद्ध आर्षसूत्र का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए ही सत्तासिद्ध–कालपुरुष के दिक्–देश–कालानुबन्धी--चिरन्तन--इतिवृत्त की उपासना में प्रवृत्त होने की धृष्टता उपक्रान्त हो रही है।

७५–मन्वन्तरमूलक सौर हृद्य--मनुके ज्योतिर्गौरायुर्विवर्त्त----

मन्वन्तरमूलक–कालगणन का मूलाधरबिन्दु सूर्य्यकेन्द्रस्थ अव्ययमनोमूर्त्ति मनुतत्त्व है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जो सौर मनुभाव नवबिन्दुमात्रा में वितत बृहतीछन्दोमय अक्षरप्राण के कारण '**स्वः**' (स्वरः) है, गौतत्त्व के कारण '**अहः**' है, एवं यज्ञप्रवर्त्तक त्रयस्त्रिंशत् ज्योतिर्म्मय दिव्यप्राणों के कारण '**देवाः**' है। '**स्वरहर्देवाः सूर्य्यः**' (शत०) इत्यादि शातपथी श्रुति सूर्य्य के स्वरात्मक **स्वर्भाव**, आलोकात्मक **अहोभाव**, एवं प्राणात्मक **देवभाव**, इन तीन दिव्यभावों की ओर ही सङ्केत कर रही है। इन तीन तत्त्वों के माध्यम से ही सौर यज्ञ त्रिसंस्थ बना हुआ है, जो तीनों संस्थाएँ क्रमशः **ज्योतिष्टोम–गोष्टोम--आयुष्टोम** नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोताविज्ञान की अपेक्षा से सौर मनोता–तत्त्व ज्योतिः–गौः–आयुः–इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। ज्योतिर्भाव 'देवाः' से, गौभाव 'अहः' से, एवं आयुर्भाव 'स्वः' से समतुलित है। देवभावात्मक

---

* तत्त्ववेद के इस तात्त्विक स्वरू--समन्वय के लिए तो १५०० पृष्ठात्मिका–खण्डत्रयात्मिका--'**उप--निषद्--विज्ञानभाष्यभूमिका**' ही देखनी चाहिए, जो प्रकाशित हो चुकी है। प्रकृत में तो इस तत्त्ववेद का सङ्केतमात्र ही समाविष्ट हुआ है कालस्वरूपानुबन्ध से।

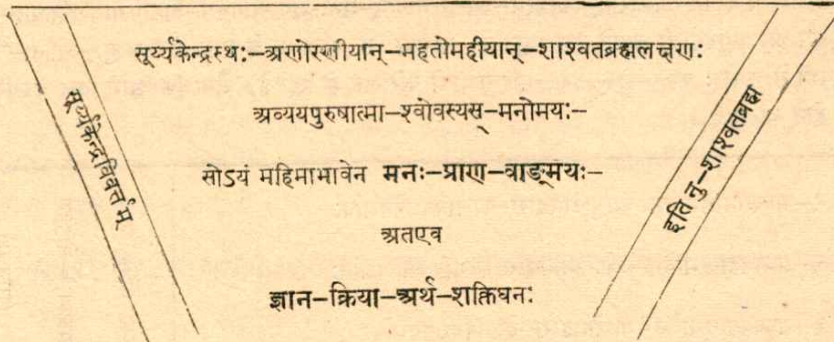
ज्योतिर्भाव से ज्योतिष्टोम का, अहर्भावात्मक गौभाव से गोष्टोम का, एवं स्वर्भावात्मक आयुर्भाव से आयुष्टोमयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

७६--त्रिसंस्थ सौरयज्ञ, एवं तन्मूलक उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मभाव—

क्या तात्पर्य्य संसिद्ध हुआ उक्त यज्ञत्रयी से ?, प्रश्न है। कालपुरुष के आनन्त्य की जिज्ञासा करने वाले मानव का सर्वस्व स्वरूप इस त्रिसंस्थ सौर यज्ञ पर ही अवलम्बित है। एवं इस यज्ञस्वरूप के माध्यम से ही मानव अपने प्रभव अनन्तकाल की उपासना में सफल हो सकता है। स्थूलदृष्ट्या मानव की स्वरूपसंस्था में (१) **हृदयस्थ–आत्मा,** (२) **मध्यस्थ–प्रज्ञान–(मन)–विज्ञान** (बुद्धि)–**प्राणयुक्त इन्द्रियवर्ग,** एवं (३) **उपरिस्थित पाञ्चभौतिक–शरीर,** ये तीन संस्थाएँ सर्वानुभूत नहीं, तो सर्वश्रुत तो अवश्य ही हैं–(आत्मनिष्ठ आस्तिक मानवों की सर्वता के अनुबन्ध से)। मानव का आत्मभाव आयुष्टोमयज्ञ से अनुप्राणित है, मनोबुद्धिसमन्वित इन्द्रियभाव ज्योतिष्टोम से समुद्भूत है, एवं पाञ्चभौतिक शरीरभाव गोष्टोम से प्रसूत है। यों मानव का सभी कुछ तो ज्योतिर्गौरायुष्टोमयज्ञमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण पर ही अवलम्बित है। आयुष्टोममय स्वर्भाव मानव के आत्मा को ज्ञानशक्ति प्रदान कर रहा है, ज्योतिष्टोममय 'देवभाव' मानव के इन्द्रियवर्ग को क्रियाशक्ति प्रदान कर रहा है, तो गोष्टोममय अहर्भाव मानव के शरीर को अर्थशक्ति प्रदान कर रहा है। ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमान् मानव की इन शक्तियों के **उक्थ** (प्रभव)–**ब्रह्म** (प्रतिष्ठा)–**साम** [समभावात्मक साम्य, एवं परायणभाव] लक्षण आत्मा ज्योतिर्गौरायुर्म्मय सूर्य्यनारायण ही बने हुए हैं, जैसा कि—**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है।

७७-सूर्य्यानुगत त्रित्वधर्म्म की उपपत्ति का त्रिवृत्करणात्मक समन्वय---

अब एक प्रासङ्गिक प्रश्न और शेष रह जाता है इस सम्बन्ध में। तत्समाधान का समन्वय और कर लीजिये। सूर्य्य में त्रित्वधर्म्म का समावेश कैसे हुआ ?, यही वह प्रश्न है, जिसका उत्तर **'आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयं–त्रयं सदेकमयमात्मा'** इस श्रौत सिद्धान्त पर अवलम्बित है। बतलाया गया है कि, सूर्य्यकेन्द्रस्थ 'मनु' तत्त्व 'अव्ययपुरुषात्मक' रूप मन से अभिन्न है। यही सूर्य्यकेन्द्रस्थ वह हृद्य आत्मा है, जिसका अनुग्रह तदभिन्न मनु (बौद्धिक निष्ठात्मक विश्वास), एवं मनावी (मनुपत्नी–श्रद्धा) के द्वारा प्राप्त हुआ करता है। मनोमय सृष्टिसाक्षी यही अव्ययात्मा अपने महिमाभाव से क्रमशः **'मनः–प्राण–वाक्'** रूपेण तीन विवर्त्तों में परिणत हो रहा है। अव्ययात्मानुगत इस त्रित्व के कारण हीं सौर मनु से अनुगत सौर तत्त्वों के त्रिः–त्रिः–विवर्त्त हो जाते हैं। ज्ञानशक्तिघन मन, क्रियाशक्तिघन प्राण, एवं अर्थशक्तिमयी वाक् से ही पूर्वोक्त विविध–त्रिकभाव उदित हो पड़ते हैं, जिन त्रिकों से रोदसीत्रिलोकीरूपा सम्वत्सरत्रिलोकी का आविर्भाव हुआ है, जो कि लोकत्रयात्मक सम्वत्सर ही अपने सत्तासिद्ध–अमूर्त्त–अनन्त–कालमाध्यम से उस निरपेक्ष–अनन्त–अव्यय–ब्रह्म का प्रतीक बना हुआ है। निम्नलिखित परिलेख से इन सम्पूर्ण त्रिकभावों का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।



सौर–मनुविवर्त्तम्	१	२	३	इति नु–आधिदैवतम्
	मनोविवर्त्तभावाः	प्राणविवर्त्तभावाः	वाग्विवर्त्तभावाः	
	१ आयुः	२ ज्योतिः	३ गौः	
	१ स्वः	देवाः	३ अहः	
	१ आयुष्टोमः	२ ज्योतिष्टोमः	३ गोष्टोमः	

सौरसर्गविवर्त्तम्	१–आयुष्टोमेन मानवस्य आत्मस्वरूपनिष्पत्तिः २–ज्योतिष्टोमेन–मानवस्य इन्द्रियस्वरूपनिष्पत्तिः ३–गोष्टोमेन–मानवस्य–शरीरस्वरूपनिष्पत्तिः	इति–नु–आध्यात्मम्

७८–सौर ज्योति-गौ-रायु-सम्बन्धी काल-दिक्-देश–भावों का समन्वय—

सौर मनु से समन्वित अव्ययपुरुष ही अपने ज्ञानशक्तिघन मनोभाव से आगे जाकर 'कालस्वरूप' में परिणित होता है, जिस कालविवर्त्त का आयुः–स्वः–भावानुबन्धी 'आयुष्टोमयज्ञ' से सम्बन्ध माना गया है। एवमेव अपने क्रियाशक्तिघन प्राणभाव से वही अव्ययपुरुष 'दिक्स्वरूप' में परिणित होता है, जिस दिग्विवर्त्त का ज्योतिः–देवाः–भावानुबन्धी 'ज्योतिष्टोमयज्ञ' से सम्बन्ध है। एवमेव च अर्थशक्तिघन वाग्भाव से वही अव्ययब्रह्म 'देशस्वरूप' में परिणत होता है, जिस देशविवर्त्त का गौः–अहः–भावानुबन्धी 'गोष्टोम–

यज्ञ' से सम्बन्ध है । इसप्रकार सूर्य्यकेन्द्रस्थ–अणोरणीयान्–मनः-प्राण-वाग्रूप–ज्ञानक्रियार्थशक्तिघन–'शाश्वत-ब्रह्म' रूप अव्ययपुरुष ही अपने हृद्य मनु के माध्यम से मन्वन्तर के द्वारा सौर आयुः–ज्योतिः–गौ–नामक स्तोमयज्ञों से क्रमशः काल–दिक्–देश–महिमाओं में परिणित हो रहा है, जैसा कि आगे चल कर विस्तार से स्पष्ट होने वाला है ।

१–अव्ययमनोभावेन–आयुष्टोमद्वारा–कालविवर्त्ताविर्भावः २–अव्ययप्राणभावेन–ज्योतिष्टोमद्वारा दिग्विवर्त्ताविर्भावः ३–अव्ययवाग्भावेन–गोष्टोमद्वारा–देशविवर्त्ताविर्भावः	योऽसावादित्ये पुरुषः (अव्ययः)—सोऽहम् (मानवः)

१–कालमूर्त्तिः सूर्य्यः-मनोमयेन मनुभावेन (कालः) २–दिङ्मूर्त्तिः सूर्य्यः–प्राणमयेन मनुभावेन (दिक्) ३–देशमूर्त्तिः-सूर्य्यः–वाङ्मयेन मनुभावेन (देशः)	त्वं सूर्य्य इवाजनि

७६–'ब्रह्म' शब्द का पारिभाषिक समन्वय, तन्मूलक विश्वपदार्थों के जन्म-स्थिति-भङ्ग-भाव, एवं क्षरब्रह्म की उपादानकारणता—

दिग्देशकालस्वरूप के इस दुरधिगम्य–दुर्विज्ञेय–प्रसङ्ग–समन्वय–की अपेक्षा से आज हम अपने प्रज्ञाशील–पाठकों का ध्यान उस 'ब्रह्म' शब्द की ओर ही आकर्षित करना चाहते हैं, जो सृष्टिविज्ञान–परिभाषाओं के अन्तर्मुख हो जाने से अत्यन्त ही भ्रामक बना हुआ है । **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'** इत्यादि औपनिषद वचनों से अनुप्राणित जो कोई तत्त्वविशेष है, उसी तत्त्वबिशेष का नाम 'ब्रह्म' है (तद्ब्रह्म) । इसी से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न भूत इसी को आधार बना कर उपजीवित हैं, एवं आयुःकालसमाप्त्यनन्तर वे सम्पूर्ण भूत अन्ततोगत्वा इसी ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं । इसप्रकार 'ब्रह्म' नामक वही तत्त्वविशेष सम्पूर्ण भूत-भौतिक-प्रपञ्च का उत्पत्ति–स्थान–प्रतिष्ठास्थान–एवं लयस्थान बना हुआ है । और ऐसे **जन्म-स्थिति-भङ्ग** (**'जन्माद्यस्य यतः'**-ब्रह्मसूत्र) के प्रवर्त्तक इस 'ब्रह्म' तत्त्व के 'प्राकृत' स्वरूप का सृष्टिविज्ञानात्मक समन्वय न कर सकने के कारण हीं भ्रान्तिवश अभिनव-व्याख्याताओंनें निर्भ्रान्त भी उक्त श्रुतिमूलक 'ब्रह्म' शब्द को भ्रान्त प्रमाणित कर दिया है । क्षरविशिष्टा अक्षर–प्रकृति का नाम ही यहाँ तत्त्वविशेषात्मक वह ब्रह्म है, जिसे श्रुति ने 'जन्म–स्थिति भङ्ग' का कारण बतलाया है । प्रकृति का अक्षररूप तो अपने सहज अव्यक्त–अमूर्त्त-धर्म्म से जन्मादि भावों का पारम्परिक निमित्त (निमित्तकारण) ही बनता है । साक्षात् कारण (उपादानकारण) तो अक्षरानुगता व्यक्ता क्षर-प्रकृति ही बनती है । अतएव तत्त्वतः अक्षराविनाभूता व्यक्ता क्षरप्रकृति को ही 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बनता है, जिसका अर्थ होता है-'वैसा उपादानकारण, जिससे भौतिक विश्व मूर्त्तस्वरूप में परिणित हो जाया करता है' ।

यही 'जातानि'-'जीवन्ति',-'अभिसंविशन्ति' का स्वारस्यार्थ है। और 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'-'क्षरः सर्वाणि-भूतानि' इत्यादि स्मार्त्त वचन इसी क्षरप्रकृति का समर्थन कर रहे हैं। अतएव सृष्टि-सर्ग-प्रसङ्गानुगत-सृष्टि-भावसापेक्ष-जन्मस्थितिभङ्गप्रवर्त्तक श्रौत 'ब्रह्म' शब्द सर्वत्र '**अक्षरानुगता क्षरप्रकृति**' के ही वाचक माने जायँगे, माने गए हैं। यही प्रकृति 'ब्रह्म' है, एवं यह ब्रह्म ही विश्वरूप में परिणित हो रहा है। और इसी **प्रकृतिभूत-ब्रह्मतत्त्व का नाम है—'काल', जो अपने सोपाधिक काल-दिग्-देश-भावों से भौतिक विश्व का सर्वस्व बना हुआ है।**

८०-अक्षरविशिष्ट क्षरात्मक कालरूप ब्रह्म के आधारभूत निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप-परिचय—

सोपाधिक दिग्-देश-काल-भावों से समन्वित अक्षरविशिष्ट क्षरात्मक कालरूप 'ब्रह्म' तत्त्व जिस किसी अचिन्त्य तत्त्व का महिमामय-एकांशात्मक-विवर्त्तभाव है, कालाधारभूत, किन्तु कालातीत, एवं महाकाल के भी कालस्वरूप उसी तत्त्व को विश्वातीत '**पुरुष**' कहा गया है, जिसे व्यवहारभाषा में हम '**अव्यय**' कहा करते हैं। क्षराक्षरात्मक कालविवर्त्त को पृथक् करके जब उस अव्ययपुरुष को हम अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो उस अवस्था में वही **सर्वधर्म्मनिरपेक्ष, सर्वातीत, निरञ्जन, निर्विकार, द्वैत-अद्वैतातीत, सदसदतीत, मायातीत,** प्रमाणित होता हुआ अपने इस '**विश्वातीत**' स्वरूप से सर्वथा अचिन्त्यकोटि में ही आजाता है, जिसके सम्बन्ध में चिन्तनशीला मानवप्रज्ञा, किंवा मानवप्रकृति किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा में प्रवृत्त नहीं हो सकती। तत्सम्बन्ध में मानवीय मन कोई जिज्ञासा नहीं कर सकता। क्योंकि उस निरपेक्ष विश्वातीत परात्पराभिन्न अव्ययपुरुष में तत्त्वमीमांसा का, जिज्ञासाभावों के आधारभूत **ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय**-जैसे प्राकृतभावों का यत्किञ्चित् भी तो समावेश नहीं है। प्राकृतब्रह्मस्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र * कुण्ठित है उसके स्वरूप-वर्णन में। त्रैलोक्यसञ्ज्ञक पारमेष्ठ्य विष्णु असमर्थ हैं उसकी इयत्ता करने में। तत्त्ववेदसञ्ज्ञक स्वायम्भुव-अव्यक्त ब्रह्मा भी अपने योगमायानुबन्ध से इधर ही रह जाते हैं उससे। मानव की वाणी भी मनको साथ लेकर प्रकृतिचिन्तन पर ही समाप्त हो जाती है। वही वह निरपेक्ष 'ब्रह्म' है, जिससे पूर्वोक्त सापेक्ष प्रकृतिब्रह्म का आविर्भाव हुआ है महिमारूप से, जो कि महिमाभाव वेदान्तभाषा में 'विवर्त्त' नाम से प्रसिद्ध है।

८१-ब्रह्म के चार पाद, एवं इसके 'एकपादरूप' 'एकांश' से जगद्विवर्त्त का आविर्भाव—

क्या वह अचिन्त्य-निरपेक्ष-विश्वातीत-ब्रह्मरूप अव्ययपुरुष सर्वात्मना विवर्त्तभाव में परिणित हो गया है?। नहीं। अपितु-'**एकांशेन जगत् सर्वम्**' इत्यादि सिद्धान्तानुसार उस अचिन्त्य विश्वातीत तत्त्व का एक अंश ही जगद्विवर्त्तरूप में परिणित हुआ है। क्या अर्थ है इस 'एकांश' का ?, प्रश्न की मीमांसा अत्र

---

* सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
अन्यदेव तद् विदितात्, अथो अविदितादधि।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ इत्यादि।

सम्भव नहीं है । इसके लिए तो वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'चतुष्पाद्ब्रह्मविद्या' का ही स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय अपेक्षित है, जिसका मूलाधारसूत्र माना गया है—'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोस्येहाभवत्पुनः' इत्यादि यजुर्मन्त्र । मनस्तुष्टिमात्र के लिए, किंवा सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए इस सम्बन्ध में अत्र एतावन्मात्र ही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्रकृति की भावुकतापूर्ण भाषा में 'परात्पर–अव्यय–अक्षर–क्षर' रूप से ब्रह्म के चार पाद–चरण–मान लिए जा सकते हैं । इन चारों में से परात्पर सर्वथा निरपेक्षब्रह्म है, अव्यय साक्षीब्रह्म है, अक्षर निमित्तब्रह्म है, एवं क्षर आरम्भकब्रह्म, किंवा उपादानब्रह्म है । उपादान-निमित्त–साक्षी–निरपेक्ष–इन चारों भावों में से विश्वस्वरूप की इयत्ता का मापदण्ड उपादानकारण ही तो माना जायगा, जो कि उक्त चतुष्पाद्ब्रह्म का चतुर्थांश प्रतीत हो रहा है । निरपेक्षप परात्परपाद, साक्षी अव्ययपाद, निमित्त-अक्षरपाद, इन तीन पादों–चरणों से तो वह अचिन्त्य पुरुषब्रह्म विश्वधर्मों से, विश्वविवर्त्तभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बना रहता है । इसका एकमात्र चतुर्थांशरूप–उपादानकारणात्मक क्षरपाद ही जगद्विवर्त्तरूप में परिणत हुआ है । और इसी भावुकतापूर्ण मान्यतामात्र के माध्यम से 'एकांशेन जगत् सर्वम्' के समन्वय की धृष्टता की जा सकती है ।

८२–चतुष्पाद्ब्रह्म के 'एकांश' शब्द का पारिभाषिक समन्वय—

वस्तुतस्तु एक अनन्त समुद्र का अञ्जलिमात्रमित पानी जैसे समुद्र का 'एकांश' माना गया है, वैसा सा ही भाव यहाँ के 'एकांश' शब्द का प्रतीत हो रहा है । 'यत्किञ्चित्'–'स्वल्पमात्र'–'थोड़ा सा' आदि वाक्यों से परिगृहीत भाव ही 'एकांश' का समर्थक बना हुआ है । 'वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्त्वम्' इत्यादि भागवतीय * वचन भी इसी भाव का समर्थन कर रहा है । अंशः, अर्थात् अणुभाव । अणुभाव, अर्थात् पञ्चतन्मात्रारूप क्षर के गुणभावों की अग्रिम अवस्थारूप रेणुभूतात्मक अणुभूत । गुण–रेणु–अणु–परमाणु–भेदभावान्वित–क्षरब्रह्म की गुणभूतानुगता इत्थंभूता अणुता के आधार पर भी 'एकांश' का समन्वय किया जासकता है, जो कि समन्वय उस त्रिपाद्विभूति के समतुलन में तो स्वल्पतमांश ही प्रमाणित होगा । वस्तुतस्तु विवर्त्तभावात्मक महिमाभाव में अंश–अंशी,–अवयव–अवयवी–जैसी प्राकृत–कल्पनाओं का समावेश ही असम्भव है । ऐसी स्थिति में 'एकांशेन' का साधारण सा यही समन्वयार्थ सम्भव प्रतीत होरहा है कि–अनन्तब्रह्म को यदि अपने पूर्णात्मक भाव से सहस्रभावात्मक ÷ मान लिया जासकता है, सहजभाषानुसार उसे यदि सहस्रिरश्मिरूप मान लिया जासकता है, तो उसकी हजारवीं रश्मि ही उसका एकांश माना जायगा । और वह एकांश ही 'सृष्टि' का सम्पूर्ण इतिवृत्त व्यक्त कर देने के लिए पर्य्याप्त बन जायगा । 'मण' के समतुलन में 'कण' भी एकांश ही कहा जायगा । 'पर्वत' के समतुलन में 'राई' भी एकांश ही मानी जायगी । एक गजराज, और एक पिपीलिका (चिऊँटी), दोनों का क्रमशः मण, और कण से सम्बन्ध

---

* क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्त्वम् ॥
—श्रीमद्भागवते

÷ सहस्रशीर्षा पुरुषः–सहस्राक्षः–सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा–अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् । (यजुसंहिता–३१।१।)

माना गया है, जैसाकि–'**हाथी को मण, और कीड़ी को कण**' इस राजस्थानीया किंवदन्ती से स्पष्ट है। कण मण का चतुर्थ भाग कदापि नहीं है। फिर भी है तो कण मण का एकांश ही। इसप्रकार की यत्किञ्चित्–भावानुगता एकांशता के लिए ही हमारे प्रान्त में–'**किणका मातर**' (कणमात्र) वाक्य प्रसिद्ध है।

८३–एकांशतानुगत व्यावहारिक लोकपक्ष, एवं 'राई के ओट पर्वत' सूक्तिका समन्वय—

क्या 'किणकामातर' रूप कण केवल कण होने से ही महत्त्वशून्य बन गया ? । कदापि नहीं । जो स्वरूप, जो महिमा मण की है, वही कण की है। तभी तो आर्षपरम्पराओं का उपासक भारतीय आस्तिक मानव अन्नराशि से इतस्ततः विकीर्ण (बिखर जाने वाले) अन्नकणों को भी बीन–बीन कर '**अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व**' मूला उपासना की भावना से उन्हें पूज्यबुद्धि से मस्तक के लगाकर अन्नराशि से समन्वित कर दिया करता है। इस ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि में तो सभी ब्रह्म की ही विभूति है। इस विभूतिपथ के अनुगमन करने वाले के लिए 'निरर्थक'–'उपेक्षणीय'–'त्याज्य'–'हेय'–जैसा कोई भी तो विश्वपदार्थ नहीं है। यही तो इसका आत्मसाम्यमूलक वह समदर्शन है, जिसके अनुग्रह से ही इसने विश्वशान्ति का संरक्षण किया है सदा से ही। अभिनव भारतराष्ट्र की '**अल्पबचत योजना**' सफल बन ही तब सकती है, जबकि उसे ब्रह्ममूलिका महिमामयी-एकांशता का स्मरण करा दिया जाय। बिना ब्रह्मसाम्य के, आत्मनिष्ठा के केवल भूतदृष्टि के माध्यम से, धर्म्मनिरपेक्षा भूतभावना के माध्यममात्र से तो कदापि भारतवर्ष में ऐसी शून्य योजनाएँ सफल नहीं हो सकतीं। '**राई के ओट पर्वत**' कहणावत (किंवदन्ती) का भी यही अर्थ है। कहाँ पर्वत, और कहाँ राई ?। फिर भी कहा यह जाता है कि, राई की ओट में पर्वत छिपा हुआ है। सत्यञ्चैतत्। कणमात्रभावापन्ना राई सर्वात्मना पर्वतमहिमा को अभिव्यक्त कर रही है, जैसाकि आगे आने वाले कालोदाहरणों से स्पष्ट होने वाला है। '**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**'-'**इह चेदवेदीत्–अथ सत्यमस्ति**' इत्यादि वचन कणभावानुगता इसी विश्वमहिमा का यशोगान कर रहे हैं। जो स्वरूप अनन्तकाल का है, वही स्वरूप एक क्षण–निमेष–का है। जो महत्त्व कोटिकोटिमिता द्रव्यराशि का है, वही महत्त्व एक पण (पैसे) का है। जो मानव काल के क्षण का महत्त्व नहीं समझता, उसके कोई उद्देश्य सफल नहीं होसकते। एवमेव जो एक पण का महत्त्व नहीं समझता, कदापि वह सम्पत्तिशाली नहीं बन सकता। क्योंकि जो महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है। यह अणोरणीयान् भाव सर्वात्मना अपने महतोमहीयान् स्वरूप को ही अभिव्यक्त कर रहा है। क्योंकि अणु महान् का ही महिमारूप है, जिसे 'विवर्त्त' कहा जाता है। "**सम्पूर्ण विश्व उसका एकांश है,**" इस वाक्य का तात्पर्य्य एक ओर 'अणोरणीयान्' भाव है, तो दूसरी ओर यही उसका महिमारूप भी बना हुआ है। तभी तो–'**एतावानस्य महिमा–अतो ज्यायांश्च पूरुषः**' (यजुःसंहिता) यह कहा गया है। और यही प्रसङ्गोपात्त विश्वविवर्त्तात्मक 'एकांश' शब्द का अर्थसमन्वयात्मक प्रासङ्गिक दृष्टिकोण है।

८४–ब्रह्म की 'एकांशता' के समन्वय के लिए 'अध्यासवाद' की भ्रान्त कल्पना, एवं तत्सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों का महान् व्यामोहन—

परात्पराव्ययाक्षरमूर्त्ति विश्वातीत पुरुषब्रह्म के एकांशरूप क्षरब्रह्मात्मक 'ब्रह्म' से उपबृंहित विवर्त्त का, महिमाभाव का ही नाम जब 'विश्व' है, तो इस एकांशरूप को, दूसरे शब्दों में उस महतोमहीयान् के

समतुलन में अणोरणीयान् (एकांश) बने रहने वाले इस विश्व को–'**एतावानस्य महिमा**' रूपेण श्रुति ने कैसे महिमारूप बतला दिया ?, यह मूलप्रश्न है। **विश्वातीत निरपेक्ष अचिन्त्य ब्रह्म अपने एकांश से विवर्त्तभाव के द्वारा विश्वरूप में परिणत हो रहा है**, यह अबतक का निवेदन–निष्कर्ष है। **अचिन्त्य ब्रह्म की विश्वविवर्त्तात्मिका–विश्वरूपा इस 'एकांशता' का समन्वय कैसे हो ?, कैसे यह प्रमाणित किया जाय कि, वह अचिन्त्य–अनन्त–अमूर्त्त–अव्यक्त–निरपेक्ष–ब्रह्म चिन्त्य–मूर्त्त–व्यक्त–सापेक्ष विश्वरूप में परिणत होगया ?**, इस दुरधिगम्य अचिन्त्य–अव्यक्त प्रश्न का समन्वय मानव अपनी व्यक्त-भाषा में कैसे, किस माध्यम से करे ?, यही पूर्व के मूलप्रश्न की वे व्याख्याएँ हैं, जिनके सम्बन्ध में जगन्मिथ्यात्त्व-समर्थक–मायावादी–अभिनव वेदान्तभक्तोंनें 'अध्यास' नाम के शब्द का डिण्डिमघोष कर रक्खा है, जिस इस अध्यास–भावना के द्वारा ये दार्शनिक-धुरीण वेदान्ती ब्रह्म की एकांशता के समन्वय में अभिनिवेशपूर्वक प्रवृत्त होते हुए विश्वनिबन्धन काल्पनिक दृष्टान्तों के माध्यम से उस अचिन्त्य ब्रह्म को इस चिन्त्य विश्व में व्यष्टि–रूप से अध्यस्त ही मान रहे हैं। समष्ट्यात्मक उदाहरण उपलब्ध ही नहीं हो सका इन अध्यासवादी भावुक–दार्शनिकों को। अतएव **मृगमरीचिका, शशशृङ्ग, शुक्तिरजतभाव, स्थाणुपुरुषभाव, वन्ध्या-पुत्रभाव**, आदि आदि काल्पनिक–मूर्त्त–दृष्टान्तात्मक व्यष्ट्यात्मक उदाहरण ही इनके कल्पित–अध्यासवाद के महान् ? उदाहरण बने हुए हैं। अहो ! महतीयं विडम्बना विवर्त्तशब्दस्य। 'विवर्त्त' शब्द की इसी अध्यासार्थता से उस सर्वविनाशक काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद का आविर्भाव हो पड़ा है इन दार्शनिकों के द्वारा, जिस जगन्मिथ्यात्त्वमूला महती भ्रान्ति के भयानकतम दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की राष्ट्रनिष्ठा तथाकथित दार्शनिकयुग से उत्तरोत्तर दासता की ही अनुगामिनी बनती चली आरही है विगत तीन सहस्र–वर्षों से।

८५–अध्यासवादमूलक मूर्त्त–भौतिक दृष्टान्तों की अन्ततोगत्त्वा 'सिद्धान्त' रूप में परिणति, अतएव च प्रतीकात्मक इन मूर्त्त दृष्टान्तों की आत्यन्तिक निरर्थकता—

दृष्टान्तों में सृष्टिविज्ञानानुबन्धी सुसूक्ष्म नियमानुसार कितना कैसा तथ्य है ?, प्रश्न को अभी छोड़ देते हैं *। केवल विश्वधर्म्म की दृष्टि से ही जब हम इन दृष्टान्तों को लक्ष्य बनाते हैं, तो सहसा हमारे मानस में करुणभाव ही अभिव्यक्त हो पड़ते हैं इन दार्शनिकों के प्रति। व्यष्ट्यात्मक ये सभी दृष्टान्त मूर्त्त–व्यक्त–भौतिक–विश्व की भूतमर्य्यादाओं से समन्वित हैं। सभी दृष्टान्त मर्त्यभावापन्न हैं, क्षरभावापन्न हैं, मूर्त्तभावापन्न हैं, जिनके माध्यम से हमारे ये दार्शनिक बन्धु अमूर्त्त–अचिन्त्य–अनन्त–ब्रह्म की एकांशता के समन्वय में व्यग्र बने हुए हैं। इस व्यग्रता का वही परिणाम होता है, जो हुआ करता है। **सजातीय–अनुरूप–समान-धर्म्मा दृष्टान्त अपनी अनुरूपता से शनैः शनैः लक्ष्यीभूत सिद्धान्त के प्रति आचारधर्म्मात्मिका बुद्धि के माध्यम से संवित्-मूला निष्ठा के जनक बनते हुए जहाँ अन्ततोगत्त्वा तटस्थ बन जाते हैं, वहाँ विजातीय–प्रतिरूप–विषमधर्म्मा दृष्टान्त अनुकरणधर्म्मा मन के माध्यम से अपनी प्रतिरूपता से शनैः शनैः बहिर्भावानुगता भावुकता को लक्ष्य बनाते हुए अन्ततोगत्त्वा स्वयं ही सिद्धान्तरूप में परिणत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में–विजातीय दृष्टान्त आरम्भ में दृष्टान्त प्रतीत होते हुए भी**

---

*–अन्य निबन्धों में इन दृष्टान्तों के शैथिल्य का विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। तदर्थ ईशविज्ञानभाष्यादि ही द्रष्टव्य हैं।

अन्ततोगत्वा सिद्धान्त ही बन जाया करते हैं। कैसे ?, तो उदाहरण से समन्वय कर लीजिए। उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीकात्मक माध्यम उपास्य की प्राणात्मिका शक्तियों की ओर सङ्केतग्रह करा देने की सीमापर्य्यन्त तो प्रतीकधर्म्म से जहाँ मान्य हैं, वहाँ यदि इन्हीं को उपास्य के अङ्ग मान लिया जाता है, तो अव्यक्त उपास्य इन व्यक्त प्रतीक–माध्यमों पर ही विश्रान्त हो जाता है। एवं परिणामस्वरूप उपासनात्मक लक्ष्य ही उच्छिन्न हो जाता है। प्रतीक माध्यममात्र हैं, उपास्य नहीं। प्रतीक ही जहाँ धर्म्म बन बैठते हैं, वहाँ धर्म्म का मौलिक स्वरूप ही अन्तर्हित हो जाता है। सत्यभाषण-दया-अहिंसा–अस्तेय–आदि आदि धर्म्म के प्रतीकमात्र हैं, अनुरूप प्रतीकमात्र हैं। ये ही जब धर्म्म बन जाते हैं, तो इनके साथ 'आग्रह' मूला आसक्ति हो पड़ती है। यह आग्रहासक्ति ही सूक्ष्म-शाश्वत–धर्म्म से मानवीय प्रज्ञा को पृथक् कर देती है। जबकि अनुरूप–समानधर्म्मा-सजातीय भी प्रतीक विवेक के अभाव से यों सिद्धान्त बन बैठते हैं, तो जो प्रतीक, किंवा उदाहरण, किंवा दृष्टान्त सर्वथा विजातीय हैं, उनकी मध्यस्थता तो सर्वथा प्रत्येक दशा में सिद्धान्त ही बन बैठती है, जिसके प्रत्यक्षोदाहरण पूर्वोक्त मृगमरीचिका–स्थाणुपुरुषादि विजातीय–प्राकृतिक (वैकारिक) उदाहरण ही बने हुए हैं।

८६--मूर्त्त--दृष्टान्तानुगत--'अध्यास' सम्बन्ध का दिग्दर्शन—

अनन्त ब्रह्म में विश्व उसी प्रकार एकांश से अध्यस्त है, जैसेकि मरीचिका में मृग के लिए जल प्रतिष्ठित है, किंवा एक निर्जीव काष्ठस्थूण में द्रष्टा के लिए पुरुष प्रतिष्ठित है, किंवा स्वप्नजगत् में स्वप्नद्रष्टा के लिए विविध दृश्य प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य यह हुआ कि, जल के अभाव में भी मृग को मरीचिका में जल का प्रतीत होना हीं मरीचिका में जल का अध्यास माना गया है। चेतनपुरुष के अभाव में भी एक काष्ठस्थूण में द्रष्टा को पुरुष की प्रतीति हो जाना हीं स्थाणु में पुरुष का अध्यास है। किसी भी वास्तविक दृश्य के विद्यमान न रहने पर भी स्वप्नदशा में स्वप्नद्रष्टा को विविध दृश्यों का प्रतीत होजाना हीं स्वप्न में कल्पित-दृश्यों का अध्यास है। मरीचिका–स्थाणु–स्वप्न–में जल–पुरुष-दृश्यजगत् का वस्तुतः अभाव है। किन्तु मृगादि को मरीचिकादि में जलादि की प्रतीति होने लग पड़ती है। जिस सम्बन्ध से इस प्रतीति का उदय हो पड़ता है, उस सम्बन्ध का नाम ही दर्शनभाषा में–'अध्यास सम्बन्ध' है। एवं एतादृश उदाहरणों के माध्यम से ही दार्शनिकोंनें ब्रह्म के एकांशरूप–विश्व के साथ ब्रह्म का अध्यास सम्बन्ध स्थापित किया है।

८७–अध्यासमूलक प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों के महद्दुष्परिणामस्वरूप ही 'जगन्मिथ्यात्व' रूपा भ्रान्त-कल्पना का उदय, एवं इसी भ्रान्ति से ब्रह्म की अनन्त विभूतियों की अन्तर्म्मुखता—

दर्शनाभिमत उक्त–'अध्यास' भाव के इतिवृत्त को आधार बना कर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्तब्रह्म के एकांश से सम्बन्ध रखने वाले 'विवर्त्त' भाव के समन्वय के लिए दार्शनिकों नें जिन भौतिक–मूर्त्त–व्यक्त-मर्त्य–वैकारिक दृष्टान्तों को माध्यम बनाया, वे दृष्टान्त ही अपनी प्रतीकरूपा विभिन्नता से अन्ततोगत्वा सिद्धान्त बन बैठे। फलस्वरूप ब्रह्म की अनन्तविभूतिरूप, ब्रह्मविवर्त्तरूप विश्व का पर्य्यवसान 'मिथ्या' भाव पर ही होगया, जिस इस जगन्मिथ्यात्वरूपा भ्रान्ति ने हीं अनन्त की यच्चयावत् अनन्तविभूतियों को तो अन्तर्म्मुख बना ही दिया। इसके साथ ही ब्रह्म की अनन्तता भी एक कल्पना–

प्रसूनमात्र बन कर ही विश्रान्त हो गई। कारण स्पष्ट है। दार्शनिक–भावुकता की ओर से मृगमरीचिकादि जितनें भी दृष्टान्त उपस्थित हुए, वे सभी अपने मूर्त्त–वैकारिक–भाव से सापेक्ष ही थे, जबकि ब्रह्म स्वयं सर्वथा निरपेक्ष है अपने अमूर्त्तभाव से। ऐसे अमूर्त्त–निरपेक्ष–ब्रह्म के सम्बन्ध में उपस्थित मूर्त्त–सापेक्ष दृष्टान्तों का तो प्रवेश भी निषिद्ध ही माना गया है।

८८–अनन्तब्रह्म के साथ अमूर्त्त काल–दृष्टान्त की अनुरूपता, एवं तत्स्वरूपान्वेषणोप-क्रम—

अनन्तब्रह्म के एकांश से महिमारूप–विवर्त्तभावमाध्यम से व्यक्त होने वाले विश्व को अनन्तब्रह्म से समतुलित करने के लिए तो किसी ब्रह्मसजातीय–अनन्त–अव्यक्त–निरपेक्ष–वैसे दृष्टान्त को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा, जो एक ओर अपने सोपाधिक–व्यक्त–मूर्त्त, अतएव सापेक्ष दिक्–देश–काल–भावों से जहाँ एकांशेन समुद्भूत विश्व की स्वरूपव्याख्या का विज्ञानविधया समन्वय कर देगा, वहाँ वही दूसरी ओर अपने निरुपाधिक–अव्यक्त–अमूर्त्त, अतएव निरपेक्ष, अतएव ब्रह्मसमतुलित प्रातिस्विक अनन्त अमूर्त्त 'काल' रूप से विश्वाधारभूत ब्रह्म की अनन्तता का स्थापन करता हुआ कतकरजोवत् स्वयमपि अपने से अभिन्न अनन्त आत्मब्रह्म में हीं विलीन होजायगा। अतएव च ब्रह्म की अनन्तता के तटस्थ–बोध के लिए, एवं अनन्तब्रह्म के एकांश से महिमात्मक विवर्त्तरूपेण आविर्भूत विश्व के आधारभूत एकांश की अनन्तता के समन्वय के लिए, इस आनन्त्य–समन्वय के माध्यम से सादिसान्तभावात्मकरूपेण प्रतीयमान विश्व की भी परमार्थदृष्टिमूला अनन्तता के समन्वय के लिए अमूर्त्तभावापन्न काल को ही एकमात्र निर्भ्रान्त दृष्टान्त माना जायगा, जिस इस दृष्टान्तात्मक काल के दिक्–देशानुबन्धी मूर्त्तकाल पर ही भौतिक–मूर्त–दृष्टान्तवादी दार्शनिकों की प्रज्ञा परि-समाप्त होगई है। अतएव अमूर्त्तकालानुबन्धिनी सर्गमहिमा का समन्वय सम्भव ही नहीं हो सका है दार्शनिकों के लिए। ऐसा क्यों, और कैसे घटित-विघटित हो पड़ा ?, प्रश्न सचमुच दुरधिगम्य है, जबकि दार्शनिक–जगत् ने भी उसी वेदशास्त्र को आधार मान कर तत्त्वसमन्वय की चेष्टा की है, जिस वेदशास्त्र को आधार बना कर ही हम 'कालदृष्टान्त' को मध्यस्थ बनाने जारहे हैं अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध '**कालसूक्त**' की आश्रयता से। हमारी दृष्टि में प्रश्न सर्वथा भावुकतापूर्ण है, जबकि मान्यताभक्तों के लिए प्रश्न दुरधिगम्य ही माना जासकता है।

८९–नित्यसिद्ध आधिदैविक–सत्यसर्ग से पराङ्मुखता, तत्परिणामस्वरूप तत्त्वात्मक नित्यवेद की विस्मृति, तन्मूलक काल्पनिक अध्यासवाद, एवं तदनुबन्धिनी दार्शनिक-मान्यताएँ, तथा उनकी निस्सारता—

जिस दार्शनिक–मान्यता में 'वेद' केवल शब्दसंग्रहात्मक शास्त्र का ही नाम हो, जो मान्यता विश्वो-त्पादक-रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–तन्मात्रारूप तत्त्वात्मक वेदस्वरूप से सर्वथा पृथक् हो गई हो, अतएव जिसके लक्ष्य में तत्त्ववेदमूला नित्यविज्ञानसिद्धा–अधिदैवतभावान्विता सृष्टिविद्या की कोई स्वरूपव्याख्या न हो, इस सर्गव्याख्या के अभाव से ही जिसने '**सत्यं-ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म**' के '**नित्यं-विज्ञानं-आनन्दं-ब्रह्म**'-रूप विश्व जैसे महिमाभाव को 'मिथ्या' मान बैठने की महती भ्रान्ति करते हुए कर्म्मत्यागानुगता कल्पित–संन्यासभावना का आविर्भाव कर डाला हो, उसकी दृष्टि में यदि अमूर्त्त–अनन्तकाल का सृष्टिसाक्षी तत्त्वात्मक–वेदात्मक–स्वरूप न आया हो, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। और इसी सत्तासिद्ध कालसर्ग के बोधाभाव से वह वेदशास्त्र

को आधार बना कर भी सर्गमहिमा का समन्वय करने में भी यदि असमर्थ बनी रह गई हो, तो इस प्रश्न में भी कोई दुरधिगम्यता नहीं है। यद्वा तद्वास्तु। दार्शनिक–मान्यताओं का स्वरूप–विश्लेषण हमारा लक्ष्य नहीं है। हमें तो स्वयं वेदशास्त्र के वेदपदार्थ को लक्ष्य बना कर ही अमूर्त्तकाल के दृष्टान्त–माध्यम से वेदतत्त्व–सिद्धा सृष्टि-सर्गव्याख्या के द्वारा ही लक्षीभूत दिग्देशकालस्वरूपों की आराधना में प्रवृत्त होना हैं। एवं इन सोपाधिक अनुबन्धों के आधारभूत अमूर्त्तकाल की अनन्तता के माध्यम से ही अनन्तब्रह्म की अनन्तता के स्वरूपदर्शन में तटस्थरूपेण प्रवृत्त होने की धृष्टतामात्र कर लेनी है। और आचारनिष्ठानुगत विज्ञ–पाठकों से उपक्रम में हीं यह भी निवेदन कर ही देना है कि,–अमूर्त्त–निरपेक्ष–काल के सत्तासिद्ध–आनन्त्य-समन्वय का जो प्रयास अत्र उपक्रान्त हो रहा है, उसे वे अत्यन्त ही अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाने का अनुग्रह करेंगे। क्योंकि यह पारिभाषिक समन्वय उस तत्त्ववेद से ही सम्बद्ध है, जिसका स्वरूप शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा से पराङ्मुख बन चुका है।

६०–पाञ्चभौतिक विश्वानुबन्धी मूर्त्त पदार्थों की सापेक्षता—

भूत–भौतिक–व्यक्त–भावापन्न वैकारिक–पदार्थों की उत्पत्ति–वृद्धि–स्थिति–परिवर्त्तन-आदि आदि समस्त वैकारिकभाव परस्पर अन्योऽन्याश्रित ही बने रहते हैं। प्रत्येक भौतिक पदार्थ अन्य पदार्थों की आश्रयता से ही अपने वैकारिक–भावों की स्वरूपसत्ता में समर्थ बनता है। यही पारस्परिक–आश्रयता वैदिक-परिभाषा में–**'अन्न–अन्नादभाव'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थों को खाकर ही, लेकर ही स्वस्वरूप से उपजीवित है। इस दृष्टि से सभी पदार्थ अन्नादरूपेण खाने वाले भी हैं, एवं अन्नरूपेण खाए जाने वाले भी हैं। **'सर्वमिदमन्नम्–सर्वमन्नादः'** (शतपथब्राह्मण) इत्यादि श्रुति से समर्थित भौतिक पदार्थों में परस्पर व्याप्त, अन्योऽन्याश्रयमूलक यह आश्रित–आश्रय-भाव ही **'अपेक्षाभाव'** कहलाया है। एवं इस अन्न–अन्नादमूलक अपेक्षाभाव के सम्बन्ध से ही पाञ्चभौतिक महाविश्व के सभी पदार्थ समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से–**'सापेक्ष'** बने हुए हैं।

६१–सापेक्ष पदार्थों की गणनानुगता अनन्तता, एवं काल–दिक्–देश–माध्यम से उन अनन्त-सापेक्षभावों का तीन वर्गों से संग्रह—

अनन्त–असंख्य हैं ये भूत–भौतिक–पदार्थ, जिनका गणनात्मक संख्यानुपात मानवप्रज्ञा के लिए सर्वथा दुरधिगम्य ही बना हुआ है। गणितशास्त्र के सभी अङ्क इनके आनन्त्य-परिगणन में असमर्थ ही बन जाते हैं अन्ततोगत्वा। जबकि पदार्थ असंख्य–अनन्त हैं, तो तदनुगत–अन्नान्नादभावात्मक 'सापेक्ष' भाव भी असंख्य–अनन्त ही मान लेने पड़ते हैं। नित्य ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित भारतीय नित्यविज्ञान के द्रष्टा महर्षियोंनें इन अनन्त भी सापेक्ष भूत–भौतिक–पदार्थों का तीन श्रेणियों के माध्यम से संग्रह कर लिया है, जो तीन वर्ग क्रमशः–**'काल–दिक्–देश'** इन नामों से सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध हैं। प्रातिस्विक-विभिन्न-गुण-धर्म्मात्मक अनुबन्धों से जहाँ व्यष्ट्यात्मक पदार्थ विशेषभावों से समन्वित रहते हैं, वहाँ देश-दिक्–कालानुबन्ध से सभी पदार्थ 'सामान्यभाव' से समन्वित माने जायँगे। तात्पर्य्य यही है कि, अपने प्रातिस्विक-वैय्यक्तिक-विशेषधर्म्मों से सर्वथा पृथक्-पृथक्-धर्म्मा बने रहने वाले भी पदार्थ दिग्देशकालरूप सामान्यधर्म्मानुबन्धों से समानधर्म्मा भी प्रमाणित हो रहे हैं। और इसी सामान्यानुबन्ध से अनन्त भी अपेक्षाभावों का इन तीन

अपेक्षाभावों में हीं अन्तर्भाव कर लिया जासकता है । प्रत्येक पदार्थ कालसापेक्ष बनता हुआ दिक्सापेक्ष भी है। एवं दिक्सापेक्ष बनता हुआ देशसापेक्ष भी है, जिस इस काल-दिक्-गर्भिता देशसापेक्षता का पर्य्यवसान अन्ततोगत्वा पदार्थ के प्रातिस्विक विशेषधर्म्मानुबन्धी–'प्रदेश' भाव पर ही होता है। अनन्त–असंख्य–अपेक्षाभावात्मक–विशेषभावों का संग्राहक 'प्रदेश' शब्द है, जिसका आधार सापेक्ष देशभाव है, देश का सापेक्षभाव दिग्भाव है, एवं दिक् का सापेक्षभाव काल है। और यों प्रदेशात्मक विशेष पदार्थ सामान्य–धर्म्मात्मक काल–दिक्–देश–नामक तीन सापेक्षभावों से सदा समन्वित रहते हैं। इसी समन्वय–दृष्टिकोण को आधार बना कर हमें सर्वप्रथम इन तीनों सापेक्षभावों के ही साक्षात्कार में प्रवृत्त होना है।

६२–'देश' भाव की गौणता, एवं 'काल-दिक्' भावों की प्रमुखता—

इदमत्र प्रासङ्गिकम् । सापेक्ष पदार्थों की सापेक्षता के समन्वय में प्रवृत्त होते हुए भारतीय तत्त्वचिन्तक विद्वान् यद्यपि काल–दिक्–देश–इन तीन सापेक्षभावों को ही आधार बनाते हैं। और सामान्यदृष्ट्या यह त्रित्ववाद स्वीकरणीय भी है। तथापि तत्त्वदृष्ट्या जो प्रयोजन विद्वान् इन तीन भावों से समन्वित करना चाहते हैं, वह प्रयोजन 'काल–दिक्' इन दो भावों से भी गतार्थ बन जाता है। इसी तात्त्विक दृष्टिकोण के आधार पर–'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये' यह सूक्ति प्रतिष्ठित है, जिसके द्वारा अनन्तचिन्मूर्त्ति (अनन्तज्ञानघन) ब्रह्म को दिक्काल से अतीत प्रमाणित किया गया है।

६३–दिक्कालानवच्छिन्न निरपेक्षब्रह्म, एवं ज्यौतिषशास्त्रानुबन्धी काल-दिग्भाव, तथा दिक् के सम्बन्ध में प्रश्नोत्थान—

सूक्ति में ब्रह्म को दिक्, और काल से ही अनवच्छिन्न (असंस्पृष्ट) बतलाया गया है, जिसका अर्थ यही निकलता है कि, काल की व्यक्तावस्थारूपा दिक् ही मूर्त्तभावात्मक देशरूप में क्योंकि परिणत होती है, अतएव देश का स्वप्रभव दिग्भाव में हीं अन्तर्भाव होजाता है। और यों तीन भावों के स्थान में काल, और दिक्, इन दो से भी ब्रह्म की अनवच्छिन्नता गतार्थ बन जाती है। इसीलिए तो अर्वाचीन ज्यौतिषशास्त्र में भी तत्तदाचारात्मक कर्म्मों–यात्राओं–शान्ति–स्वस्त्ययनादि प्रसङ्गों में लक्षीभूत मुहूर्त्त–चिन्तन में कालानुगत 'दिग्भाव' को ही प्रधानता देदी गई है। अतएव च 'देश' भाव विशेषरूपेण विचार का लक्ष्य नहीं बनता, जबकि आचारभावों की आधारभूमि देश, किंवा प्रदेश ही बना करता है। यह तभी सम्भव है, जबकि 'दिक्' को देश का संग्राहक मान लिया जाय। एवं यह संग्रह तभी वस्तुतत्त्व बन सकता है, जबकि देश को दिक् की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय। क्योंकि ऐसा ही है सत्तारूपेण। अतएव दिङ्मात्रावलम्ब से मुहूर्त्तचिन्तनप्रसङ्ग सर्वात्मना समन्वित होजाता है। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यही शेष रह जाता है कि, काल कैसे दिक्रूप में परिणत होजाता है ?, एवं दिगभाव कैसे देशरूप में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा प्रदेशभावों का सर्ज्जक बन जाता है ?। तत्–प्रश्नसमाधान के लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' उपक्रान्त हो रही है।

६४–दिक्–देश–काल–भावों की स्वरूप-जिज्ञासा का मौलिक कारण—

सब से पहिले दो शब्दों में इस प्रश्न का समन्वय कर लेना आवश्यक होगा कि, मानव के प्रज्ञाक्षेत्र में दिग्–देश–काल जैसे सापेक्षभावों की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हुई ही क्यों ?। अनन्तब्रह्म के एकांश

से महिमारूप से आविर्भूत–महाविश्व के क्रोड़ में जितने भी अणु–महान् चर–अचर–भाव प्रतिष्ठित हैं, उन सब में एकमात्र मानव के मानस में ही विश्वानुबन्धी दिग्–देश-काल-भावों की स्वरूप-जिज्ञासाभिव्यक्ति का मूल यही प्रतीत हो रहा है कि, मानव वस्तुतः अपने हृदयस्थ आत्मभाव से उस अनन्तब्रह्म से सर्वात्मना समतुलित रहता हुआ दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न, अतएव परिपूर्ण ही है ब्रह्मवत् । मानव का आत्मभाव ब्रह्म ही है, दूसरे शब्दों में अनन्त ब्रह्म ही मानव का आत्मभाव है । जब कि अनन्त ब्रह्म दिग्देशकाल से अतीत है, तो अनन्तता के पूर्णाभिव्यक्तिलक्षण मानवीय आत्मा को भी दिग्देशकालातीत ही माना जायगा ।

९५–कालसापेक्षा बुद्धि, दिक्सापेक्ष मन, देशसापेक्ष शरीर, एवं दिग्देशकालनिरपेक्ष आत्मभाव, तथा उस का सहज आत्मप्रसाद—

सहजबोधनिष्ठ–स्वयंसिद्ध–इत्थंभूत परिपूर्ण मानव अपने आत्मभाव से एक ओर जहाँ दिग्देश–कालानवच्छिन्न बनता हुआ सर्वथा 'अप्राकृत' है, वहाँ वही मानव दूसरी ओर अन्यान्य स्थावर–जङ्गम–(जड़–चेतन) सापेक्ष–भूतभौतिक-पदार्थों की भाँति सौरप्रकृतिसिद्ध **'बुद्धिभाव'**, चान्द्रप्रकृतिसिद्ध **मनोभाव**, एवं पार्थिवप्रकृतिसिद्ध **शरीरभाव**, इन तीन विभिन्न प्राकृतिक भावों से भी अपने आप को समन्वित पा रहा है, जो इस के ये तीनों भाव ही क्रमशः काल–दिक्–देश–भावों के संग्राहक बने हुए हैं । कालसापेक्षा बुद्धि, दिक् सापेक्ष मन, एवं देशसापेक्ष शरीर, इन तीनों प्राकृत–अनुबन्धों से मानव की व्यक्ता–मूर्त्ता–भूतसंस्था का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जो भूतसंस्थात्मिका प्रकृतिसंस्था अपने सहज परिवर्त्तनभाव के कारण पर (बाह्य विषय) भावानुगता–परदर्शनमूला बनती हुई 'भावुकता' के नाम से प्रसिद्ध है । स्वतःसिद्ध नैष्ठिक आत्मपुरुष, तथा परतःप्रमाणीकृता भावुक–प्रकृति, दोनोंका स्वरूप ही स्थूलदृष्ट्या मानव का सर्वस्व स्वरूप है । स्वतःसिद्धा निष्ठा के अनुबन्ध से मानव प्रकृतिमूला सभी जिज्ञासाओं से सर्वथा तटस्थ ही बना रहता है । एवं ऐसा आत्मनिष्ठ सहजसिद्ध **'पुरुषमानव'** ही **'आत्मवश्य'** मानव माना गया है, जिस का निम्नलिखि शब्दों में यशोगान हुआ है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति —गीता

९६–प्रकृतिपारवश्यमूला आत्मस्वरूपविस्मृति, तदनुगत प्राकृत व्यामोहन, तन्निबन्धना दिग्-देश–काल-स्वरूप-जिज्ञासा, एवं तत्समाधाता सृष्टिविज्ञान—

तथोक्त आत्मवश्य पुरुषमानव अपने विवर्त्तभूत बुद्ध्यनुगत काल, मनोऽनुगत दिक्, एव् शरीरानुगत देश, इन तीनों का साक्षीमात्र बना रहता है । अतएव इस सहजावस्थात्मिका सिद्धावस्था में मानव के यच्च-यावत् कर्मकलाप-जीवनीयेतिवृत्त,आदि सभी कुछ सहजरूपेणैव उत्थिताकांक्षालक्षणा निष्कामभावनात्मिका कामना, किंवा अकामभाव से स्वतः ही प्रक्रान्त होते रहते हैं । अतएव इस आत्मभावानुगता सहजावस्था में किसी भी प्रकार की उत्थाप्याकांक्षालक्षणा जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता । हाँ, मानव प्रत्येक दशा में प्राकृतभाव का भी साक्षी बना ही रहता है । अतएव इस निष्कामावस्था में यह सहज मानव दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के महिमामय स्वरूपों का स्तवन–वर्णन अवश्य करता रहता है, जैसा कि महिमामय सृष्टिसर्गों के स्तवन–वर्ण–

नादि से स्पष्ट है । किन्तु मादृश– प्राकृत मानव जब अपने स्वस्वरूपात्मक पुरुषभाव को विस्मृत कर केवल प्रकृति को ही अपना स्वरूप–मान बैठते हैं, तो उस दशा में कामभावमूला जिज्ञासा–परम्पराएँ जागरूक हो पड़तीं हैं । अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, दिग्–देश–कालानुगत जिज्ञासाभाव का एकमात्र कारण मानव का प्रकृतिपारवश्य, एवं आत्मभावविस्मृति ही है । प्रकृतिनिबन्धना अज्ञानता ही **कोऽयं कालः ?, केयं वा दिक् ?, अथ च कोऽयं वा देशः ?** इत्यादि जिज्ञासाओं की जननी बनती है, जिन इत्थंभूता प्राकृतिक जिज्ञासाओं का समाधान भी प्रकृतिविज्ञानात्मक प्राकृतिक–स्वरूप पर ही अवलम्बित माना गया है । अतएव अभी थोड़ी देर के लिए प्रकृति से पर अवस्थित पुरुष से समतुलित निरपेक्ष–अनन्त–अमूर्त्त–काल को तटस्थ मानते हुए सर्वप्रथम प्रकृति के क्रोड़ में अवस्थित, प्रकृति से ही समतुलित, किंवा प्रकृतिरूप ही सापेक्ष–सादि–सान्त मूर्त्तकाल को, तथा तदनुगत, किंवा तन्मूलक दिग्देशभावों को (प्रकृत्यनुबन्धिनी जिज्ञासा की उपशान्ति के लिए) प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान के माध्यम से ही हम उपक्रान्त कर रहे हैं । क्योंकि प्रकृतिमूला जिज्ञासा का समाधान प्राकृतिक–सृष्टिविज्ञान के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

६७--'प्रयुतां संयोगः', तथा 'प्रहितां संयोगः' मूलक 'वयुन' तत्त्व का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं 'वयुन' की सर्वव्याप्ति----

परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–ग्रह–नक्षत्र–ऋषि--पितर--असुर– गन्धर्व–देव-पशु–पक्षी–कृमि–कीट–ओषधि–वनस्पति–धातु–रस–विष–आदि आदि महाब्रह्माण्डान्तर्गत, विभिन्न प्रदेशात्मक, विभिन्न दिग–बच्छिन्न, विभिन्न कालानुबन्धी जितने भी स्थूल–सूक्ष्म--सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम सापेक्ष पदार्थ हैं, स्थूलदृष्टि-विज्ञान--दृष्टि, एवं योगजदृष्टि--भावों में से किसी भी एक दृष्टि के विषय बनते हुए वे सभी पदार्थ **'दार्ष्टिविषयक'** ही माने जायँगे । दृष्टि के विषयभूत (लक्षीभूत) उक्त सम्पूर्ण भूत--भौतिक प्रपञ्च जिस वस्तुभाव के माध्यम से हमारे लिए परिगृहीत बनते हैं, जिस वस्तुभाव के माध्यम से तथाकथिता दृष्टि इन पदार्थों के व्यक्तभावापन्न 'आकृतिभावों' का अनुगमन करने में समर्थ होती है, दूसरे शब्दों में जिस वस्तुभाव के कारण इन की आकृ–तिलक्षणा 'जाति' अभिव्यक्त हो पड़ती है, जिस वस्तुभाव के द्वारा ही ऊर्ध्वलोकस्थ ऊर्ध्व पदार्थों के प्रवर्ग्यभावों का **'प्रयुतां संयोगः'** रूप सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है अधोलोकस्थ अधःपदार्थों के ब्रह्मौदनों के साथ, एवं अधः-पदार्थों के प्रवर्ग्यभावों का **'प्रहितां संयोगः'** रूप सम्बन्ध ऊर्ध्वलोकस्थ पदार्थों के ब्रह्मौदनों के साथ प्रक्रान्त रहता है, वह विलक्षण अपूर्व वस्तुभाव ही भारतीय-विज्ञान की परिभाषा में **'वयुनम्'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । पदार्थों की आकृतियाँ इसी 'वयुन' के कारण अभिव्यक्त हैं । पदार्थमात्राओं का प्रवर्ग्यरूप से परस्पर आदान--प्रदान इसी वयुनभाव पर अवम्बित है । एवं पदार्थों की महिमाभावापन्ना दृष्टिमूला प्रतीति का भी यही वयुन **'आवपन'**(सर्वतः आधार) बना हुआ है * । अपने अपने आकृति--प्रकृति--अहङ्कृति--गुण--धर्म--आदि विशेष अनुबन्धों से परस्पर सर्वथा विभिन्न भी ब्रह्माण्ड के यच्चयावत् पदार्थ सर्वाधारलक्षण--आवपनरूप-- 'वयुन' नामक वस्तुभाव की अपेक्षा से तो **'वयुन'** रूपत्वेन अविभिन्न ही प्रमाणित हो रहे हैं ।

---

* आंशिक आधार **'आधार'** कहलाया है, एवं सर्वाधार **'आवपन'** कहलाया है । भूपिण्ड ओषधि-वनस्पतियों का जहाँ 'आधार' है, वहाँ स्वायम्भुव आकाश सर्वाधारकत्त्वेन ओषधि-वनस्पतियों का **'आवपन'** माना गया है, जो कि यजुःसंहिता में--**'खंब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध है ।

वयुन की इसी सर्वसामान्यव्याप्ति के आधार पर हम सम्पूर्ण पदार्थों को समष्टिरूप से, तथा व्यष्टिरूप से, उभ-यथा '**वयुन**' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं, जैसाकि-'**सर्वमिदं वयुनम्**' इस निगमवचन से प्रमाणित है।

९८-'वयुन' तत्त्व के स्वरूपलक्षण का तात्त्विक समन्वय, एवं 'आकृति' शब्द का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ 'वयुन' नामक वस्तुभाव का तत्त्वात्मक तटस्थ लक्षण। अब आचारात्मक स्वरूप-लक्षण का समन्वय कीजिए। 'वयुन' उस वस्तुतत्त्व का नाम है, जिस में '**वय**'-'**वयोनाध**' नामक दो भाव समन्वित रहते हैं। किंवा 'वय', और 'वयोनाध' की समन्वितावस्था का ही नाम 'वयुनम्' है, जिस इस द्विभावात्मक वयुन के वय-वयोनाध-भावों के स्वरूपान्वेषण के लिए किसी भी एक भौतिक पदार्थ को उदाहरण बना लेना समीचीन होगा। उदाहरणात्मक 'भूपिण्ड' को लक्ष्य बना लीजिए, जिस का आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं। भूपिण्ड **पदार्थात्मक (शब्द, एवं तद्वाच्य अर्थात्मक, शब्दतन्मात्रायुक्त भूतमात्रात्मक)** 'वयुनम्' है। हम इस वयुनरूप पुरोऽवस्थित भूपिण्ड की एक आकृति का साक्षात्कार कर रहे हैं, जिस प्रतीयमाना बाह्याकृति में वृक्ष-वनौषधि-पर्वत-नद-नदी-सागर-मृत्-आदि आदि असंख्य पदार्थ समन्वित हैं। इन सब विभिन्न भूत-भौतिक-पदार्थों की समन्वितावस्था का नाम ही 'भूपिण्ड' है। न केवल भूपिण्ड में हीं, अपितु दृष्टिपथ में आने वाले छोटे बड़े सभी पदार्थों में, प्रत्येक में असंख्य पदार्थ समन्वित हैं। असंख्यों के सह समन्वय से ही भूतपदार्थों के आकृतिभाव अभिव्यक्त होते हैं। बड़ा ही विलक्षण है यह '**आकृतिभाव**', जिसे हमने सर्वाधाररूप 'वयुन' कहा है पूर्व में। इस शब्द में '**आ**' (आङ्-उपसर्ग)-और '**कृति**', इन दो भावों का वैसा विलक्षण सह समन्वय है, जिस में से एक दूसरे को एक दूसरे से कदापि पृथक् नहीं किया जासकता। आङ् उपसर्ग-निबन्धन 'आ' अक्षर 'आसमन्तात्' भाव का स्वरूप-संग्राहक है, तो 'कृति' शब्द परिवर्त्तनशील धामच्छद (स्थानावरोधी-जगँह रोकनेवाले) कार्य्यभाव का संग्राहक बना हुआ है। भूपिण्ड 'वयुन' रूपा 'कृति' है उपेश्वरप्रजापति (सौरसम्वत्सरप्रापति) की। किन्तु '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' न्याय से इस कृति को उत्पन्न कर, किंवा अभिव्यक्त कर वह प्रजापति इस कृति के केन्द्र में अणोरणीयान्रूप से, एवं महिमामण्डल में महतोमहीयान्रूप से सर्वत्र आसमन्तात् इस छोर से उस छोर पर्य्यन्त सर्वाधाररूप से प्रविष्ट हो रहा है। इसी सर्वाधार प्रजापति की ओर संकेत हो रहा है-'आकृति' शब्द के 'आ' अक्षर से। एवं प्राजापत्य कृतिलक्षण भूपिण्ड की ओर संकेत हो रहा है आकृति के-'कृति' शब्द से। भूपिण्डाधारभूत प्रजापति भी कृति से पृथक् नहीं है, एवं कृतिरूप भूपिण्ड भी प्रजापति से पृथक् नहीं है। अतएव सर्वाधारप्रजापति के सूचक '**आ**' अक्षर के साथ भी 'कृति' शब्द का समावेश अनिवार्य्य होगा, एवं प्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित भूपिण्ड के सूचक 'कृति' शब्द के साथ भी 'आ' अक्षर का समावेश अनिवार्य्य होगा। फलतः इन आ, और कृतिरूप प्रजापति, तथा भूपिण्ड, दोनों के लिए ही 'आकृति' शब्द प्रयुक्त होगा। अन्तर दोनों शब्दों के वाच्यार्थों में यही रहेगा. कि, प्रचापतिवाचक 'आकृति' शब्द का अर्थ होगा-'कृति का सर्वरूप' (कृति का आभाव)। एवं भूपिण्डवाचक 'आकृति' शब्द का अर्थ होगा 'सर्वरूपानुगता कृति' (आङ् पूर्विका कृति)। समझने के लिए-प्रजापतिवाचक आकृति शब्द को तो हम '**आकृति**' शब्द से व्यवहृत करेंगे, एवं भूपिण्डवाचक आकृति शब्द को '**आकार**' शब्द से व्यवहृत करेंगे। '**आकृतिभाव** अपरिवर्त्तनीय माना जायगा, अक्षरात्मक माना जायगा, एवं '**आकारभाव**' परिवर्त्तनशील कहा

जायगा, चरात्मक माना जायगा। **अक्षरामृतरूप प्रजापति**, एवं **क्षरमर्त्यरूप भूपिण्ड**, दोनों की समन्विता-वस्था को, आकृति, और आकार की समुच्चयावस्था को ही कहा जायगा—**'वयुनम्'***।

९९--वयुनभावानुगत 'वय', और 'वयोनाध', एवं वयोनाध की छन्दोरूपता—

भूपिण्ड में आकृतिरूपा आकृति, एवं कृतिरूपा आकृति (आकार) दोनों भाव समाविष्ट हैं। कृतिरूपा आकृति ही वह वस्तुभाव है, जिस का हम स्पर्श करते हैं, जिस पर हम चलते फिरते हैं, गृह–उद्यानादि का निर्म्माण करते हैं। इसी धामच्छद 'कृतिभाव' को **'वयः'** कहा गया है, जो वयुन का एक भाव है। जिस आकृतिभाव से यह 'वय' (पदार्थ) सीमित–नद्ध–आबद्ध है आसमन्तात् (चारों ओर से, सब ओर से), वह बन्धनवृत्त ही **'वयोनाध'** है, जिस का अक्षरार्थ है वय को नाँधने वाला, बाँधने वाला तत्त्व, जोकि वयुन का ही एक भाव है। वस्तु, और वस्तु की आकृति ही क्रमशः 'वय' और 'वयोनाध' शब्दों का भावुकता-संरक्षक अर्थसमन्वय माना जासकता है। इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि, वयोरूप धामच्छद पदार्थ (भौतिक पिण्ड) का आकार ही वयोनाध है। और यही 'वयोनाध' 'त्रयीवेदविद्या' के अनुबन्ध से **'छन्दः'** नाम से प्रसिद्ध है।

१००--वाक्परिमाणात्मक छन्द का स्वरूप-परिचय—

सम्पूर्ण भूत–भौतिक पदार्थ मनःप्राणवाङ्मय अव्ययब्रह्म के तीसरे अर्थशक्तिमय 'वाक्' तत्त्व के ही उपबृंहित विवर्त्त हैं, जिस के लिए–**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'--'अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। वाक् का पहिला विवर्त्त आकाश है, इसका विवर्त्त वायु है, इसका विवर्त्त तेज है, इसका विवर्त्त जल है, एवं इसका विवर्त्त पृथिवी (मृत्) है। यों वाक् ही आकाशरूप से बलग्रन्थिपरम्परया क्रमशः आकाशादि पृथिव्यन्त पाँच विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। एक ही वाक्तत्त्व, और वाक् के विवर्त्त रूप पाँचों महाभूत वाङ्मयत्त्वेन समानधर्म्मा। यों सभी 'वय' नामक पदार्थ पञ्चमहाभूतात्मक बनते हुए समान-धर्म्मा, अतएव वाङ्मय ही हैं। फिर पदार्थों के नाम–रूप–गुण–कर्म्मादि में विभिन्नता–विचित्रता कैसे आविर्भूत हो पड़ी ?, जबकि सब पदार्थों (वयों) का आरम्भक (उपादान) द्रव्य समानधर्म्मा ही है ?, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान यही **'वयोनाधरूप छन्दः'**–तत्त्व है, जो वेदशास्त्र का अत्यन्त ही दुरधिगम्य विषय बना हुआ है। आकृतिभाव, सीमाभाव, भूतपदार्थ का बन्धनभाव ही वह 'वयुन' है, जिस के भेद से समानोपादान-द्रव्यता में भी 'वय' के असंख्य–अनन्त विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं। वाङ्मय भूत को, किंवा भूताधारभूत वाक्तत्त्व को एक विशेष आकार प्रदान करने वाला, वाक् को विशेष सीमा में सीमित कर देने वाला तत्त्व ही **'छन्द'** है। अतएव छन्दोविद्यावेत्ताओंनें इस का लक्षण किया है–**'वाक्परिमाणं छन्दः'** (**श्रीगुरुवर-प्रणीता छन्दःसमीक्षा**)।

---

* **यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकं अग्निकर्म्मैव तत्सर्वम्। अग्निरेव गायत्रः प्रतिफलितो विषयदर्शने हेतुः। विषयाश्च वयुनात्मकाः, इति अग्निर्हि वयुनानि विद्वान्।**

१०१–प्रकृतिसिद्ध नित्य छन्दों के विविध रूपों का संस्मरण, एवं 'वय'-'वयोनाध'-'वयुन' भावों का समष्ट्यात्मक संग्रह—

एक ही मृत्तिका है । किन्तु वही आकारात्मक–वाक्परिमाणात्मक छन्द के भेद से विभिन्न–धर्म्मा असंख्य पार्थिव वयःपदार्थों में परिणत हो जाती है । एक ही जल कूप–तड़ाग–वापी–नद–नदी–सर–समुद्रादि–छन्दों के भेद से विभिन्न जातीय बने हुए हैं । एवमेव एक ही पाञ्चभौतिक द्रव्य, वाङ्मय द्रव्य असंख्य छन्दों के भेद से ही पदार्थासंख्यता का कारण बन रहा है । यही छन्द **'इन्द्रमाया' 'लेखा' 'रेखा'–'पुर'–'सीमा–'आयतन'–'आवपन'–'आधार'–'प्रतिष्ठा'** आदि आदि विभिन्न नामों से उपवर्णित है दृष्टिभेदमूलक सर्गों के भेद से । यही आगमशास्त्र की **'महामाया'** है, यही त्रिदेवानुबन्धिनी वह **'योगमाया'** है, जो **ब्रह्ममाया–विष्णुमाया–शिवमाया** आदि नामों से उपस्तुता है तन्त्र–शास्त्र में । पार्थिवी लोकविद्या में **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–दिशः–** नामक चार अवान्तर लोक माने गए हैं । एक ही पृथिवीलोक चार छन्दों के भेद से ही पृथिव्यन्तरिक्षादि चार लोकों के स्वरूप में परिणत हो रहा है, जो क्रमशः **माच्छन्दः** (पृथिवी का), **प्रमाच्छन्दः** (अन्तरिक्ष का), **प्रतिमाच्छन्दः** (द्यौ का), एवं **अस्री-विश्छन्दः** (दिक् का)–इन नामों से प्रसिद्ध हैं । एवमेव गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती-लक्षण सात छन्दों के भेद से अहोरात्रात्मक एक ही वय सात विभिन्न अहोरात्रों में परिणत होता हुआ **'सप्ताहयज्ञ'** का अधिष्ठाता बन रहा है । 'समुद्रच्छन्दः–आकाशश्छन्दः–वायुश्छन्दः–इत्यादिरूपेण सर्वत्र वाक्-परिमाणात्मक वयोनाध नामक छन्द का हो तो साम्राज्य है । सम्पूर्ण विश्व समष्टि–व्यष्टि–रूपेण छन्द से ही तो छन्दित है । इसीलिए तो सृष्टिसर्ज्जक वाङ्मय–वाग्विवर्त्तरूप * त्रयीवेद का तदावपनरूप इस वयोनाधात्मक 'छन्द' पर ही पर्य्यवसान मान लिया है शब्दशास्त्र के नियामक भगवान् पाणिनिने, जैसाकि-**'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति'-'छन्दसि बहुलम्'** इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है । छन्दोविद्या हीं वेदविद्या की आधारभूमि है, किंवा छन्दोविद्या का नाम ही वेदविद्या है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । सम्पूर्ण वेदविज्ञान की आश्रय भूमि वयोनाधविज्ञानात्मक छन्दोविज्ञान ही है । इस छन्द का ही नाम **वयोनाध** है, एवं छन्द से छन्दित पदार्थ का ही नाम वय है, और दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है–**'वयुनम्'**–इत्यलमतिपल्लवितेन वयुनशब्देतिवृत्तप्रसङ्गेन ।

१०२–'पदं' लक्षण 'वस्तुपिण्ड', 'पुनःपदं' लक्षण 'वस्तुमण्डल', एवं पिण्ड की 'स्पृश्यता', तथा मण्डल की 'दृश्यता' का समन्वय —

छन्दोरूप वयोनाध से सीमित–परिच्छिन्न–बने रहने वाले धामच्छद–भूतपदार्थ का नाम हीं 'वय' है, जिसे तत्त्वात्मक वेद के अनुबन्ध से **'रसवेद'** कहा गया है, और अब यहीं तत्त्ववेद की वे कतिपय परिभाषाएँ उपक्रान्त बन रहीं है, जिन से विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय-विद्वत्प्रज्ञा सर्वथा ही पृथक् बन चुकीं हैं । अतएव

***–अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।**
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।४।

अत्यन्त अवधानपूर्वक ही इस उपक्रान्ति को लक्ष्यानुगत बनाना है । रसवेदात्मक वय के आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो क्रमशः-'**पदम्-पुनःपदम्**'-इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। '**वस्तुपिण्ड**' का ही नाम 'पदम्' है, जिसका हम स्पर्शमात्र तो कर सकते हैं, किन्तु जिसे देख नहीं सकते। अतएव इसे '**स्पृश्यपिण्ड**' भी कहा जा सकता, है । स्पृश्यपिण्डात्मक इस वस्तुपिण्डरूप 'पदम्' को केन्द्र बनाते हुए, पिण्ड के चारों ओर अपना एक स्वतन्त्र परिमण्डल बना लेने वाले '**वस्तुमहिमाण्ड**' का ही नाम है '**पुनःपदम्**', जो 'पदम्' रूप वस्तुपिण्ड के अनन्तर अपने आण्डमहिमाभाव को व्यवस्थित करने के कारण हीं 'पुनःपदम्' (पद का ही पुनः वितत स्वरूप) नाम धारण कर रहा है । इसका हम दर्शनमात्र तो कर सकते हैं, किन्तु स्पर्श नहीं कर सकते । अतएव इसे '**दृश्यमण्डल**' भी कहा जा सकता है । 'पदम्' नामक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित अणो-रणीयान्, एवं महतोमहीयान् आसमन्तात् व्याप्त आत्मब्रह्मप्रजापति * का पहिला महिमाभाव ही वस्तुपिण्डा-त्मक 'पदम्' है, एवं दूसरा महिमाभाव ही वस्त्वण्डात्मक 'पुनःपदम्' है । और वय के पिण्ड-अण्डरूप ये दोनों हीं महिमा-विवर्त्त पद-पुनःपद-रूपेण उसी केन्द्रस्थ आत्मब्रह्म में अन्तर्भुक्त हैं, जिसे '**ज्यायान्**' कहा गया है इन दोनों महिमाभावों के समतुलन में, जैसाकि-'**एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः**' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है ।

१०३-प्राणों के आनन्त्य का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी पदं-पुनः पदं-रूप पिण्ड, और ब्रह्माण्ड—

वय का स्पृश्यधर्म्मा धामच्छद पिण्डभाव ही 'पदम्' है, एवं वय का दृश्यधर्म्मा अधामच्छद अण्डभाव ही 'पुनःपदम्' है । जो वस्तुभाव पिण्डानुगता **भूतमात्राओं** के रूप से पिण्डात्मक पदं में हैं, वे ही वस्तुभाव अण्डानुगता **प्राणमात्राओं** के रूप में अण्डात्मक पुनःपदं में हैं-'**यथा पिण्डे तथा अण्डे, यथा वा अण्डे-तथा पिण्डे** । **पिण्ड-ब्रह्माण्ड**-रूप पद-पुनःपद-नामक इन दोनों महिमा-विवर्त्तों की समन्वितावस्था का नाम ही 'वय' है, जो वयोनाध से परिच्छिन्न है । **भूतभाव** का ही नाम पिण्डात्मक पदभाव है, एवं **प्राणभाव** का ही नाम अण्डात्मक पुनःपदभाव है। पिण्डानुगत भूतभाव ही '**पशु**' है, एवं अण्डानुगत प्राणभाव ही '**देवता**' है । '**दैवतानि च भूतानि च**' रूप से श्रुतिने इन्हीं दोनों प्रजाओं की ओर सङ्केत किया है, जो हृदयस्थ आत्मपुरुषप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित हैं । मर्त्यभूत ही 'पशु' है, अमृतप्राण ही 'देवता' है, जिस इस अमृतप्राणदेवता की छन्दोभेदभिन्ना-संस्थाओं के भेद से अनन्त-असंख्य भेद हो जाते हैं, जैसाकि-'**अनन्ता वै प्राणाः**'-'**को हि प्राणानामानन्त्यं वेद**' इत्यादि वचनों से प्रमाणित है ।

***-प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।**
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजुःसंहिता) ।
अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ (उपनिषत्)

१०४--प्राण शब्द की स्वरूपपरिभाषा, एवं 'प्राण--ऋषि--देवता' नामक तीनों शब्दों की आंशिक--अभिन्नता का समन्वय—

आण्डवृत्तात्मक–पुनःपद नाम के महिमामण्डल-में प्रतिष्ठित--व्याप्त 'देवता'-लक्षण इस प्राणतत्त्व का लक्षण होगा–'रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–तन्मात्रा–भावेभ्योऽसंस्पृष्टः–अथामच्छदः-भूतप्रतिष्ठात्मकः-शक्तिविशेषभाव एव प्राणः'' यह। यह प्राणदेवता ही छन्दोभेद से ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–विराट्–नाभानेदिष्ठ--वालखिल्या–एवयामरुत्–वृषाकपि–सरस्वती–आदि आदि रूप से अनन्त विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है। सर्वाधारभूतावस्था (प्राण की मौलिक अवस्था) ही 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है। छन्दोभेदेन विवधरूपों में परिणत हो जाने के कारण ही प्राणों को 'विरूपासः' (विविधरूपासः–अनन्ताः) कहा गया है, जिनकी रहस्यात्मिका थाह अत्यन्त ही दुरधिगम्या मानी गई है, जैसाकि–'विरूपास इद्–ऋषयः, त इद् गम्भीरवेपसः' इत्यादि ऋङ् मन्त्र से स्पष्ट है। 'प्राणा वा ऋषयः, ऋषयो वाव प्राणाः, प्राणा एव देवताः' इत्यादिरूपेण ऋषि–प्राण–देवता–आदि शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त अभिन्नार्थों के ही संग्राहक बने हुए हैं।

१०५--प्राण की गतिरूपता, एवं गतिरूप प्राण के गत्वात्मक पाँच विवर्त —

'ऋषि' अभिधा का एकमात्र कारण है प्राण का सहजसिद्ध गतिधर्म्म। 'ऋषति-गच्छति'-ही 'ऋषि' शब्द का निर्वचन है। 'इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद्–ऋषयः' (शत० ६।१।१।१) ही प्राण के 'ऋषि' नामकरण का समन्वय है। गतिशील प्राणतत्त्व ही ऋषितत्त्व है, जिस इस ऋषिप्राण के किंवा 'गति' तत्त्व के अपेक्षाभेद के माध्यम से ''विशुद्धा स्थिति (ब्रह्माक्षर), विशुद्धा आगति (विष्णवक्षर,), विशुद्धा गति (इन्द्राक्षर), स्थितिगर्भिता गति (अग्न्यक्षर), स्थितिगर्भिता आगति (सोमाक्षर)'' ये पाँच प्रमुख विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका सुप्रसिद्धा 'पञ्चाक्षरविद्या' में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। प्राण–गति–अक्षर–ऋषि–देवता–आदि शब्दों का चिरन्तन इतिहास ही पुनःपदस्थ महिमामण्डल का, किंवा ब्रह्माण्ड का रहस्यपूर्ण सुसूक्ष्म इतिहास है, जिसे जड़भूतव्यामोहन से आज मानवने, विशेषतः प्राणोपासक भारतीय मानवने सर्वात्मना विस्मृत कर दिया है, जिस इस विस्मृति के अनुग्रह से ही प्राणात्मक भी भारत-राष्ट्र आज सर्वथा ही निष्प्राण–देवभावशून्य–गतिभाववञ्चित–अनार्ष मानव ही बन गया है।

१०६–'प्राणदपानत्' रूप 'प्राणिति च--अपानिति च' का समन्वय—

सम्पूर्ण भूत–भौतिक–पदरूप–पदार्थों की प्रतिष्ठा 'गति' तत्त्व ही माना गया है भारतीय विज्ञानकाण्ड में, जिस इस गति–प्रतिष्ठा के तात्त्विक स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'सोमापहरणाख्यान' व्यवस्थित हुआ है। जिस गायत्री के द्वारा तीसरे द्युलोक से सोम का अपहरण होता है, वह गायत्री-तत्त्व एति–प्रेति–भावापन्न पार्थिव गतिप्राण ही है। गमन 'एति' भाव है, आगमन 'प्रेति' भाव है। आदान–विसर्ग–रूप आगमन--गमन–भावों की समन्वितावस्था का नाम हीं– 'प्राणदपानत्' है। प्राणन से वस्तुस्वरूप के प्रवर्ग्य का विनिर्गमन होता है, एवं अपानन से वस्तुस्वरूप में ब्रह्मौदन का आगमन होता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ गत्यात्मक इस प्राणन–अपान--धर्म्म से नित्य समन्वित रह कर ही प्राणिति च, अपानिति च। यही प्राणनापानन वस्तुभूत की जीवनसत्ता का मूलाधार है, एवं यही 'सोमापहरणख्यान' का निष्कर्षार्थ है,

जिसे **'सौपर्णाख्यान'** भी कहा गया है, जिसका कि वेतदत्त्वोपबृंहक पुराणशास्त्र में-- **'कद्रु-विनताख्यान'** रूप से विस्तार से यशोगान हुआ है प्रतीकभाषा में ।

१०७--ऋषय--पितरः--असुराः--देवाः-पशवः--भूतानि--लक्षण प्राण के विभिन्न वर्गों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

प्राणदपादनल्लक्षण मौलिक प्राण ही 'ऋषि' है । इन सजातीय-विजातीय-ऋषिप्राणों के बलग्रन्थितारतम्य से सर्वप्रथम जो योगजप्राण आविर्भूत होते हैं, उन्हीं के नाम **'पितरः'** हैं । पितृप्राणों के समन्वय से उत्पन्न सौम्य-आप्य-भार्गव वारुण प्राण ही **'असुराः'** हैं, एवं आग्नेय-आङ्गिरस-प्राण ही **'देवाः'** हैं, मूर्च्छित सौम्य प्राण ही--**'पशवः'** हैं, मूर्च्छित आग्नेय प्राण ही **'भूतानि'** हैं । तदित्थं-गतिलक्षण-प्राणदपानद्रूप--मौलिक--ऋषिप्राण ही हृदयस्थ प्रजापति के काम-तमः-श्रम-मय मनः--प्राण--वाग्--भावों की साक्षी मे बलग्रन्थितारतम्य से क्रमशः **ऋषयः-पितरः-असुराः-देवाः-पशवः-भूतानि**-इत्यादि विवर्त्तभावों में परिणत होते हुए सम्पूर्ण पिण्डजगत् की मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित होरहे हैं । इन्हीं मौलिक-गत्यात्मक-प्राणों के अनुग्रह से यच्चयावत् भूत-भौतिक-पदार्थ स्वस्वरूप-रक्षा के लिए निरन्तर प्राणन, एवं अपानन में जागरूक ही बने हुए हैं, जबकि एकमात्र मानव ही अपनी स्वतन्त्र-प्रज्ञा के व्यामोहन में, किंवा जड़भूतनिबन्धन-सर्वस्वघातक बुद्धिवाद के अभिनिवेश में आविष्ट होकर इस प्राजापत्या प्रकृतिसिद्धा प्राणदपानल्लक्षणा नियति का अतिक्रमण करता हुआ- **'मनुष्या-एवैके-अतिक्रामन्ति'** (शातपथ०) इस अभियोग को चरितार्थ कर रहे हैं आज ।

१०८-भूतानुबन्धी 'रसभाव', प्राणानुबन्धी 'वितानभाव', एवं तन्मूला तत्त्वात्मिका त्रयी-विद्या—

प्रासङ्गिकमेतत् । प्रकृतमनुसरामः । वयोनाधात्मक छन्द की सीमा से छन्दित-परिवेष्टित-परिमित-मर्य्यादित-वस्तुपिण्डात्मक 'वय' का ही नाम **'रस'** है, एवं इस रसात्मक वस्तुपिण्ड (भूतपिण्ड) के केन्द्र में प्रतिष्ठारूप से अन्तर्य्याम--सम्बन्ध से प्रतिष्ठित प्राण का ही नाम **'वितान'** है । इसप्रकार वयोनाधरूप छन्द से नद्ध-पिनद्ध-आबद्ध एक वयोभाव के ही **भूत-प्राण**--रूप से **रस**, और **वितानात्मक** दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं, और अब इन विवर्त्तभावों के माध्यम से ही हमें तत्त्वात्मिका उस वेदत्रयी का दिग्दर्शनमात्र करा देना है, जिसके समन्वयाधार पर ही प्रतिज्ञाता दिक्-देश-काल-स्वरूप-मीमांसा का समन्वय सम्भव है ।

१०९-छन्दःवि-तानम् , तदनुगत ऋक्-यजुः-साम, एवं तन्निबन्धन दिग्देशकाल—

वयोनाधात्मक छन्द की सीमा में प्रतिष्ठित भूतपिण्डरूप वयोलक्षण रसभाव, एवं प्राणाण्डरूप वयोलक्षण वितानभाव, इस रूप से वय के ही रस, और वितान-रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं, और यों वयोनाधात्मक छन्द के समावेश से वयोनाध-वय-रूप 'वयुन' के अत्र **छन्दः-रसः-वितानम्**-ये तीन विवर्त्त बन जाते हैं, जिनमें **वयोनाधात्मक छन्द का नाम है ऋग्वेद, वयःपिण्डरूप रस का नाम है यजुर्वेद, एवं वयोमहिमारूप वितान का नाम है सामवेद, एवं यही है छन्दो-रस-वितानात्मिका ऋक्-यजुः-साम--लक्षणा तत्त्वात्मिका वेदत्रयी, जिसका विज्ञान ही 'सृष्टिविज्ञान' का चिरन्तन इतिवृत्त बना हुआ है** । ऋग्वेदात्मक छन्द, किंवा छन्दोरूप ऋग्वेद ही भूतपदार्थ की **आकृति** है, यही

सर्वाधारात्मक **आवपन** है, यही **वयोनाध** है, और इसी का नाम है **'काल'** । यजुर्वेदात्मक रस, किंवा रसरूप यजुर्वेद ही स्वयं भूतपिण्ड है, यही आकृति से आकारित भूतप्रधान स्पृश्यपिण्डात्मक वय है, और इसी का नाम है–'दिक्' । सामवेदात्मक वितान, किंवा वितानरूप सामवेद ही प्राणात्मिका भूतमहिमा है, यही दृश्यमण्डलात्मक 'वय' है, और इसी का नाम है–'देश' । यों **ऋक्–यजुः–साम–रूप–छन्दः–रसः–**वितानं–रूप से तत्त्वात्मक तीनों वेद ही व्यवहारभाषा में क्रमशः **काल–दिक्–देश**–नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं ।

११०-सर्वसामान्यानुभूता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं तत्त्वानुगता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूपोपक्रम—

सर्वसामान्य में 'दिक्' का अर्थ पूर्व-पश्चिम–उत्तर-दक्षिणादि दिशाएँ हैं, देश का अर्थ भारतभूमि–इंग्लैण्डभूमि–अमेरिकनभूमि–रूसभूमि–आदि रूप से तत्तद्भूप्रदेश हैं, एवं कालशब्द से प्रातः–मध्याह्न–सायं–वर्त्तमान–भूत–भविष्यत्–अहोरात्र–मास–पक्ष–अयन–ऋतु–सम्वत्सर–युग–शताब्दि–सहस्राब्दि–आदि आदि समय–विभाग परिगृहीत हैं । इस लोकमान्यता के अनुसार वस्तुपिण्ड तो 'देश' बन रहा है, एवं वस्तु-पिण्ड के पूर्व–पश्चिमादि सीमाभाव 'दिक्' प्रमाणित हो रहे हैं, एवं सीमाभावात्मक दिग्रूप, एवं वस्तुपिण्डात्मक देशरूप, दोनों रूपों का क्रमसिद्ध भोगात्मक समय ही 'काल' प्रमाणित होरहा है । "अमुक देश अमुक सीमा में है, एवं अमुक देश अमुक समय से समन्वित है", इत्यादि सुप्रसिद्ध लोकव्यवहार स्पष्ट ही **काल–दिक्–देश**–भावों से **समय-दिशाएँ**, एवं **भूतपिण्ड**-इन भावों के संग्राहक बन रहे हैं । इधर हम त्रयीवेद के आधार पर किसी अचिन्त्या–अप्रतर्क्या–सर्वतः परिव्याप्ता छन्दोरूपा सीमा को तो 'काल' कह रहे हैं, लोकव्यवहारानुगत देशात्मक वस्तुभूतपिण्ड को दिक् कह रहे हैं, एवं स्थूलबुद्धि से पराक् बने रहने वाले उस महिमामण्डल नामक अप्रतर्क्य प्राणात्मक तत्त्व को 'देश' कह रहे हैं, जिस महिमामण्डल का स्वरूप भी लोकप्रज्ञा के लिए अचिन्त्य ही बन रहा है । अतएव यह आवश्यक होजाता है कि, काल–दिक्–देश–भावों से सम्बन्ध रखने वाली उक्त लोकमान्यता के विमोहन को उपशान्त करने के लिए शास्त्रीय–आस्था का ही आश्रय ग्रहण कर लिया जाय, जिसके बिना लोकव्यामोहन का पलायन असम्भव ही बना रहता है । तीनों में से 'काल' को अभी हम थोड़ी देर के लिए तटस्थ मान लेते हैं, एवं शेषभूत दिक्–देश–भावों की शास्त्रीया तत्त्वपरिभाषा को ही लक्ष्य बना रहे हैं ।

१११—दृश्यजगत्, एवं स्पृश्यजगत् का पार्थक्य, तथा तदनुबन्धी समानधर्म्म—

सामने रक्खे हुए पदार्थ को देख कर, जान कर ही हमें पदार्थ के देश का स्वरूपबोध होता है । ज्ञात होता है कि, अमुक पदार्थ का आकार ऐसा है, गुण–रूप–नाम–कर्म्म–आदि ऐसे हैं । "इन आकार–गुण–रूप–नाम–कर्म्मादि भावों की समष्टि ही पिण्डात्मक देश है", ऐसी मान्यता है सर्वसाधारण की, जो दृष्टिमूलक प्रत्यय की तात्कालिक भावुकता के लिए मान्य कही जा सकती है । किन्तु तत्त्वदृष्टि से यह मान्यता निरी मान्यता ही प्रमाणित हो जाती है उस समय, जबकि हमाही प्रज्ञा में यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण समाविष्ट हो जाता है कि–**"जिस पदार्थ का हम हाथ से स्पर्श कर सकते हैं, उसे आँखों से कभी देख नहीं सकते । एवं जिस पदार्थ को हम आँखों से देख सकते हैं, उसका कभी हाथ से स्पर्श नहीं कर सकते ।"**

वर्त्तमानभाषानुसार-"जिसे छू सकते हैं, उसे देखा नहीं जासकता, एवं जिसे देखा जासकता है, उसे छुआ नहीं जासकता" । दृश्यजगत् पृथक् वस्तुतत्त्व है, एवं स्पृश्यजगत् पृथक् वस्तुतत्त्व है । और इस रहस्य को समझने के लिए उस सजातीय धर्म्म को लक्ष्य बनाना आवश्यक हो जाता है, जिसके माध्यम से दृश्य-स्पृश्य के भेद का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

११२-सौर-चाक्षुष-प्राणों की सजातीयता, चक्षुरनुबन्धी दृश्यजगत्, एवं शरीरानुबन्धी स्पृश्यजगत्—

दृष्टि (दर्शन--देखने) का माध्यम बनती है चक्षुरिन्द्रिय, एवं स्पृष्टि (स्पर्श) का माध्यम बन्ता है हमारा भौतिक-स्थूलशरीर, तथा इसके हस्त-पाद-उरः-कण्ठ-वक्ष-आदि स्थूल भौतिक अवयव । चक्षुरिन्द्रिय का मूलाधिष्ठाता तत्त्व सौर प्राण है, जो सर्वथा अधामच्छद माना गया है । तभी तो चक्षुरिन्द्रिय में महतोमहीयान् भी दृश्य प्रतिबिम्बवत् खचित हो जाते हैं । चक्षुर्गोलक अवश्य ही धामच्छद है । किन्तु प्रज्ञामय चक्षुरिन्द्रियप्राण तो अपने प्राणधर्म्म से अधामच्छद ही है, जिसमें यच्चयावत् भौतिक दृश्य निर्विरोध समन्वित हो जाते हैं । ठीक इसके विपरीत पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर, एवं इसके स्थूल शरीरावयव, दोनों का मूलप्रभव वह पार्थिव महद्भूत है, जो सर्वथा धामच्छद (जगँह रोकने वाला) है । पार्थिव भूत, और पार्थिव शरीर, दोनों समानधर्म्मा हैं, एवं सौरप्राण और चक्षुप्राण (चक्षुरिन्द्रिय), दोनों समानधर्म्मा हैं । अतएव स्पष्ट है कि, चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध समानधर्म्मा प्राणात्मकभाव से ही हो सकता है, एवं शरीर का सम्बन्ध समानधर्म्मा भूतात्मकभाव से ही हो सकता है । अतएव यह भी स्पष्ट है इसी समानधर्म्मानुबन्ध से कि, चक्षु से सम्बन्धित 'दृश्य' का भौतिक शरीर के स्पर्श से कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं शरीर से सम्बन्धित स्पृश्य का चक्षुरिन्द्रिय के दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है । हमारी लोकप्रज्ञा अभी समझ नहीं सकी इस समन्वय को ।

११३-दृश्यमण्डलों की विदूरता से अनुप्राणिता चाक्षुषी दृष्टि में तारतम्य, एवं तदाधारेण--दृश्य-स्पृश्य--भावों का समन्वय—

तो हमें अब यह कहना पड़ेगा कि, सम्मुख रक्खे एक भूतपिण्ड को हमारी आँखें तभीतक देख सकतीं हैं, जबतक कि वह वस्तुपिण्ड हमारी आँखों से आपेक्षिक दूरी पर ही विद्यमान रहता है । यदि वस्तुपिण्ड के साथ आँखों का स्पर्श करा दिया जायगा, तो तब भी उसका साक्षात्कार न हो सकेगा (अतिसान्निध्यात्) । यदि अपेक्षित दूरी से वह वस्तुपिण्ड अधिक दूर हो जायगा, किंवा हमारी आँखें अधिक दूर चलीं जायँगी, तब भी वस्तुपिण्ड हमें नहीं दिखलाई देगा (अतिदूरात् *) । अमुक नियत-अपेक्षित विदूरता के माध्यम से

---

* अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहाराच्च ॥
सौक्ष्म्यात्-तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्य्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्य्यं प्रकृति-सरूपं विरूपं च ॥

—सांख्यकारिका ७।८,

ही चक्षुरिन्द्रिय पुरोऽवस्थित पदार्थ को देख सकेगी, जबकि पदार्थ के स्पर्श करने में शरीर को पदार्थ के निकटतम लेजाना आवश्यक होगा, अथवा तो पदार्थ को शरीर के निकटतम ले आना आवश्यक होगा। इस सहज स्थिति को सम्मुख रखिए, और इसी आधार पर अब अपनी लोकप्रज्ञा से ही दृश्य-स्पृश्य-भावों के उक्त पार्थक्य का समन्वय कीजिए।

११४-भूतज्योतिरनुबन्धिनी चाक्षुषी दृष्टि, तदाधारभूत 'प्रति-अक्ष' भाव, एवं तन्मूलक 'प्रत्यक्ष' शब्द का समन्वय—

प्रज्ञाप्राणगर्भित भूतज्योतिर्म्मय सौर आलोक ही लोचनेन्द्रिय में अवलोकनधर्म्म प्रदान करता **है**, जिस अवलोकनधर्म्म का मूलाधार प्राणगर्भित आलोक ही बन रहा है। अतएव सौर, किंवा तत्प्रवर्ग्यांशभूत-वैद्युत-चान्द्र-नाक्षत्रिक-आग्नेय-तैलदीपादि आलोकों में से किसी भी एक आलोक के माध्यम से ही भौतिक पदार्थों का साक्षात्कार (अवलोकनात्मक दर्शन) सम्भव बना करता है चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा, जिसका सीधासा अर्थ यही है कि, आलोकरश्मियाँ भूतपिण्ड के साथ सङ्क्रान्त होकर तदाकार में परिणत हो जातीं हैं। तद्वस्त्वाकाराकारिता आलोकरश्मियों का आगे जाकर वस्त्वाकाररूपेणैव प्रतिफलन होता है। इन प्रतिफलित-रश्मियों के साथ जब भी चाक्षुष-रश्मिमण्डल का सम्बन्ध हो पड़ता **है**, तत्काल वस्तुस्वरूप का दर्शन उदित होपड़ता है। और यों रश्मिप्रतिफलनप्रक्रिया ही **'प्रति-अक्ष'** भावानुबन्ध से 'प्रत्यक्ष' को जननी बन जाती है। 'प्रत्यक्ष' शब्द का 'प्रति' उपसर्ग प्रतिफलन का संग्राहक है, एवं 'अक्ष' शब्द चाक्षुष-मण्डल का संग्राहक **है**। इस विवेचन से हमें यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि, हमें वस्तुपिण्ड नहीं दिखलाई देता। अपितु वस्तुपिण्ड से संलग्न वस्त्वाकाराकारित आलोकमण्डल ही दिखलाई देता है। किंवा आलोकरश्मिमय वस्त्वाकार ही हम देखते हैं, जो मूलवस्तुपिण्ड से सर्वथा विभिन्न ही वस्तुत्त्व है।

११५-दृश्यमण्डलानुगत सापेक्ष अणु-महान्-भाव, एवं नियताकाराकारित वस्तुपिण्ड, तथा दृश्यमण्डल-स्पृश्यपिण्ड का पार्थक्य -

अब प्रश्न इस सम्बन्ध में यही शेष रह जाता है कि, आलोकमण्डल स्वयं ही वस्त्वाकार है ?, अथवा इस मण्डलात्मक आकार का वस्तुपिण्डमात्राओं से भी कोई सम्बन्ध है ?। उत्तर स्पष्ट है। जिसप्रकार सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-अग्नि-दीप-आदि ज्योतिर्म्मय पदार्थों से रश्मिमण्डल उदित हो रहे हैं, तथैव प्रत्येक भौतिक पदार्थ से प्राणात्मक रश्मिमण्डल अपना अपना स्वतन्त्र महिमामण्डल बनाए हुए है। आलोकमण्डल चक्षुरिन्द्रिय को सहयोगमात्र देता है। कदापि यह स्वयं वस्तु का आकार नहीं बनता। वस्त्वाकार तो तद्वस्तु का अपना प्राणमण्डल ही बना हुआ है और यही प्रातिस्विक वस्तुप्राणमण्डल आलोक की सहायता से चक्षुरिन्द्रिय के प्रत्यक्षज्ञान का मूलाधार बनता है। वस्तुपिण्ड के केन्द्र से संस्पृष्ट वस्तुमण्डल में मण्डल के उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने से मण्डलभुक्त वस्तुमूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जातीं हैं। अतएव ज्यों ज्यों हम वस्तुपिण्ड से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों वस्तुमूर्त्ति छोटी बनती जाती है, किंवा छोटी प्रतीत होने लगती **है**। यह सापेक्ष अणु-महान्-भाव भी यही प्रमाणित कर रहा है कि, वस्तु का दृश्यमण्डल पृथक् वस्तुतत्त्व है, एव स्पृश्यपिण्ड पृथक् वस्तुतत्त्व है। तथा दर्शन दृश्यमण्डल का ही होता है, और स्पर्श स्पृश्यपिण्ड का ही होता है। यदि मूलभूत वस्तुपिण्ड का ही दर्शन होता, तो कदापि एक ही वस्तु छोटी बड़ी नहीं दिखलाई देती।

११६–'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक अन्तर्जगत्, पदार्थों के सत्तासिद्ध–भातिसिद्ध–उभयसिद्धरूप तीन विवर्त्त, एवं भातिसिद्ध पदार्थों की महती अभ्व–यक्ष–रूपता–

अन्यदपि महदाश्चर्य्यम् । वस्तुपिण्ड से सम्बद्ध वस्तुमण्डल ही हमारे लिए दृश्य बनता है, यह कथन भी भावुकता का संरक्षकमात्र ही माना जायगा 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक 'अन्तर्जगत्' की दृष्टि से, जिस के सम्बन्ध में प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए अभी यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि–पदार्थप्रपञ्च क्रमशः सत्तासिद्ध–भातिसिद्ध–उभयसिद्ध–भेद से तीन वर्गों में विभक्त है । ईश्वर–आत्मा–प्राण–आदि कतिपय पदार्थ शुद्ध सत्तासिद्ध है, जिन का इन्द्रियों से साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है । पूर्व–पश्चिमादि दिग्भाव, दूरत्व–अपरत्व–गुरुत्व–उर्ध्व–अधः–तिर्य्यक्–लम्ब–चतुष्कोण–षट्कोण–आदि भाव केवल भातिसिद्ध पदार्थ हैं, जिन की प्रतीतिमात्र तो व्यवहारजगत् में हो रही है, किन्तु जो सत्ता से असंस्पृष्ट हैं । ये भातिसिद्ध पदार्थ व्यवहार में अहोरात्र उपयुक्त होते हुए भी इन्द्रियातीत, किंवा इन्द्रियों से अग्राह्य हैं । कदापि–पूर्व–पश्चिमादि दिग्भावों का किसी भी इन्द्रिय से साक्षात्कार, किंवा ग्रहण–सम्भव नहीं है, एवं यही इन–भातिसिद्ध पदार्थों की महदाश्चर्य्यता है । अतएव श्रुति ने इन का साङ्केतिक नाम रख दिया है–**'महान् अभ्व'–'महान् यक्ष'** ।

११७–उभयसिद्ध पदार्थों का स्वरूप–परिचय, एवं स्वदृष्ट पदार्थों का स्वसृष्टित्व––

अब तीसरा वर्ग वह है, जो सत्ता से भी सिद्ध है, एवं जिस की भाति (प्रतीति) भी हो रही है । इन्द्रियगम्य–इन्द्रियग्राह्य घट–पट–मठ–सूर्य्य–चन्द्र–नक्षत्र–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–पर्वत–नद–समुद्र–ओषधि–वनस्पति–आदि आदि पदार्थ इस 'उभयसिद्ध' वर्ग में हीं समाविष्ट हैं । इन उभयसिद्ध इन्द्रियग्राह्य–भूत–भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में हीं स्पृश्य, तथा दृश्य–भावों का विचार प्रक्रान्त है । वस्तुपिण्ड को हमने स्पृश्य–पिण्ड कहा है, एवं वस्तुमण्डल को दृश्यमण्डल कहा है । और स्पष्ट किया है कि, दोनों में से वस्तुमण्डल ही दृश्य बनता है । अब ठीक इस के विपरीत इन उभयसिद्ध पदार्थों के 'भाति' भाव की मध्यस्थता से हम यह कहेंगे कि, वस्तु का मण्डल भी दृश्य नहीं बन सकता । वह तो सत्तासिद्ध अपने वस्तुस्वरूप में हीं अन्तर्भूत है । हम जिस मण्डलात्मक वस्तु को देखते हैं, वह तो हमारे मानस्–प्रज्ञान का हीं स्वरूप है । अर्थात्–हमें जो कुछ अपनी इन्द्रियों से दिखलाई देता है, उस सम्पूर्ण ऐन्द्रियक-वितान के स्रष्टा तो स्वयं हम हीं (हमारा मानस–प्रज्ञान ही) है, जैसाकि–"**तं यथा यथोपासते-तथैव भवति, श्रद्धामयोऽयं पुरुषः (प्रज्ञानात्मा-मनः-इन्द्रियाध्यक्षः)–यो यच्छ्रद्धः स एव सः**" इत्यादि–श्रुति–स्मृति–वचनों से स्पष्ट है ।

११८-सत्तासिद्ध पदार्थों की अन्तर्जगदनुगतता, एवं मानवीय 'प्रत्यय' की सत्यरूपता का समन्वय—

सत्तासिद्ध वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आबद्ध सत्तासिद्ध वस्तुमण्डल तो तद्वस्तु का अन्तर्जगत् ही कहलाया है, जिसका साक्षी–स्प्रष्टा–द्रष्टा–मन्ता–बोद्धा तो तद्वस्तु का केन्द्रस्थ आत्मप्रजापति ही है । सत्तासिद्ध सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक विश्व उस विश्वेश्वर का ही अन्तर्जगत् है । जबकि एक मानव अपने से विभिन्न मानव के अन्तर्जगत्–(मानस–जगत्) का ऐन्द्रियक–प्रत्यय प्राप्त करने में असमर्थ है, तो भला वही मानव ईश्वरीय अन्तर्जगद्रूप महाविश्व का कैसे अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार कर सकता है ? । मानव तो केवल अपने अन्तर्जगत् के प्रति ही अपनी ऐन्द्रियक–अनुभूतियों–प्रत्यक्षादि–प्रतीतियों का साक्षात्कर्त्ता बना रह सकता

है, बना हुआ है । मानव के लिए तो मानव का अपना भातिमूलक 'प्रत्यय' ही 'सत्य' है, और यही अन्तर्जगत्–मूलक प्रत्ययैकसत्योपनिषत्–है । तदतिरिक्त तो इस के लिए सबकुछ अन्यथा ही बना रहता है ।

११९–अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य के सह समन्वय से 'प्रत्यय' का उदय, एवं प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्र का तन्तुवितानात्मक 'इन्द्रजाल'—

'अहं मनुरभवम्'–'अहं सूर्य इवाजनि'–'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'–'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'–'अहमेवाधस्तात्–अहमुपरिष्टात्'–'आत्मैवेदं सर्वम्'–'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि आर्ष वचन मानव की इसी आत्ममूला भातिविभूति का समर्थन कर रहे हैं । जो कुछ हम जानते, सुनते, देखते, और अनुभव करते हैं, सब के स्रष्टा हम हीं हैं, जिस इस भातिभूला सृष्टि में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (प्रज्ञानात्मा)–अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य–(इन्द्रियवर्ग), और विषयावच्छिन्न चैतन्य (सत्तासिद्ध ईश्वरीय अन्तर्जगत्), इन तीनों के समन्वय से, इन्द्रियों के द्वारा तत्कालरूपेण आविर्भूत, एवं आगे चलकर अन्तर्य्यामसम्बन्ध से मानस-प्रज्ञा-क्षेत्रमें भावना-वासना-संस्काररूप से दृढमूल बन जाने वाले भाव का नाम ही 'प्रत्यय' है, जो प्रत्यय ऐन्द्रियक-भावानुबन्धी प्रज्ञानेन्द्र के तन्तुवितान (रश्मिवितान) से लोकभाषा में 'इन्द्रजाल' नाम से प्रसिद्ध है, जिस इस 'इन्द्रजाल' शब्द के प्रज्ञाप्राणात्मक सत्तासिद्ध इन्द्रतत्त्व को, तथा तद्वितानमहिमारूप सत्तासिद्ध ही–'जाल*' भाव को सर्गविद्यानुबन्ध से समन्वित करने में असमर्थ दृष्टान्तवादी दार्शनिकोंनें 'मिथ्या' परक मानने की महती भ्रान्ति करडाली है । मानव की अपनी सत्तासिद्धा ज्ञान–क्रिया--अर्थ-शक्तियों के द्वारा प्रज्ञान-मनोमय इन्द्र के माध्यम से ईश्वरीय-सत्तासिद्ध विश्व के आधार पर वितत मानव का सत्तासिद्ध--अन्तर्जगत् ही 'इन्द्रजाल' शब्द का सहज अर्थ है, जिस इस इन्द्रजाल (प्रज्ञानमनोमय अन्तर्जगत्) के स्वरूप--बोध से ही मानव स्वस्वरूपबोध प्राप्त कर लिया करता है ।

१२०–प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रा-निबन्धन वस्तुदर्शनात्मक ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष, एवं-'मानवीय-प्रत्ययजगत्' की उभयसिद्धरूपता का समन्वय—

हाँ, तो उक्त विवेचन के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, सत्तासिद्ध, एवं स्वापेक्षया भातिसिद्ध, अतएव उभयसिद्ध ईश्वरीय अन्तर्जगद्रूप वस्तुपिण्ड, तथा वस्तुमण्डल के आधार पर स्वप्रत्यय से नवीनरूपेण आविर्भूत हो पड़ने वाला ऐन्द्रियक प्रत्यय ही मानवीय-'वस्तुदर्शन' कहलाएगा । न केवल दर्शन ही, अपितु मानवीय यच्चयावत् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष मानव के स्वयं के ही प्रज्ञा-प्राण–भूत–मात्राओं से ईश्वरीय–सत्याधार पर वितत समन्वित माने जायँगे । और यहाँ आकर यह निःसंकोच कह दिया जायगा कि, "वस्तुपिण्डानुगत वस्तुमण्डल भी दृश्य नहीं बन सकता । अपितु जिसे हम दृश्यादि कहते हैं–सब हमारे (मानव) ही ऐन्द्रियक-प्रत्ययमात्र हैं, जो प्रत्ययत्त्वेन भातिसिद्ध बनते हुए भी प्रज्ञाप्राणादि मात्रानुबन्ध से सत्तासिद्ध भी बने हुए हैं । अतएव ईश्वरीय जगत्-वत् मानवीय-प्रत्ययजगत् भी उभयसिद्ध ही प्रमाणित हो रहा है । सत्यमूर्त्ति विश्वेश्वरात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति–स्वरूप मानव भी यों सर्वात्मना सत्यमूर्त्ति ही बन रहा है"। यही सत्यमूर्त्ति विश्वेश्वर यदि ऋक्–यजुः- साम–अनुबन्ध से त्रिःसत्य

---

* य एको 'जालवान'--ईशत ईशनीभिः (श्वेता० उप० ३।१।)

है, तो मानव भी तदभिन्न ऋक्–यजुः–साम–रूप काल–दिक्–देश–भावानुबन्ध से त्रिःसत्य ही बना हुआ है। और–'सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति' (मानवसत्यं ईश्वरीय-सत्यस्यैव सत्यविवर्त्तम्। तच्च यत्र अव्ययब्रह्मणि समन्वितं भवति, तत्र प्राणात्मकाः सर्वे देवाः--प्राकृतभावाः--समत्त्वं गता भवन्ति, इति सैव मानवस्य जीवन्मुक्तिः)।

१२१–प्रत्ययाधारभूत दिक्–देश–प्रदेश–भावों का स्वरूप–समन्वय—

विचार प्रक्रान्त है दिक्, और देश–भावों के शास्त्रीय समन्वय का। इसी प्रसङ्ग में वयोरूप वस्तुभाव के **वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल**–इन दो विवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाले स्पृश्य–दृश्य–भावों के प्रसङ्ग से सत्ता–सिद्धादि प्रत्ययभावों का प्रसङ्ग समाविष्ट हो पड़ा। भूतमय वस्तुपिण्ड ही शास्त्रीय भाषा में दिक् है, जब कि लोकव्यवहार में इसे 'देश' कहा जाता है। एवं प्राणमय वस्तुमण्डल ही शास्त्रीय दृष्टि में 'देश' है, जबकि लोकप्रज्ञा इससे सर्वथा अपरिचित ही है। मानवीय दृश्यजगत् का आधार सत्तासिद्ध यह वस्तुमण्डल ही (आलोक के माध्यम से) बनता है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। हम जिस वस्तुमूर्त्ति को देखते हैं, वह इस महिमामण्डल का ही प्रत्यंशभाव है, जो प्रत्यंशभाव वस्तुतः महतोमहीयान् है। इसीके माध्यम से हमारे दृश्य में दृष्ट वस्तु के आचारादि–देशभाव अभिव्यक्त होते हैं। जिसे हम वस्तु का देश कहते हैं, किंवा प्रदेश कहते हैं, वह यह दृश्यमण्डलात्मिका प्राणमयी मूर्त्ति ही है। अतएव हमारे दृश्यमण्डल, किंवा दृश्यमूर्त्ति के आधारभूत ईश्वरीय उस दृश्यमण्डल को लाक्षणिक विधि से हम अवश्य ही 'देश' कह सकते हैं, जो ईश्वरीय वस्तुपिण्ड से अनुगत है। इस देशभाव का दिशा–बिन्दु क्योंकि वस्तुपिण्ड ही बनता है। अतएव वस्तुपिण्ड को इस दृष्टि से अवश्य ही 'दिक्' कहा जा सकता है, जो कि दिक्–शब्द पूर्वादि दिशाओं का संग्राहक न होकर यहाँ वस्तुस्वरूपसमाप्ति–अवसानभूमि का ही संग्राहक बन रहा है। अतएव भारतीय–शास्त्र--परिभाषा में समाप्तिभाव की सूचना के लिए–'**इति दिक्**' इत्यादिरूप से 'दिक्' शब्द का ही समावेश हुआ है। अनन्त–महिमामण्डलात्मक दृश्यमण्डलरूप प्राणमण्डल ही अनन्त--देश है, जिसका पर्य्यवसान वस्तुपिण्ड पर ही हो रहा है। अतएव वस्तुमण्डलरूप देश का दिग्भाव वस्तुपिण्ड ही बन रहा है। इसी दिक् से मण्डल का उपक्रम है, एवं इसी दिक् के केन्द्र पर मण्डल का पर्य्यवसान है। एवं इसी तत्त्वदृष्टि से यहाँ हमने वस्तुपिण्ड को तो दिक् कहा है, एवं वस्तुमण्डल को देश कहा है। क्योंकि देशप्रतीति का एकमात्र अवलम्ब प्राणात्मक यह वस्तुमण्डल ही बना हुआ है।

१२२–छन्द–वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल–रूप से काल–दिक्–देश–भावों का समन्वय—

वस्तुमण्डल (प्राणमण्डल) देश है, वस्तुपिण्ड (भूतपिण्ड) दिक् है। अब शेष रह जाता है काल, जिसे पिण्ड–मण्डल–रूप वय को सीमित करने वाला 'वयोनाध' ही कहा जायगा विज्ञानभाषा में। अब एक दूसरे दृष्टिकोण से काल–दिक्–देश--भावों का समन्वय कीजिए। अवसानभूमि ही दिगर्थ है। एवं वस्तुपिण्ड का बहिःसीमाभावात्मक छन्द ही वयोनाध है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। वस्तुपिण्ड में आकृति, और आकृति से सीमित स्वयं वस्तुपिण्ड, ये दो भाव प्रत्यक्ष हैं। आकृति वह भाव है, जो पिण्ड के चारों ओर वर्त्तुल (गोल)–त्रिकोण--चतुष्कोण–षट्कोण–अष्टकोण–आदि भावों से प्रत्यक्षतम है। इन विभिन्न आकृतिभावों से समन्वित विशेष गुण–धर्म्मादि से युक्त क्षरात्मक वस्तुभाव ही वस्तुपिण्डभाव है। वस्तुपिण्डभाव

पर आँखे मींच कर हाथ फिराते जाइए। सब ओर फिराते जाइए। जहाँ–जहाँ आप के हाथ अपनी इस क्रिया से उपशान्त होते जायँगे, वही वही भाव पिण्ड के आकार का संग्राहक बनता जायगा। और यों अन्त–तोगत्वा पिण्ड के अवसानात्मक प्रान्तों के सर्वात्मना संग्रहीत हो जाने पर पिण्ड का आकार आप की प्रज्ञा में खचित हो पड़ेगा। अतएव कहा, और माना जायगा कि, वस्तुपिण्ड का बाह्य आकार ही वस्तुपिण्ड की अवसानभूमि है। सम्भवतः इसी आधार पर (सृष्टिसर्गव्याख्याओं की छन्दोमयी परिभाषाओं से अपरिचित) दार्शनिकोंनें अवसानभावसंग्राहक इस आकृतिभाव को 'अभाव' नाम दे डाला है। अतएव च इन्होंनें अभाव को भी भावस्वरूप के प्रति कारण मानलिया है। यच्चयावत् पदार्थों का अभाव, एवं वस्तुभाव का अव–सानात्मक अभाव ही इनकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तुभाव का का जनक बना हुआ है, इति नु महतीयं भावुकता दार्शनिकानां छन्दःस्वरूपपराङ्मुखानाम्।

१२३-छन्दोमयी ऋक्, तद्रूपा दिक्, पिण्डरूप यजुः, तद्रूप देश, मण्डलरूप साम, एवं तद्रूप काल--

अवसानभाव ही 'दिक' है पूर्वपरिभाषानुसार। अतएव अब इस दूसरे दृष्टिकोण से हम छन्दोरूप–वयोनाध को (जिसे कि पूर्वदृष्टिकोण में 'काल' कहा गयाथा) **'दिक्'** ही कहेंगे। इस छन्दोरूप–बाह्याकृतिरूप–वयोनाध से ही वस्तु की दिशा का परिचय उपक्रान्त होता है। छन्दोरूप इस दिग्भाव (आकृतिरूप वयोनाध--भाव) से परिगृहीत वस्तुपिण्ड को ही अब 'देश' कहा जायगा अपने भौतिक--धामच्छद धर्म्म से, जिसके अवान्तर विवर्त्त ही **'प्रदेश'** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रदेशता ही वस्तुपिण्ड की देशता का आधार बनी हुई है। देशाधार पर ही तो प्रदेशकल्पना सम्भव है। अब शेष रह जाता है वस्तुमण्डलात्मक प्राणमण्डल। छन्दोरूप दिग्भाव जहाँ ऋक् है, छन्द से छन्दित देशभाव जहाँ यजुः है, वहाँ महाछन्दोमय प्राणभाव ही वितानभावात्मक साम है। मण्डल का वितानसाम से, पिण्ड का रसयजुः से, एवं वयोनाध का छन्दोमयी ऋक् से ही क्रमिक सम्बन्ध है। तीनों में से तीसरे महिमामय--प्राणमण्डल के गर्भ में ही देशात्मक वस्तुपिण्ड, एवं दिगात्मक वस्त्वाकार--दोनों प्रतिष्ठित हैं। सुविशाल--उरु--अन्तरिक्षरूप प्राणमण्डलात्मक महिमामण्डल के गर्भ में ही दिक्--देशात्मक वस्तुभाव अन्तर्गर्भित बनते हुए अपने षड्भावविकारों से समन्वित रहते हैं। अतएव इस प्राणमण्डल को अवश्य ही सर्वाधार (दिक्--देशाधार) कह सकते हैं, जो कि अपने अमूर्त्त–अव्यक्त–प्राण–धर्म्म से सर्वथा ही दुरधिगम्य बना हुआ है। और यही वह अमूर्त्त--अनन्त--काल है, जिसे ब्रह्म का महि--मात्मक प्रतीक मान लिया है महर्षियोंनें। तभी तो अनन्तकाल ही दृष्टान्तविधि से अत्र प्रक्रान्त बना हुआ है।

१२४-काल की दिग्रूपता. दिक् की देशरूपता, एवं देश की प्रदेशरूपता, तथा दिग्--देश-प्रदेश-भावों की कालात्मकता—

इदमत्र विशेषरूपेण अवधेयम्। जिसे दिग्रूप छन्द कहा है, वह व्यक्त वस्तुपिण्डापेक्षया व्यक्त बनता हुआ भी अपने प्रातिस्विक स्वरूप से अव्यक्त ही है। और यह पिण्डसीमा ही उस प्राणात्मिका कालरूपा महासीमा के रूप में वितत हो रही है। किंवा उसी महाकाल–अनन्त--अव्यक्त–प्राणमूर्त्ति–अमूर्त्तकाल का ही व्यक्तरूप व्यक्तकाल है, जिसे वस्तुपिण्ड का 'दिक्' मान लिया गया है, जबकि पूर्वदृष्टिकोण में इसी को

'काल' कहा गया है। निष्कर्षत: काल ही दिक् है, और काल ही दिग्रूप वस्तुभाव है, काल ही देशरूप वस्तुपिण्ड है, एवं काल ही प्राणमण्डलात्मक अमूर्त्तभाव है। यों छन्दोरूप काल ही क्रमश: व्यक्तकाल--दिक्--देश--भावों में परिणित हो रहा है। निम्न लिखित परिलेखों के माध्यम से उक्त दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय किया जासकता है।

(१) प्रथमदृष्टिकोणानुगतः--परिलेखः---

१	२	३
छन्दोवेदः	रसवेदः	वितानवेदः
ऋग्वेदः	यजुर्वेदः	सामवेदः
वयोनाधः	स्पृश्य-वयः	दृश्य-वयः
आवपनम्	भूतपिण्डः	प्राणमण्डलम्
कालः	दिक्	देशः

(२) द्वितीयदृष्टिकोणानुगतः--परिलेखः—

१	२	३
छन्दोवेदः	रसवेदः	वितानवेदः
पिण्डाकृतिः	पिण्डः	मण्डलम्
भूतछन्दः	व्यक्तछन्दः	प्राणछन्दः
अन्तर्म्महिमा	मध्यमहिमा	बहिर्म्महिमा
काल एव	काल एव	काल एव
दिक्	देशः	कालः

(३)–समष्टिदृष्ट्यात्मकः–परिलेखः–

	१	२	
१–छन्दः––वयोनाधात्मकः-ऋग्वेदः-आवपनम् (वस्त्वाकृतिः)—	कालः–	दिक्	सर्वमिदं वयुनेव
२–रसः––वयः–––यजुर्वेदः––भूतानि (वस्तुपिण्डः)—	दिक्–	देशः	
३-वितानम्-वयः–––सामवेदः––प्राणः (वस्तुमहिमा)—	देशः––	कालः	

१२५–'सहस्रधा महिमानः सहस्र' रूप असंख्य मूर्त्तिभाव––

अब एक सर्वथा नवीन तीसरे दृष्टिकोण से दिग्–देश–काल–भावों का समन्वय उपस्थित हो रहा है। स्पृश्य–दृश्य–भावों का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वस्तुपिण्ड की केन्द्रप्रतिष्ठा को आधार बना कर केन्द्रप्रतिष्ठात्मक अमूर्त्त–अधामच्छद प्राण ही वस्तु के महिमामण्डलस्वरूप में परिणत होता है। एवं इस महिमामण्डलात्मक महादेश की ही आलोकमाध्यम से प्रतीति हुआ करती है वस्तु के देशरूप से। इसी देशस्थिति के सम्बन्ध में हमें यह समझ लेना होगा कि, वस्तुपिण्ड का महिमामण्डल वस्तुपिण्ड के चारों ओर व्याप्त है, जिसकी व्याप्तिसीमा हीं-**'रथन्तरसाम'** कहलाया है। रथन्तरसामात्मक महिमामण्डल वैसा महादेश है, जिस में वस्तुपिण्ड के मूर्त्तिभावों का आनन्त्य विद्यमान है। मानवदृष्टि कदापि एककाल में सर्वात्मना इस महिमादेश का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है। अपितु मानवदृष्टि का समबन्ध तो महिमामण्डलदेश के एक प्रत्यंशमात्र से ही हुआ करता है। **देश, देश का अंश, और इसका भी प्रत्यंश'** इस कथन का स्वारस्य तो **'सहस्रधा-महिमानः-सहस्र'**-लक्षण अनन्त-मूर्त्तिभावों से ही सम्बद्ध है।

१२६–वस्तुपिण्डाधारभूत दृश्यमण्डल की 'षड्दर्शनता' का समन्वय, एवं महादेश–अल्पदेश–भावों का स्वरूप–तारतम्य––

वस्तुपिण्ड के आधार पर वितत महामण्डल का स्वरूप सहस्र साममण्डलों से हुआ है। क्योंकि मण्डलवितानात्मक सामवेद सहस्रवर्त्मा है। सहस्ररश्मिरूप सहस्रमण्डल की प्रत्येक मण्डलरश्मि पुनः आगे जाकर सहस्र–सहस्र रूप में वितत हो जाती है। यों १ के सहस्र महिमात्मक मूर्त्तिभाव आविर्भूत हो जाते हैं उस एक महिमामय महाप्राणमण्डलात्मक महादेश में। महामण्डल यदि महादेश है, तो इसके सहस्र मण्डल देश हैं। एवं इन सहस्रों के सहस्र भाव इस दशा में माने जायँगे प्रदेश, जिसे एक मण्डलात्मिका (प्रदेशात्मिका) एक मूर्त्ति माना जायगा। महादेश **'अंशी'** है, देश **'अंश'** हैं, तो प्रदेश **'प्रत्यंश'** है, जिसके भी एक अंश का ही प्रत्यक्ष हुआ करता है। यों **'एकांशेन जगत्सर्वम्'** यह रहस्यात्मक अनुगमभाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। प्रत्यक्षानुगत मूर्त्तिभाव का आधार वह प्रत्यंश ही है, जिसके स्थूल मापदण्ड से भी न्यूनतम ६ अंश माने गए हैं। प्रत्येक वस्तु यदि प्रत्यंश है, तो इसके ६ विवर्त्त प्रत्यंशतम ही तो माने जायँगे। प्रत्यंशात्मक दृश्य वस्तुभाव के ६ चित्र ही उसके सम्पूर्ण प्रत्यंश के दर्शन के कारण माने जायँगे। अतएव 'दर्शन' (वस्तुस्वरूप–दर्शन) यहाँ–**'षड्दर्शन'** नाम से ही प्रसिद्ध हो पड़ा है। अभी हमें इस सूक्ष्म स्थितिभेद का विचार नहीं करना है। अपितु **महादेश,** और दृष्टिविषयभूत **स्वल्पदेश,** इन दो भावों के माध्यम से ही प्रक्रान्त तीसरे दृष्टिकोण का समन्वय कर लेना है।

१२७–दिग्–देश–काल-शब्दों का दृष्टिकोण–भेदनिबन्धन स्थानविपर्य्यय–

महादेशात्मक महामण्डल अचिन्त्य–अप्रतर्क्य है मानवप्रज्ञा के लिए अपने अत्यनपिनद्ध आनन्त्य के कारण, जिसे द्वितीय दृष्टिकोण में हमने अनन्त–अमूर्त–काल नाम से व्यवहृत किया है। अतएव 'देश' शब्दव्यवहार एकप्रकार से अनुपपन्न ही है इस अनन्तविभूतिरूप महान् प्राणमण्डल के सम्बन्ध में। इस महामण्डल का प्रत्यंशतमभावात्मक–दृष्टिपथानुगत–दृश्यमण्डलांश ही व्यवहार का माध्यम बनेगा, एवं इसी को 'प्रदेश' कहा जायगा। इसप्रकार दूसरे दृष्टिकोण में जिस महिमामय–दृश्यमण्डलात्मक प्राणमण्डल को हमने–'काल' कहा था, वही इस तीसरे दृष्टिकोण में अब अपने तथाकथित प्रत्यंशतमरूप से–'**प्रदेश**' ही कहलाने लगेगा, जिस इस प्रदेश का 'देश' माना जायगा अब वह वस्तुपिण्ड, जिसे हमने द्वितीय दृष्टिकोण में तो देश ही कहा था, किन्तु जो प्रथम दृष्टिकोण में 'दिक्' बना हुआ था। वस्तुपिण्ड यदि देश बन जायगा यहाँ, तो वस्तुपिण्ड का वयोनाधात्मक छन्द [पिण्डाकृति] दिक् बन जायगा, जो कि द्वितीय दृष्टिकोण में दिक् ही था, जोकि प्रथमदृष्टिकोण में 'काल' बना हुआ था। इसप्रकार छन्द--रस--वितान--रूप आकृति--पिण्ड--मण्डल--नामक तीनों भाव इस तृतीय दृष्टिकोण में क्रमशः **दिक्-देश–प्रदेश**--इन तीन भावों में परिणित हो जायँगे। शेष रह जायगा काल, जिसे अनन्त--अमूर्त्त--होने से अचिन्त्य ही कहा जायगा, जिसके सादि--सान्त--मूर्त्त--चिन्त्य तीन विवर्त्त ही क्रमशः दिक्-- देश--प्रदेश--माने गए हैं।

१२८–प्रदेश-प्रादेश-शब्दों का समन्वय, एवं प्रदेश शब्द का स्वरूप-निर्वचन –

उक्त दृष्टिकोण का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च की सामान्य संज्ञा है–'वयुन' (**सर्वमिदं वयुनम्**)। इस वयुन-भाव में '**वयोनाध**' और '**वय**'नामक दो विवर्त्त समन्वित हैं। इन में वयोनाध का ही नाम वस्तु का (वय का) आकार है, यही आकृति है, यही आयतन है, आवपन है, एवं आधार है। और छन्दोरूपा इस वयोनाधात्मिका आकृति पर हीं क्योंकि वय का पर्य्यवसान है। अतएव अव–श्य ही इसे–'दिक्' कहा जासकता है, जिस के माध्यम से वयोरूप वस्तु का दिशा–परिचय सम्भव बना करता है। दिग्रूप इस वयोनाध से सीमित वय नामक दूसरे विवर्त्त के आगे चलकर **पिण्ड**, एवं **महिमा-रूप** से पुनः दो विवर्त्त हो जाते हैं। इन में 'पिण्डवय' स्पृश्यभाव का आधार बनता है, एवं '**महिमावय**' दृश्यभाव का आधार बनता है। स्पृश्यानुगत पिण्डभाव ही **देश** है, एवं दृश्यानुगत महिमाभाव ही **प्रदेश** है। देश भूत–प्रधान है, प्रदेश प्राणप्रधान है। अतएव प्रदेशात्मक 'महिमामय' नामक मापदण्ड का प्राण के साथ ही समन्वय माना गया है। प्राणपरिमाण में प्रदेशात्मक प्रादेश ही संग्रहीत है, जैसाकि–'**प्रादेशमितो वै प्राणः**' इत्यादि से स्पष्ट है। भूतपिण्ड का ही नाम देश है, यही पारिभाषिक '**पदम्**' है। प्राणमण्डल ही प्रदेश है। क्योंकि इस प्राणमण्डलात्मक प्रदेश के माध्यम से ही पिण्डात्मक देश हमारी प्रतीति (प्रत्यक्ष) का विषय बनता है। यही पारिभाषिक '**पुनःपदम्**' है। जबकि पिंडात्मक देश की प्रतीति मण्डलात्मिका प्राणमूर्त्ति के माध्यम से ही सम्पन्न होती है, तो अवश्य ही इस प्राणमूर्ति को भूतमूर्ति का पूर्वभाव–प्राग्भाव –प्रथमभाव कहा जा सकता है। इस प्राग्भावानुबन्ध से ही दृश्यरूप प्राणदेश 'प्रदेश' कहलाने लग पड़ा है। देशात्मक पिण्डभाव का, किंवा पिण्डात्मक देशभाव का पूर्वभाव-प्राग्भाव मण्डलात्मक प्राणमय देश ही है। अतएव इसे '**प्रदेश**' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। '**देशस्य--पिंडस्य वा मूर्त्तर्वा--प्राग्भाव एव प्रदेशः**' ही प्रदेश–शब्द का निर्वचनार्थ है।

१२६–वस्तुपिण्डात्मक स्पृश्य--देश की देशरूपता का, तथा वस्तुमण्डलात्मक दृश्य-देश की प्रदेशरूपता का समन्वय---

स्थितिभाव, एवं दृष्टिभाव, दोनों को लक्ष्य बना कर ही इस स्थिति का समन्वय करना चाहिए। स्थितिभाव की अपेक्षा से वस्तुपिण्ड आधार बना हुआ है प्राणमण्डलात्मिका वस्तु–महिमा का। क्योंकि रसात्मक पिण्ड के आधार पर ही वितानात्मक मण्डल का वितान हुआ है। इस स्थितिमूलक दृष्टिकोण से तो यही कहा जायगा कि, **"देश ही प्रदेश का आधार है, पिण्ड ही मण्डल का आधार है। अतएव च देश पूर्वावस्थित है, एवं प्रदेश पश्चात् अवस्थित है"**। इस दशा में प्रदेश के 'प्र' उपसर्ग का अर्थ होगा'-**देश का प्रत्यंशभात्र**'। पिण्डात्मक पूर्वस्थित–आधाररूप–वस्तुपिडात्मक देश के एक प्रत्यंश का ही मण्डलरूप से–(बहिर्मूर्त्तिरूप–से) क्योंकि वितान होता है। अतएव उत्तरावस्थित–आधेयरूप–वस्तुमण्डलात्मक देश को 'प्रदेश' (प्रत्यंशात्मक देश) कहना सर्वथा अन्वर्थ मान लिया जायगा।

१३०–वस्तुमण्डल का पूर्वभावित्त्व, एवं वस्तुपिण्ड का उत्तरभावित्त्व--

दूसरा है दृष्टिभाव। पदार्थसाक्षात्कारक्षेत्रानुबन्ध से स्थिति पूर्वापेक्षया सर्वथा परिवर्त्तित हो जायगी। जब हम पदार्थों का प्रत्यक्ष करने लगते हैं, तो उस वस्तुदर्शनकाल में प्राथम्य प्राणमण्डलात्मिका महिमा–मूर्त्ति का ही होता है। दृष्टि का प्रथमावलम्ब मण्डल बनता है, एवं मण्डल के माध्यम से ही पिण्डात्मक देश का अनुमान हुआ करता है। यों दृष्टिप्रसङ्ग में मण्डल पूर्वभावी है, तो पिण्ड पश्चाद्भावी है। अतएव इस दृश्यस्थिति की अपेक्षा से पुनःपदरूप बहिर्मण्डलात्मक प्राणमण्डल को ही प्राग्भावत्त्वेन 'प्रदेशः' कहा जायगा, एवं–पश्चाद्भावत्त्वेन पदरूप भूतपिण्ड को ही देश कहा जायगा। और यहाँ 'प्रदेश' का अर्थ होगा–'पूर्वभावानुगतित्त्व', जबकि स्थितिभावानुबन्धन से प्रदेश के 'प्र' का समन्वय 'प्रत्यंश' भाव के द्वारा हुआ है, इति तत्त्वचिन्तकैर्मुकुलितनयनैरेवाकलनीयम्।

(३) तृतीय-दृष्टिकोणानुगतः परिलेखः—

१–छन्दः–वयोनाधः आकृतिः (आवपनम्)--वस्वाकृतिरेव—दिक् (दिगिति नु ऋग्वेदः)।	सर्वमिदं वयुनम्, क्रमात् काले प्रति-ष्ठितम्
२–रसः--पिण्डवयः–मूर्त्तिः (भूतम्)–वस्तुपिण्ड एव—देशः–(देशः–इति नु यजुर्वेदः)।	
३–वितानम्–मण्डलवयः--महिमा(प्राणः)--वस्तुमहिमैव—प्रदेशः--(प्रदेशः--इति नु सामवेदः)	

१३१ -दिक्-देश-प्रदेश--भावों को काल-दिक्-देश--रूपता--का समन्वय--

'वयुन' नामक वस्तुतत्त्व का मूलोपक्रम 'वयोनाध' माना गया है, जो कि 'छन्द' नाम से उपवर्णित है। वस्तुपिण्डात्मक रसमूर्त्ति यजुर्वेद, वस्तुमहिमात्मक वितानमूर्त्ति सामवेद, वयोरूप ये दोनों हीं 'तत्त्ववेद' छन्दोमूर्त्ति ऋग्वेद से ही प्रस्तुत हैं, जिस का उगद्गीथरूप यजुः माना गया है, एवं निधनरूप साम माना गया है। ऋगात्मक प्रस्ताव, यजुरात्मक उद्गीथ, सामात्मक निधन, इन तीनों वयुनविवर्त्तों में प्राथम्य, एवं प्राधान्य प्रस्तावानुगत–ऋगनुबन्धी छन्द का ही माना जायगा। छन्द को आधार बना कर ही रस, और वितानभाव क्योंकि

आविर्भूत हैं, उत्थित हैं, अतएव छन्द को इन दोनों का 'उक्थ' स्थान (प्रभवस्थान) कहा जासकता है। छन्द से उत्थित–प्रसूत–ये–दोनों ववोविवर्त्त छन्द के द्वारा ही, छन्द को आधार बना कर ही छन्द से ही धृत हैं स्वस्वरूप से। अतएव छन्द से धृत इन दोनों की अपेक्षा से छन्द को इन दोनों का 'ब्रह्म' स्थान (प्रतिष्ठा-आधारभूमि) कहा जा सकता है। छन्द से उत्थित, छन्द से धृत ये दोनों भाव छन्दःसाम्य से ही स्वपिण्ड, एवं महिमाभावों से समानभावानुबन्धी बने हुए हैं, जिस इस साम्य का अर्थ यही है कि, छन्दोमात्रा के माप–दण्ड से ही तो रसात्मक वस्तुपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होता है, एवं छन्दोमात्रा के अनुपात से ही वितानात्मक वस्तुमण्डल ऊर्ध्व वितत होते हैं। इसप्रकार छन्द अपने आकृत्यात्मक वाक्परिमाणात्मक–छन्दोरूप–मापदण्ड से दोनों में समभावापन्न बन रहा है। अतएव छन्द को इन दोनों का 'साम' स्थान कहा जासकता है। **"जो तत्त्व जिस वस्तुभाव का उक्थ–ब्रह्म–साम–बना रहता है, वही तत्त्व उस वस्तुभाव का आत्मा माना गया है"** इस सामान्य-परिभाषा के अनुसार जिसप्रकार सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थों का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण मृत्तिकातत्त्व सम्पूर्ण मृण्मय वस्तुपदार्थों का आत्मा है, तथैव वस्तुपिण्ड–वस्तुमण्डल–रूप दोनों वयभावों के उक्थ–ब्रह्म–साम–स्थानीय छन्द को अवश्य ही इनका 'आत्मा' माना जासकता है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि, छन्द तो छन्द है ही। साथ ही अपने उक्थ-ब्रह्म-साम-धर्म्मों से वस्तुपिण्डरूप यजुः भी छन्द ही है, तो वस्तुमहिमारूप साम भी छन्द ही है। यही छन्द वह अव्यक्त–अमूर्त्त–अनन्त–काल है, जिसके व्यक्त-मूर्त्त–सादिसान्त विवर्त्त ही तृतीय दृष्टिकोण में क्रमशः दिक्–देश-प्रदेश रूप से उपस्तुत हैं। छन्दोविवर्त्तात्मक कालविवर्त्त ही दिक् है। काल का व्यक्तीभाव ही दिक् है, दिक् का व्यक्तीभाव ही देश है, एवं देश की अभिव्यक्ति ही प्रदेश है। व्यवहारभाषा में–अनन्त–अमूर्त्त–छन्दःकाल के ये तीनों दिक्–देश–प्रदेश विवर्त्त ही क्रमशः **काल–(व्यक्त–मूर्त्तकाल) दिक्–देश** (प्रथम दृष्टिकोण से), किंवा **दिक्–देश–काल–** नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं। विश्वानुबन्धी सोपाधिक–सापेक्ष–इन दिग् देश–कालभावों का मौलिक–सत्तासिद्ध स्वरूप क्योंकि छन्दोवेदमयी त्रयीविद्या पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव जबतक तत्त्वात्मिका इस वेदत्रयी का स्वरूप यथावत् समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक दिग्–देश–कालात्मक विवर्त्तों का स्वरूपबोध कदापि समन्वित नहीं हो सकता। शब्दात्मक वेदशास्त्र की यच्चयावत् विद्याओं में तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का स्वरूप अत्यन्त ही दुर्बोध्य है। दूसरे शब्दों में वेद में–वेद का स्वरूप अत्यन्त ही दुरधिगम्य है अन्य विषयों की अपेक्षा। तभी तो वेदात्मक दिग्–देश–काल भी दुरधिगम्य बने हुए हैं अस्मदादि सामान्य जनों के लिए। इस दुरधिगम्यता की उपशान्ति के लिए तो स्वस्थता–प्रकृतिस्थता–पूर्वक अनन्या संविन्निष्ठा से पारिभाषिक-तत्त्वबोध–माध्यम से वेदस्वाध्याय में हीं प्रवृत्त होना चाहिए। प्रकृत में तो उस अपौरुषेया वेदत्रयी का संस्मरणमात्र ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

१३२-व्यक्तिमूला अभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला त्रयीविद्या, एवं तदनुबन्धी मूर्त्त-व्यक्त-भाव का स्वरूप-समन्वय—

सांसारिक–भूतभौतिक पदार्थ अपने अपने भौतिक स्वरूप की अभिव्यक्ति से अमुक सीमापर्य्यन्त 'व्यक्ति' नाम से व्यवहृत हो सकते हैं। व्यक्ति का अभिव्यक्तित्व ही व्यक्ति का वस्तुस्वरूप-परिचय माना गया है, जिस इस 'व्यक्तित्व'–स्वरूपाभिव्यञ्जिका वस्तुस्वरूपा अभिव्यक्ति के, किंवा 'व्यक्ति' के 'व्यक्तित्व' के (अभिव्यक्तित्व के) स्वरूपान्वेषण में जब हम प्रवृत्त होते हैं, तो त्रयीविद्या की ओर ही हमारा ध्यान आक–

र्षित हो पड़ता है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति का क्या स्वरूप ?, क्या अभिव्यक्त (प्रकट) होता है व्यक्ति के माध्यम से ?, यह सहज प्रश्न है, जिसका प्रारम्भिक उत्तर है **मूर्त्ति, आकार, आकृति**। सबसे पहिले वस्तु का आकार ही हमारे दृष्टिपथ में अभिव्यक्त होता है, जिस आकृतिभाव को व्यक्त–मूर्त्त–द्रव्य–की अपेक्षा से लोक में–'मूर्त्ति' कहा गया है, वेद में छन्द–**वयोनाध**–कहा गया है। यही वस्तु की प्रथमा (पहिली) अभिव्यक्ति है।

१३३–प्राणगतिरूपा क्रिया के सञ्चरण से अभिव्यक्तित्व में परिवर्त्तन, तन्मूलक अन्नोर्क प्राणान्योऽन्यपरिग्रहलक्षण नित्य यज्ञ, एवं यज्ञाधारभूत रसात्मक यजुः—

अब दूसरी क्रमसिद्धा अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाइए। मूर्त्तिमान् (आकृतिभावापन्न) पदार्थ (वस्तु–पिण्ड) में प्रतिक्षणविलक्षणभावापन्ना परिवर्त्तनात्मिका क्रिया की भी अभिव्यक्ति प्रतीत हो रही है। इस गत्यात्मक–क्रियात्मक–परिवर्त्तन के कारण हीं तो वस्तु में नूतन–पुरातन–जरात्त्व–आदि अवस्थाएँ क्रमशः अभिव्यक्त होतीं रहतीं हैं। यह अवस्थापरिवर्त्तन ही सर्वात्मना प्रमाणित कर रहा है कि, अवश्य ही प्रत्येक मूर्त्तिमान् वस्तुपिण्ड क्रियाशील है, गत्यात्मक है *। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, यह गतिभाव ही वस्तु की स्वरूपस्थिति का नियामक बना रहता है। गति ही वस्तु का जीवन है अपने आदान–विसर्गात्मक प्रवर्ग्य-ग्रहण–प्रवर्ग्यपरित्यागात्मक अन्नान्नादयज्ञ के द्वारा, जिस यज्ञ का लक्षण माना गया है–'**अन्नोर्क् प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः**'। प्राणगति से अन्न का आगमन होता है, अन्न अर्करूप में परिणत होता है, ऊर्क् प्राण–भाव में परिणत होता है, प्राण का क्रियामाध्यम से विस्रंसन होता है, अशनाया जागरूक हो पड़ती है। पुनः प्राण के द्वारा अन्नाकर्षण होता है। यों 'अन्न से ऊर्क्, ऊर्क् से प्राण, प्राण से पुनः अन्न, इस धारावाहिक चंक्रमणप्रक्रिया की आधारभूता क्रिया (प्राणगति) ही तो वस्तु की स्वरूपरक्षिका बनी हुई है। क्रियारूपा यही यज्ञवृत्ति पदार्थ की दूसरी अभिव्यक्ति है, जिसे लोकभाषा में क्रियागति–सञ्चरण–आदि कहा गया है, एवं यही वेदभाषा में '**रसात्मक यजुः**' कहलाई है।

१३४–केन्द्रस्थ यजुः–रस का ऊर्ध्व व्युदूहन, एवं तद्द्वारा मूर्त्ति-गति-तेजो-भावत्रयी का आविर्भाव—

अब क्रमप्राप्ता तीसरी अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाइए, जो अपने सूक्ष्म प्राणधर्म्म से सर्वसामान्य के लिए अप्रतर्क्या ही बनी रहती है। वस्तुपिण्डस्थ गत्यात्मक प्राणरस ही अपने प्राणनधर्म्म (ऊर्ध्वगमनधर्म्म) से वस्तुपिण्ड से बाहिर निकलता हुआ, किन्तु वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आबद्ध रहता हुआ परिमण्डल बनाता है। '**तमेतं रसं ऊर्ध्वं समुदौहन् प्रजापतिः**' इत्यादि भाव इसी प्राणमण्डल की ओर सङ्केत कर रहा है। इसी ऊर्ध्व–सुसूक्ष्म–वितानात्मक–वितानभावात्मक–प्राणरूप का ही नाम है–'**तेज**'। स्थूल का सूक्ष्मभाव ही 'तेज' की स्वरूप-परिभाषा है, जैसा कि '**तिज–निशाने**' धातु से स्पष्ट है। तीक्ष्णीकरण का नाम ही निशान-

---

* न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
—गीता

भाव है। स्थूलभूतपिण्ड का सूक्ष्म–सुतीक्ष्ण–प्राणरूपेण मण्डल में परिणत हो जाना हीं इस का तेजोभाव है। तेजोमय–रश्मिप्रसारात्मक–विकासभावात्मक–गतिमण्डलरूप–यह प्राणमण्डल ही **वितानात्मक सामवेद** कहलाया है, और यही व्यक्तिपदार्थ की तीसरी, और अन्तिम अभिव्यक्ति है। यों व्यक्ति का अभिव्यक्तित्त्व **मूर्त्ति-गति-तेजो**-रूप से त्रिधा विभक्त हो रहा है, जिन इन तीनों अभिव्यक्तिभावों के तात्त्विक स्वरूप ही क्रमशः **ऋक्-यजुः-साम**-कहलाए हैं।

१३५–मूर्त्ति-गति-तेजो-भावात्मिका ऋक्-यजुः-साम-त्रयी, एवं तत्समर्थन में भगवान् तित्तिरि का तात्त्विक वचन–

मूर्त्तिरूपा अभिव्यक्ति ही **छन्द** है, यही **ऋक्** है, यही **आकृति** है, और यही है **दिग्भाव**। **गति-रूपा** अभिव्यक्ति ही **'रस'** है, यही **'यजुः'** है, यही **वस्तुभाव** (**वस्तुपिण्ड**) है, और यही है **देशभाव**। एवं **तेजोरूपा** अभिव्यक्ति ही **'वितान'** है, यही **'साम'** है, यही **वस्तुमहिमा** (**वस्तुमण्डल**) है, और यही है–**'प्रदेशभाव'**। इन तीनों का सर्वाधारभूत अव्यक्त अमूर्त्तभाव ही कहलाया है–काल। शब्दात्मक मन्त्रों को ही 'वेद' मान बैठने वाले दार्शनिक अवश्य ही भौतिक वस्तुरूप मूर्त्ति-गति-तेजो-भावों को ऋक्-यजुः-साम-से समन्वित देखकर सहसा क्षुब्ध–आविष्ट हो पड़ेंगे हमारी इस समन्वयदृष्टि से। किन्तु उनकी प्रमाण-भक्ति के परितोष के लिए इस समन्वयदृष्टि का अक्षरशः स्पष्टीकरण करने वाले वेदशास्त्र का ही जब हम निम्नलिखित वचन उनके सम्मुख रख देंगे, तो निश्चयेन उनका भ्रान्तिमूलक आवेश सर्वथा ही उपशान्त होजायगा। और अगत्या उन्हें भी ऋक्-यजुः-साम की शब्दैकशरणता के व्यामोहन का परित्याग कर मूर्त्ति-गति-तेजो-भावों के साथ ही वेदत्रयी का समन्वय कर लेना पड़ेगा। मन्त्र **का** अविकल स्वरूप **है**----

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः–
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्–
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।६।१।

अयमत्र परिलेखः—

१–प्रथमा–अभिव्यक्तिरेव–वस्तुमूर्त्तिः (मूर्त्तिः)–छन्दः–ऋक्–आकृतिः (दिक्)	इयमेका–व्यक्तिः-तस्या–	अभिव्यक्तिः-त्रिविधा–	वेदमयी
२–द्वितीया-अभिव्यक्तिरेव-वस्तुगतिः (गतिः)-रसः-यजुः-पिण्डः (देशः)			
३–तृतीया-अभिव्यक्तिरेव-वस्तुवितानम् (तेजः)-वितानम्-साम-महिमा (प्रदेशः)			

१३६--मूर्त्तिस्वरूपसम्पादक ऋग्वेद की छन्दोवेदरूपता, एवं तन्मूला वेदत्रयी—

दिग्भावानुबन्धी छन्दोवेद (ऋग्वेद), देशभावानुबन्धी रसवेद (यजुर्वेद), एवं प्रदेशभावानुबन्धी वितानवेद (सामवेद), इन तीनों वेदभावों का इतिवृत्त ही दिग्–देश–प्रदेशात्मिका उस कालसृष्टि का इतिवृत्त है, जिसके समन्वय के लिए ही यह प्रासङ्गिक, किन्तु अनिवार्य्य वेदस्वरूपप्रकरण अत्र समाविष्ट हो गया है। अत्र इस सम्बन्ध में वेदस्वरूपदृष्ट्या किञ्चिदिव निवेदन कर तदनन्तर कालस्वरूपेतिवृत्त का उपक्रम होने वाला है। **मूर्त्ति-आकृति-आकार-आवपन--आयतन--आधार**–इत्यादि विविध अभिधाओं से अभिनीयमान, '**वयोनाध**' नामक पारिभाषिक सङ्केत से सङ्केतित, छन्दोवेदानुगत 'छन्दः' की क्या स्वरूप–महिमा है ?, प्रश्न के समाधान के लिए ही वेदत्रयात्मक 'छन्दोवेद' का स्वरूपोपबृंहण हुआ है ब्राह्मणग्रन्थों में। स्मरण रहे–यह उस छन्दोवेद का ही उपबृंहण है, जो प्रधानरूपेण ऋग्-रूप ही है। ऋग्रूप केवल छन्दोवेद ही अपने महिमाभाव से ऋक्--यजुः--साम--भेदेन त्रिपर्वा बन रहा है।

१३७–मूर्त्तिभावानुगत परिणाह–विष्कम्भ–हृदय--भावों का दिग्दर्शन—

वस्तुभाव में समन्वित मूर्त्ति (आकृति)–वस्तुपिण्ड--वस्तुमहिमा--इन तीन विवर्त्तों में से पिण्ड, और महिमारूप यजुः–तथा–साम, इन दोनों वेदभावों को तटस्थ मान लीजिए। एवं केवल ऋग्रूप मूर्त्तिभाव (आकारभाव) को ही लक्ष्य बना लीजिए, और इसीके माध्यम से छन्दोवेद के रहस्यपूर्ण स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। उदाहरण के लिए अपने सम्मुख एक वर्त्तुल (गोलाकार) वस्तुपिण्ड को सामने रख कर इसकी वर्त्तुलतामात्र को मध्यस्थ मान लीजिए छन्दोवेदस्वरूप के समन्वय के लिए। वृत्त (गोलाकार) ही आकृति, किंवा मूर्त्ति है, यही छन्द है। यह आकृतिभाव **परिणाह--विष्कम्भ--हृदय**--भेद से तीन भावों में परिणत हो रहा है।

१३८--ऋङ्मूलक 'प्रस्ताव'' यजुर्म्मूलक 'यजन', एवं साममूलक 'उद्गीथ' शब्दों का वाच्यार्थ-समन्वय—

ऋक्–यजुः–साम–नामक वेदमन्त्रों का '**वैधयज्ञ**' (द्विजातिमानवों के द्वारा सम्पादित यज्ञ) रूप कर्म्मकाण्ड में ऋत्विजों के द्वारा विनियोग हुआ है। '**शस्त्र**' कर्म्माधिष्ठाता '**होता**' नामक ऋग्वेदी ऋत्विक् ऋङ्मन्त्रों से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है-'**प्रस्ताव**'। '**ग्रह**' कर्म्माधिष्ठाता '**अध्वर्य्यु**' नामक यजुर्वेदी यजुर्म्मन्त्रों से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है–'**यजन**'। एवं '**स्तोत्र**' कर्म्माधिष्ठाता 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् साममन्त्रों से जो कर्म्म करता है, उसी का नाम है—**उद्गानात्मक 'उद्गीथ'**। इस-प्रकार यज्ञफलभोक्ता यज्ञकर्त्ता यजमान के द्वारा प्रदत्त दक्षिणाद्रव्य से यज्ञकर्म्म में समाविष्ट होने वाले तीनों ऋत्विक् तीनों वेदमन्त्रों से क्रमशः प्रस्ताव-यजन-उद्गीथ-नामक तीन यज्ञकर्म्मों का सम्पादन करते हैं, एवं इन्हीं से यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है। स्पष्ट है कि, यह मानुषयज्ञ प्रकृतिसिद्ध उस नित्ययज्ञ पर ही प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजापति यजमान हैं, अग्नि–वायु–आदित्य–नामक प्राणदेवता ही क्रमशः होता--अध्वर्य्यु--उद्गाता हैं। एवं प्रकृतिसिद्ध तत्त्वात्मक ऋक्--यजुः--साम ही वेद हैं, जिनका छन्दोवेदात्मक ऋग्वेद में ही यहाँ अन्तर्भाव बतलाया जाहरा है।

१३९--विष्कम्भ-ऋक्-प्रस्ताव-त्रयी का, हृदय-यजुः-यजन-त्रयी का, एवं परिणाह साम उद्गीथ-त्रयी का अभिन्नत्त्व —

वर्त्तुलाकृतिभाव के मध्य का विष्कम्भ (व्यास–डायमीटर Diameter) ही ऋक् है, और यही 'प्रस्ताव' है। इसीलिए तो–'**ऋचा प्रस्तौति ऋग्वेदी होता**'। स्वयं वर्त्तुलवृत्तात्मक परिणाह (घेरा) ही साम है, और यही-'उद्गीथ' है। इसीलिए तो '**साम्ना उद्गायति उद्गाता**'। वर्त्तुलवृत्तात्मिका मूर्त्ति का केन्द्रबिन्दु (हृदयबिन्दु) ही 'यजुः है, और यही 'यजन' है। इसीलिए तो–'**यजुषा यजति यजुर्वेदी अध्वर्य्युः**'। विष्कम्भरूपा ऋक् का त्रिगुणित आकार ही परिणाह का स्वरूपसमर्पक माना गया है। वस्तुपिण्ड के व्यास से वस्तु का परिणाह त्रिगुणित हुआ करता है। इसी आधार पर '**त्रिचं साम**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। शब्दवेद में भी वही ऋङ्मन्त्र उच्चारण में त्रिगुणित होकर उक्त तत्त्वानुसार साममन्त्र बन जाता है। विष्कम्भरूपा ऋक् के द्वारा परिणाहरूप साम से जो यजन (मेल) होता है, वह यजनधर्म्म हृदयबिन्दु का ही माना गया है। और इस विष्कम्भ–परिणाहात्मक-यजन–(सम्बन्ध) के कारण ही यजनकर्त्ता हृदयभाव 'यजुः' कहलाने लगा है। परिणाह पर ही आकार की समाप्ति है। समाप्ति ही अवसान है। अवसान ही साम है। अतएव परिणाह 'साम' कहलाने लगा है। इसप्रकार मूर्त्ति-आकृतिरूप एक छन्दोवेद में हीं विष्कम्भ-परिणाह-हृदय–भेद से तीनों वेदों का उपभोग प्रमाणित हो रहा है।

१४०–छन्दोवेदत्रयीरूप ऋग्वेद की स्वरूप–महिमा—

स्मरण रहे-छन्दोरूपा आकृति भातिसिद्ध पदार्थ है। तभी तो इसे 'दिक्' कहना अन्वर्थ बनता है। न तो विष्कम्भ में हीं देशभाव है, न परिणाह में हीं, एवं न हृदय में हीं। अपितु वस्तुपिण्डात्मक–धामच्छद–मूर्त्त–जिस वयोरूप वस्तुपिण्ड के विष्कम्भ–परिणाह–हृदय–नामक तीन भाव हैं, उस वस्तुपिण्ड में हीं सत्ता-सिद्ध देशभाव समन्वित है। धामच्छद–पिण्डात्मक देश जहाँ 'देश' कहलाया है, वहाँ अधामच्छद महिमात्मक देश 'प्रदेश' कहलाया है, जिन इन वयोऽनुबन्धी पिण्ड–मण्डलभावानुगत देश–प्रदेश–भावों का विष्कम्भादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ देश–प्रदेश–भावों के मापदण्ड अवश्य ही ये तीनों विष्कम्भादि बने हुए हैं। और यही है छन्दोवेदात्मक दिग्भावानुगत पहिले ऋग्वेद के अवान्तर तीनों छन्दोंवेदों का स्वरूप-दिग्दर्शन, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

(१) छन्दोवेदात्मके-ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

१–विष्कम्भः–व्यासो वा-सैषा मूर्त्तिरेवाकृतिः—" ———— " २–परिणाहः–परिधिर्वा-सैषा मूर्त्तिरेवाकृतिः—" ○ " ३–हृदयम्—केन्द्रं वा–सैषा मूर्त्तिरेवाकृतिः–" "	(१) छन्दोवेदः—ऋक् मूर्त्तिः

१४१-इन्द्रमूला गति, उपेन्द्रमूला आगति, एवं इन्द्राविष्णू की प्रकृतिसिद्धा प्रतिस्पर्द्धा—

अब क्रमप्राप्त दूसरे गतिभावापन्न-रसात्मक यजुर्वेद के वेदत्रयात्मक-रहस्यपूर्ण स्वरूप को लक्ष्य बनाइए। विष्कम्भ-परिणाह, एवं हृदय, इन तीन छन्दोभावों से अवच्छिन्न गतिधर्म्मा जो प्राणात्मक 'रस' है, उसीको पूर्व में रसात्मक यजुर्वेद कहा है, जिससे सत्तासिद्ध वस्तुपिण्ड का स्वरूप अवस्थित है। गतितत्त्व ही प्राण-तत्त्व की स्वरूप-परिभाषा है, और गत्यात्मक इसी प्राणतत्त्व का नाम है रसात्मक यजुर्वेद। इस एक ही गति-तत्त्व के हृदयरूप केन्द्रभाव के, तथा परिणाहरूप परिधिभाव के अनुबन्ध से गति, और आगति-ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। **केन्द्रप्रतियोगिनी, परिध्यनुयोगिनी उसी गति का नाम 'गति' है, एवं परिधिप्रति-योगिनी-केन्द्रानुयोगिनी उसी गति का नाम 'आगति' है**। केन्द्र से परिधि की ओर प्राण की गमनरूपा गति ही 'गति' है, एवं परिधि से केन्द्र की ओर प्राण की आगमनरूपा गति ही 'आगति' है। परिधि-से अनुगत गति का अर्थ है-गमन (जाना), एवं हृदयानुगता गति का अर्थ है-आगमन (आना)। यों एक ही गति केन्द्र, और परिधि-भावात्मक छन्दों की अनुयोगिता-प्रतियोगिता से **गति-आगति** रूपेण दो विवर्त्तभावों में परिणत हो रही है। अक्षरविद्यापेक्षया गतिभाव का नाम जहाँ **'इन्द्र'** है, वहाँ आगतिभाव का नाम **'उपेन्द्र'** है, जो कि 'उपेन्द्र' ही यज्ञप्रवृत्ति के कारण 'विष्णु' नाम से भी प्रसिद्ध है। दोनों सयुक्प्राण हैं, अतएव **'इन्द्राविष्णू'** व्यवहार प्रतिष्ठित है। आगमन-गमन-मूलक आदान-विसर्ग-भावों का धारावाहिक चङ्क्रमण ही मानो इन्द्रा-विष्णू की वह प्रतिस्पर्द्धा है, जिसके प्रभाव से ही न तो अन्य शक्तियाँ इन दोनों को ही परास्त कर सकतीं, एवं न ये दोनों शक्तियाँ स्वयं परस्पर में हीं एक दूसरी से पराजित होतीं। गतितत्त्व के गति-आगति-रूप इसी प्रतिद्वन्द्वीभाव को लक्ष्य में रख कर वेदमहर्षिने कहा है—

उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ऋक्सं० ६।६९।८।—

१४२-लोक-वेद-वाक्-अनुगता साहस्री त्रयी, एवं 'न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः' का तात्त्विक समन्वय—

क्या तात्पर्य्य हुआ 'न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः' (दोनों में कोई भी एक दूसरे से पराजित नहीं होता) इस वाक्य का ?, तात्पर्य्य स्पष्ट है। **गति के पूर्वभाग का ही नाम जहाँ आगति है, वहाँ आगति के उत्तरभाव का ही नाम गति है**। अपने इन पूर्वोत्तरभावों के समतुलन से ही गतिरूप इन्द्र, और आगति-रूप विष्णु--दोनों का बलप्रयोग समतुलित बना रहता है। जिस अनुपात से गति की प्रवृत्ति होती है, उसी अनुपात से आगति की प्रवृत्ति होती है। अतएव गतिप्राणात्मक--**ददानधर्म्मा**--इन्द्र के साथ आगतिप्राणात्मक-**आदानधर्म्मा**--विष्णु से होने वाली, किंवा विष्णु के साथ इन्द्र से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा समबलान्विता ही बनी रहती है। दोनों में से कोई भी तो एक दूसरे से नहीं हारता। क्या होता है इस समानप्रतिस्पर्द्धा का परि-णाम ?, उत्तर है महिमामण्डलात्मिका उस प्राणसाहस्री का ऊर्ध्व-आसमन्तात् वितान, जिस साहस्री-मण्डल के * **लोकसाहस्री-वेदसाहस्री-वाक्साहस्री**-ये तीन विवर्त्त माने गए हैं, जिन इन तीनों साहस्रियों का आग-

---

* **किं तत्सहस्रमिति ?--इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्।**
—ऐतरेय-आरण्यक

तिधर्म्मा विष्णु के आधारभूत पारमेष्ठ्य--सरस्वान्--नामक--आपोभाव के साथ ही सम्बन्ध है, जिस इस आपोमूला त्रिसाहस्री के स्वरूप--समन्वय के लिए तो सुप्रसिद्धा 'वषट्कारविद्या' के ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिए।

१४३--प्राणगति के गति--आगति--स्थिति--रूप--तीन विवर्त्त, तद्रूपा ब्रह्मे--न्द्र--विष्णु--त्रयी, एवं तदनुगता एका मूर्त्तिः—

वही गतितत्त्व केन्द्रबल से परिच्छिन्न बन कर 'स्थिति' भाव में परिणत हो जाता है। विरुद्ध दिग्--द्वयगति, एवं सर्वतोदिग्गति ही 'स्थिति' का स्वरूप-परिचय है, जिस का लोकार्थ है--'गतिसमष्टि'। गति, और आगति नामकी गतियाँ विरुद्ध--दिग्द्वयानुगता हैं केन्द्र--और परिधि की अनुयोगिता--प्रतियोगिता से। इन दोनों के केन्द्रात्मक स्तम्भन का नाम हीं 'स्थिति' है, जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है त्रयीतत्त्वसमन्वय प्रसङ्ग में (शत० ६।१।१।६।)। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' इस चयनश्रुति के अनुसार स्थितिरूप यह ब्रह्म (पुराणभाषानुसार 'ब्रह्मा') हीं गति--आगति--रूप इन्द्रा--विष्णू के नियन्ता बने हुए हैं। अतएव ब्रह्मा का एक नाम--'नियति' भी हो गया है। केन्द्र से परिधिपर्य्यन्त अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित रखने वाली इन्द्र--रूपा गति, एवं परिधि से केन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली विष्णुरूपा आगति, इन दोनों हीं विरुद्ध गतिभावों की आधारभूता गतिस्तम्भनरूपा स्थिति ही ब्रह्मप्रतिष्ठा है, जो गतिसमुच्चयलक्षणा गति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसप्रकार गतिरूपा गति, आगतिरूपा गति, गतिसमुच्चयरूपा गति ही क्रमशः गति--आगति--स्थिति--नामों से प्रसिद्ध हो रही है, और यही क्रमशः इन्द्र--विष्णु--ब्रह्मात्मिका वह अभिन्ना देव--त्रयी है, जिसका--"एका मूर्त्तिस्त्रयो देवाः--ब्रह्म--विष्णु--महेश्वराः' (महेश्वरः--इन्द्रः)"इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है।

१४४--आगतिरूपा गति का उक्थाप्यायनत्त्व, तदनुबन्धी ऋक्त्व, एवं यजुर्गति में ऋग्वेद का उपभोग—

आगतिरूपा--विष्णुभावात्मिका गति का ही नाम है--ऋक्, गतिरूपा इन्द्रभावात्मिका गति का ही नाम है--साम, एवं स्थितिरूपा ब्रह्मभावात्मिका गति का ही नाम हैं यजुः। इसप्रकार गतिरूप एक ही यजुर्भाव, किंवा यजुरूप एक ही गतिभाव अपने आगति--गति--स्थिति--रूप तीन विभिन्न गतिविवर्त्तों से ऋक्--साम--यजुः--रूप में परिणत हो रहा है। क्यों इन तीन गतिभावों को ऋगादिरूप से व्यवहृत किया गया?, प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकरण--समन्वय--दृष्टया अत्र यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, वस्तुभाव के उप--क्रमबिन्दु का नाम ही--'प्रस्ताव' है, प्रस्तावात्मक उपक्रमभाव ही 'उक्थभाव' है, और प्रस्तावात्मक उक्थ--भाव ही 'ऋग्भाव है। ऋक् के इस स्वरूपधर्म्म का संरक्षण क्योंकि आगतिरूप गतितत्त्व से हो रहा है। अत-एव अवश्य ही आगतिरूपा गति को 'ऋक्' कहा जा सकता है। इस आगतिधर्म्म से ही पिण्डप्रजापति के विस्रस्त (क्षीण) भाग की क्षतिपूर्त्ति होती रहती है। आगतिधर्म्म से ही बाहिर से अन्न का आहरण होता है, जो कि प्राजापत्य अन्न 'अशीति' कहलाया है। अशीतिरूप अन्न की आहुति से ही प्रजापतिरूप उक्थ का आप्यायन होता है, जैसाकि--'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' इत्यादि निगम से स्पष्ट है। यथार्थ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड की भूतमात्राएँ गतिभाव से निरन्तर क्षीण होतीं रहतीं हैं। किन्तु आगतिभाव से बाहिर

की भूतमात्राओं का निरन्तर आगमन भी होता रहता है । इसी से विस्रस्त-क्षीण-भाग की पूर्त्ति होती रहती है । इस आप्यायनधर्म्म से ही वस्तुपिण्ड का स्वरूपरक्षक उक्थ (बिम्ब-पिण्ड) स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है, जिस उक्थ के आधार से ही सम्पूर्ण पिण्डभाव प्रस्तुत होते रहते हैं । यह प्रस्तावभाव क्योंकि-ऋग्भाव है, आगतिरूपा गति ही अशीति के द्वारा उक्थाप्यायन करती हुई उक्थ के ऋग्रूप प्रस्तावभाव की मूलप्रतिष्ठा बनती है । अतएव अवश्य ही प्रजापति-आप्ययनकर्त्री इस आगतिरूपा गति को प्रस्तावोक्थात्मिका-'ऋक्' कहा जा सकता है, कहा गया है । पिण्डात्मक देश का उपक्रमरूप ऋगात्मक प्रस्ताव आगतिमूलक ही है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है ।

१४५-गतिरूपा गति का ऋचा समत्त्व, एवं यजुर्गति में सामवेद का उपभोग—

साम का एक लक्षण यह माना गया है कि-'**ऋचा समं मेने, तस्मात् साम**' । साम क्योंकि ऋग्भाव के साम्यभाव से ही स्वस्वरूप व्यक्त करता है । अतएव इस ऋक्-साम्यधर्म्म से ही साम को 'साम' कहना अन्वर्थ बन रहा है । गतिविवर्त्तों में से गतिभावात्मिका ऐन्द्री गति इसी साम्यधर्म्म से अनुप्राणित है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । जिस अनुपात से आगतिभाव व्युत्क्रान्त * रहता है, उसी अनुपात से गतिभाव उत्क्रान्त रहता है । व्युत्क्रमण के समानानुपात से ही उत्क्रमण होता रहता है । यही तो इन्द्राविष्णू की समानविजयानुबन्धिनी प्रतिस्पर्द्धा है । इस उत्क्रमण से प्रजापतिमात्राओं का उसी अनुपात से विस्रंसन होता रहता है, जिस अनुपात से कि व्युत्क्रमण के द्वारा प्रजापति का विस्रस्त भाग आप्यायित होता रहता है । यों आगतिभाव से गतिभाव समभावापन्न ही प्रमाणित हो रहा है । आगति ऋक् है, तो तत्समा गति को इसी परिभाषा के अनुसार '**ऋचा-आगत्या समं मेने-आगतिं**'-इस नियमानुबन्ध से अवश्य ही 'साम' कहा जा सकता है, कहा गया है । पिण्डात्मक देश का उपसंहारात्मक-सामात्मक निधन गतिमूलक है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है ।

१४६-स्थितिरूपा गति का यजनात्मक यजुष्ट्व, एवं यजुर्गति में यजुर्वेद का उपभोग, तथा रसवेदात्मक यजुर्वेद की त्रयीरूपता का समन्वय—

अब शेष रह जाता है प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक स्थितिभाव । यजनधर्म्मात्मक युञ्जनधर्म्म ही यजुः की स्वरूप-परिभाषा है । योग कराना ही यजुः का स्वरूपधर्म्म माना गया है । और यह धर्म्म गतिसमुच्चयरूपा 'स्थिति' नाम की गति पर ही अवलम्बित है । सर्वाधारभूता स्थिति ही आगतिभाव को गति के साथ समन्वित रखती है, एवं स्थिति ही गतिभाव को आगतिभाव से समन्वित रखती है । अतएव-'**युञ्जनमेव यजुः**' इस परिभाषा के अनुसार युञ्जनकर्त्री स्थिति अवश्य ही यजुर्भावात्मिका प्रमाणित हो रही है, जिस युञ्जन से ही पदार्थस्वरूप की 'स्थिति' सुरक्षित रहा करती है । इसप्रकार वस्तुपिण्डात्मक गतिभावात्मक-रसमय-यजुर्वेद में भी आगति-स्थिति-गति-रूप ऋक्-यजुः-साम, इन तीनों वेदों का उपभोग होजाता है, जो वस्तुगत्या देश के ही विवर्त्त हैं । यही है रसवेदात्मक, देशभावानुगत दूसरे यजुर्वेद के अवान्तर तीनों रसवेदों का स्वरूप-दिग्दर्शन, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

---

* विष्णोर्विक्रमणं-व्युत्क्रमणं वा प्रसिद्धम् । इन्द्रस्य उत्क्रमणं प्रसिद्धम् ।

(२)-रसवेदात्मके यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

१–हृदयानुयोगिको गतिभाव एव	आगतिः	(विष्णुः)—ऋक्	२ रसवेदः-यजुः	पिण्डः
२–गतिसमुच्चयात्मको गतिभाव एव	स्थितिः	(ब्रह्मा)—-यजुः		
३–परिध्यनुयोगिको गतिभाव एव	गतिः	(इन्द्रः)—साम		

१४७–तेजोभावापन्न वितानात्मक सामवेद, एवं तदनुगत पूर्वोत्तरमण्डलभाव—

अब क्रमसिद्ध तीसरे–-तेजोभावापन्न–वितानात्मक–सामवेद हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसके ऋक्–यजुः–साम–रूप–तीनों विभूतिपर्वों का दिग्दर्शन कराती हुई ही यह वेदरहस्यात्मिका रूपरेखा उपरत हो रही है। आगति–स्थिति–गति, इन तीन रसभावों–वस्तुभावों से कृतरूप–ऋक्–यजुः–सामात्मक–देशानुबन्धी जिस रसात्मक यजुर्वेद का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वही तेजोमय सामवेद का प्रवर्त्तक बनता है, जिस तेजोमय सामवेद के वैतानिक–महिमामयरूप से ही रसवेदात्मक–वस्तुपिण्ड के चारों ओर वितानवेदात्मक महिमामण्डल का आविर्भाव हो पड़ता है। "**संक्लिश्य अप्सु प्राविध्यत्**" मूलक बलप्रयोगात्मक प्राण–संक्लेदन से वस्तुपिण्डभुक्त गत्यात्मक यजुःप्राण पिण्ड से बाहिर की ओर वितत बनकर रश्मिरूप में परिणत होता हुआ, आगे चलकर रश्मियों के अभिप्लवस्तोम–सम्बन्ध से मण्डलरूप में समन्वित होजाता है। ऐसे सहस्र–सहस्र–रश्मिभावात्मक सहस्र–छोटे–बड़े–मण्डलों की समष्टि ही सहस्रवर्त्मा सामवेद है।

१४८–प्रदेशात्मक–प्राणमण्डल–लक्षण–तेजोमय-पाम से अनुगता त्रयीविद्या–

वस्तु के प्राणमय महिमामण्डल की प्रदेशता का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में बतलाया गया था कि, महतोमहीयान् महिमामण्डल जहाँ अपने अमूर्त्त–प्राण–भाव से सर्वथा अचिन्त्य बनता हुआ दिक्–देश–प्रदेशादि–भावों से असंस्पृष्ट है, वहाँ इस महिमामण्डल में हीं भुक्त, वस्तुपिण्ड के विष्कम्भात्मक व्यास के आधार पर उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जानें वालीं भूतमात्रागर्भिता प्राणमयीं मूर्त्तियाँ हीं तद्वस्तु के देश, एवं प्राणमूर्त्तिरूप प्रदेश के साक्षात्कार का अवलम्ब बनतीं हैं आलोक के प्रतिफलन से। मूर्त्तियों की साहस्री से जहाँ प्रदेशात्मक उत्तरोत्तर वसीयान् (बड़े) सापेक्ष साममण्डलों का स्वरूपाविर्भाव होता है, वहाँ मूर्त्तिभुक्त विष्कम्भों के माध्यम से प्रदेशात्मिका–उत्तरोत्तर–ह्रसीयसी मूर्त्तियों का आविर्भाव होता है। इसी से यह भी संसिद्ध है कि, वस्तुपिण्ड के चारों ओर वितत रहने वाले अचिन्त्य–अमूर्त्त–महामहिमामण्डल के गर्भ में प्रदेशरूप से अवस्थित प्राणमण्डलों में पूर्व–पूर्वमण्डल उत्तरोत्तरमण्डलापेक्षया जहाँ छोटा है, उत्तरोत्तर मण्डल पूर्व–पूर्व–मण्डलापेक्षया जहाँ बड़ा है, वहाँ प्राणमूर्त्तियों में पूर्व–पूर्व–मूर्त्यपेक्षया उत्तरोत्तर मूर्त्तियाँ छोटीं हैं, एवं उत्तरोत्तर मूर्त्तियों की अपेक्षा पूर्व–पूर्व मूर्त्तियाँ बड़ीं हैं। यों विष्कम्भमूलक वितान से अनुप्राणिता मध्यस्था हृदयभावानुगता ऋजुरेखा के परिधिपर्य्यन्त–व्याप्त रहने से इसी के सापेक्ष बड़े–छोटे विष्कम्भों के (पूर्वपूर्व व्यास उत्तरोत्तर व्यास से बड़ा है)–आधार पर ही प्राणमण्डलों का निर्म्माण हुआ है। विष्कम्भात्मिका ऋजुरेखा का जहाँ प्राणमूर्त्तियों से सम्बन्ध है, वहाँ विष्कम्भ के त्रिगुणित वितानभावों का प्राणमण्डलों से सम्बन्ध है। एवं इस स्थिति के आधार पर ही इस प्रदेशात्मक प्राणमण्डललक्षण–तेजोमय-साम के तीनों वेद-भावों का समन्वय करना है।

१४६–पूर्व–पूर्व–मण्डलात्मक भावों का ऋक्त्व, उत्तरोत्तरमण्डलात्मक भावों का सामत्व, विष्कम्भहृदयरेखानुगत भाव का यजुष्ट्व, एवं वितानवेदात्मक सामवेद में त्रयीवेद का उपभोग––

मूर्त्तिभाव ऋक् की परिभाषा है, मण्डलभाव साम की परिभाषा है, एवं गतिभाव यजुः की परिभाषा है, जैसाकि, पूर्व के–'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट किया जा चुका है । सहस्र–मण्डलों में से पूर्व–पूर्व मण्डल मूर्त्तिभावों के संग्राहक हैं, एवं उत्तरोत्तर मण्डल मण्डलभावों के संग्राहक हैं । **पूर्वा पूर्वा मूर्त्ति ही विष्कम्भ के हृदयबिन्दुपार्श्ववर्त्ती अणुद्वय के ऊर्ध्व वितान से उत्तर उत्तर के मण्डल-रूप में परिणत हो जाया करती है,** जिस इस रहस्य का समन्वय तो परिलेखानुगत-उपनिषद्भूमिकाग्रन्थ के तात्त्विक स्वरूप--निरूपण के माध्यम से ही करना चाहिए । यहाँ यही समझ लेना अलं होगा कि, पूर्व–पूर्व–मण्डल क्योंकि प्राणमूर्त्तिभावों के सम्पादक हैं, मूर्त्ति को ही क्योंकि 'ऋक्' कहा जाता है । अतएव महामहिमा-मण्डलभुक्त सहस्रमण्डलों में से सम्पूर्ण पूर्वमण्डलों को मूर्त्तित्वेन–'ऋक्' ही कहा जायगा । एवमेव उत्तर-उत्तर-मण्डल क्योंकि पूर्व-पूर्व-मूर्त्तिरूप मण्डलों के ही वैतानिक-माण्डलिक-रूप हैं, मण्डल को ही क्योंकि 'साम' कहा जाता है । अतएव महामहिमामण्डलभुक्त सहस्रमण्डलों में से सम्पूर्ण उत्तरमण्डलों को मण्डल-त्वेन 'साम' ही कहा जायगा । अब शेष रह जाती है विष्कम्भहृदयानुगता वह ऋजुरेखा, जो वस्तुपिण्ड के विष्कम्भकेन्द्र से चलकर अपने स्वाभाविक गत्यात्मक प्राणभाव से परिधि से समन्वित निधनसामबिन्दु पर विश्राम ले रही है । इसी से तो पूर्वमण्डल मूर्त्तिरूप में परिणत होते हैं, एवं इसी से उत्तरमण्डल पूर्वमूर्त्ति–मण्डल के महिमामण्डल कहलाए हैं । गतिशील यह ऋजुप्राणात्मक ऊर्ध्व वितत-केन्द्रीय प्राण ही मूर्त्ति, और मण्डल-भावों का यजनात्मक सम्बन्ध करा रहा है, जोकि केन्द्रीय प्राण अपने इस विकासात्मक वितानधर्म्म से मण्डलरूप में परिणत होता हुआ जहाँ साम है, वहाँ यजनसम्बन्ध से यही साम यजुः भी बन रहा है । इस-प्रकार **पूर्वमण्डल--उत्तरमण्डल**--विष्कम्भानुगता **हृत्प्राणरेखा**--भेद से प्राणमण्डलात्मक एक ही साम इन तीन विभूतियों में परिणत होता हुआ वेदत्रयात्मक बन रहा है । यही है वितानवेदात्मक प्रदेशभावानुगत तीसरे सामवेद के अवान्तर तीनों वितानवेदों का स्वरूप–दिग्दर्शन, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

(३)--वितानवेदात्मके सामवेदे वेदत्रयोपभोगः—

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि-मूर्त्तयः (मूर्त्तिः-ऋक्)—इति—ऋगात्मकं साम २—उत्तरोत्तर-मण्डलानि-मण्डलानि (मण्डलं-साम)—इति—सामात्मकं साम ३—केन्द्रानुगता प्राणात्मिका ऋजुरेखा (गतिप्राणः-यजुः)—इति—यजुरात्मकं साम	(३) वितानवेदः—साम	मण्डलम्

समष्ट्यात्मकः परिलेखः—

१—विष्कम्भः—ऋगात्मिका—'ऋक्'
२—परिणाहः—ऋगात्मकं—'यजुः'
३—हृदयम्—ऋगात्मकं—'साम'

—मूर्त्तिः-छन्दः—वयोनाधः—सैषा दिक्
—ऋग्वेदात्मके छन्दोवेदे वेदत्रयोपभोगः—
} दिगेव ऋग्वेदः

१—आगतिभावः—यजुरात्मिका—'ऋक्'
२—स्थितिभावः—यजुरात्मकं—'यजुः'
३—गतिभावः—यजुरात्मकं—'साम'

—गतिः—रसः—पिण्डवयः—स एष देशः
—यजुर्वेदात्मके रसवेदे वेदत्रयोपभोगः—
} देश एव यजुर्वेदः

१—पूर्वमण्डलानि—सामात्मिका—'ऋक्'
२—प्राणरेखा—सामात्मकं—'यजुः'
३—उत्तरमण्डलानि-सामात्मकं—'साम'

—मण्डलम्—वितानम्—महिमवयः—स प्रदेशः
—सामवेदात्मके वितानवेदे—वेदत्रयोपभोगः—
} प्रदेश एव सामवेदः

अयमत्र प्रश्नोत्तरविमर्शः—पारिभाषिकः—

१—केयं दिक् ?, इति छन्दोवेदमेव गृहाण २—कोऽयं देशः ?, इति रसवेदमेव गृहाण ३—कोऽयं प्रदेशः ?, इति वितानवेदमेव गृहाण	इत्यन्यत्
१—वयोनाधात्मकः—ऋङ्मयश्छन्दोवेद एव 'दिक्' २—पिण्डवयात्मकः—यजुर्म्मयो रसवेद एव 'देशः' ३—मण्डलवयात्मकः-साममयो वितानवेद एव 'प्रदेशः'	इत्यन्यत्
१—मूर्त्तिरेव ऋक्—सैषा 'दिक्' २—गतिरेव यजुः—सोऽयं 'देशः' ३—तेज एव साम—सोऽयं 'प्रदेशः'	इत्यन्यत्
१—वस्तुमूर्त्तिरेव ऋक्—सोऽयं दिग्भावः २—वस्तुपिण्ड एव यजुः—सोऽयं देशभावः ३—वस्तुमण्डलमेव साम—सोऽयं प्रदेशभावः	इत्यन्यत्

बड़ा ही दुर्बोध्य है काल का महिमामय वह स्वरूप, जिसके व्यक्त-काल, दिक्, देश, प्रदेश, नामक चार प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं। चारों में से प्रदेश का जब देश में अन्तर्भाव होजाता है, तो चार के स्थान में 'काल-दिक्-देश' ये तीन ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। एवं यदि व्यक्तात्मक काल का अव्यक्त महाकाल में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो उस दशा में 'दिक्-देश-प्रदेश' ये तीन हीं विवर्त्त शेष रह जाते हैं। एवमेव यदि देश का दिक् में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो 'काल-दिक्' ये दो ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं। सर्वान्ते च यदि दिक् का भी काल में हीं अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो केवल 'काल'

ही शेष रह जाता है, जिसके अमूर्त्त--भावात्मक आनन्त्य का अनन्तब्रह्म के साथ दृष्टान्तविधि से समतुलन करने के प्रसङ्ग में हीं--'दिग्देशकालमीमांसा'--अत्र जागरूक हो पड़ी है। सर्वसामान्यभावानुगता मान्यता के अनुपात से अनुप्राणित समयसूचक 'काल', पूर्व--पश्चिमादि दिशाओं की सूचिका दिक्, छोटा--बड़ा--लम्बा--चौड़ा-गोल--आदि विविध भौतिक स्थानों का सूचक देश, एवं देशावयवों का सूचक प्रदेश, इन लोकानुबन्धी काल--दिक्--देश--प्रदेश--भावों के साथ शास्त्रीय--भावानुगता आस्था से सम्बन्ध रखने वाले काल--दिक्--देश--प्रदेश--तत्त्वों का कहाँतक, कैसा समतुलन है ?, प्रश्न की मीमांश तो सम्भवतः प्रस्तुत निबन्ध के--उपसंहार में ही की जायगी। अभी तो सृष्टिविज्ञान के माध्यम से शास्त्रीय दृष्ट्या ही इन तत्त्वों का स्वरूप-दिग्दर्शन पाठकों के सम्मुख अनेक दृष्टिकोणों से उपस्थित किया जारहा है।

१५०-त्रिवेदात्मिका छन्दोवेदमयी वस्तुमूर्त्ति, त्रिवेदात्मक रसवेदमय वस्तुपिण्ड, त्रिवेदात्मक वितानवेदमय वस्तुमण्डल, एवं मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलात्मक पदार्थ—

जिस वेदतत्त्व के माध्यम से पूर्व में दिक्--देश--प्रदेश--तत्त्वों की जो स्वरूपमीमांसा हुई है, उसके आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, त्रिवेदात्मक छन्दोवेद से वस्तुमूर्त्ति का, त्रिवेदात्मक रसवेद से वस्तुपिण्ड का, एवं त्रिवेदात्मक वितानवेद से वस्तुमण्डल का आविर्भाव होता है। **वस्तुमूर्त्ति--वस्तुपिण्ड--वस्तुमण्डल**-तीनों मिलकर एक वस्तुभाव (पदार्थ) है, जिसका तात्पर्य्य यही होता है कि, ऋग्रूप छन्दोवेद, यजुःरूप रसवेद, एवं सामरूप वितानवेद ही वस्तुभाव के **मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल**, इन तीन अवान्तर भावों के सर्ज्जक बने हुए हैं। अतएव कहा जासकता है कि-त्रिमूर्त्ति वेद से ही विश्वपदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

१५१-गुण-अणु-रेणु-भूत-भौतिक-महाभूत-आदि के मुख्य सर्ज्जक तत्त्वात्मक त्रयीवेद का संस्मरण, एवं त्रयीवेद की कालरूपता के माध्यम से 'कालः सृजति भूतानि' का समन्वय—

रूप--रस--गन्ध--स्पर्श--शब्द--नाम से प्रसिद्ध इन पाँच तन्मात्राओं के पञ्चीकरण--पारम्पर्य्य से ही **अणुभूत-रेणुभूत**-भूत-इन तीन प्रक्रमों के अनन्तर पृथिव्यादि पञ्च स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन **पञ्च महाभूतों** से ही मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलात्मक-त्रिभावापन्न भूतभौतिक पदार्थों का स्वरूप--निर्म्माण हुआ है। **पदार्थों का** साक्षात्सर्ज्जक पञ्चमहाभूतवर्ग परम्परया रूप--रस--गन्धादि पञ्चतन्मात्रात्मक गुणभूतसर्ग पर ही विश्रान्त है। अतएव गुणभूतात्मक पञ्चतन्मात्राभाव को ही हम भूतभौतिक--पदार्थों का सर्ज्जक कहेंगे। यहाँ प्रश्न होता है कि-पञ्चतन्मात्राएँ (गुणभूत) किससे आविर्भूत हुई ?। इस प्रश्न का जो भी समाधान होगा, वही पदार्थों का इसलिए प्रमुख सर्ज्जक माना जायगा कि, पञ्चतन्मान्त्रारूप गुणभूतों से आरम्भ कर तत्पञ्चीकृत-रूप गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-महाभूत-पर्य्यन्त के चारों वर्ग तो पाचवें भौतिक पदार्थों की भूतानुबन्धिता से भूत-श्रेणि में ही प्रतिष्ठित होते हुए वस्तुगत्या 'प्रसूति' ही बने हुए हैं, 'कार्य्य' ही बने हुए हैं। अतएव इन चारों--**गुण-अणु-रेणु--महा**-भूतों में से किसी को भी भौतिक पदार्थों का मुख्य सर्ज्जक नहीं माना जा--सकता। मुख्य सर्ज्जक वही होगा, जो स्वयं प्राणरूप होता हुआ भूतानुबन्धी अपने सीमाभाव से भूतों का

सर्ज न करेगा। वही तत्त्व 'वेद' कहलाया है, एवं यही 'काल' तत्त्व का स्वरूप-दिग्दर्शन है। 'कालः सृजति भूतानि' का अर्थ है-'वेदः सृजति भूतानि'। वेदात्मक काल, किंवा कालात्मक वेद ही गुणाणुरेणुभूत-महाभूतभावों का सर्ज क बनता हुआ परम्परया भूतभौतिक पदार्थों का मूलस्रष्टा प्रमाणित हो रहा है। पञ्चतन्मात्रारूप से भौतिक पदार्थ जहाँ पञ्चावयव हैं, वहाँ अपने मूलभूत वेदतत्त्व के सम्बन्ध से भूत पदार्थ मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-रूपेण त्रिभावापन्न बने हुए हैं। 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' (छान्दोग्य उपनिषत्) मूलक इसी सृष्टिसमन्वय को लक्ष्य में रखते हुए राजर्षिने कहा है—

शब्दः-स्पर्शश्च-रूपञ्च-रसो-गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः॥ —मनुः १२।९८।

१५२-तत्त्वात्मक-लोकातीत-वेद की कालपुरुषता का, एवं योगात्मक-लोकमय वेद की यज्ञपुरुषता का समन्वय--

पदार्थस्रष्टा तत्त्वात्मक वेद स्वयं अपने समष्ट्यात्मक लोकातीत स्वरूप से जहाँ कालात्मक है, वहाँ यही पदार्थसृष्टिरूप से दिक्-देश-प्रदेश-रूप लोकस्वरूप से यज्ञात्मक बना हुआ है। काल ही यज्ञरूप में परिणत हो रहा है, यज्ञ ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। यज्ञात्मक पदार्थ का ऋगनुबन्धी मूर्त्तिभाव ही 'दिक्' है, यजुरनुबन्धी पिण्डभाव ही 'देश' है, एवं सामानुबन्धी मण्डलभाव ही 'प्रदेश' है। सामानुबन्धी वस्तुमण्डल वस्तुपिण्ड में अन्तर्भूत है, अतएव मण्डलात्मक प्रदेश पिण्डात्मक देश में अन्तर्भूत है। यजुरनुबन्धी वस्तुपिण्ड वस्तु-मूर्त्ति में अन्तर्भूत है, अतएव पिण्डात्मक देश मूर्त्यात्मिका दिक् में अन्तर्भूत है। ऋगनुबन्धिनी मूर्त्ति सर्वाधारभूत लोकातीत वेद में अन्तर्भूत है, अतएव मूर्त्यात्मिका दिक् वेदात्मक काल में अन्तर्भूत है। वेदात्मक काल ही मूर्त्तिभाव से दिक् है, काल ही दिङ्माध्यमेन पिण्डभाव से देश है, काल ही देश-माध्यमेन मण्डलभाव से प्रदेश है, इति **'काल एवेदं सर्वम्'**। वेदात्मक काल से आविर्भूत मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-माध्यम से छन्दोवेद-रसवेद-वितानवेद-स्वरूप-विश्लेषण-पूर्वक-दिक्-देश-प्रदेश--भावों का स्वरूप तो स्पष्ट किया जा चुका। किन्तु अभी इन तीनों का आधारभूत कालतत्त्व (लोकातीत वेदतत्त्व) का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित नहीं हो सका।

१५३-अपौरुषेय कालवेद, एवं पौरुषेय यज्ञवेद, तथा तद्वाचक ब्रह्मनिःश्वसित, और गायत्रीमात्रिक-शब्दों का संस्मरण--

क्या तत्त्वात्मक वेद के भी लोकातीत-लोकात्मक-रूप से दो विवर्त्त हैं? । प्रश्न इसलिए उपस्थित हो पड़ा कि, पूर्व में छन्दः-रसः-वितानम्-रूप से जिन त्र्यात्मक [त्रिवृद्भावापन्न] तीन वेदों का विष्कम्भ-परिणाहादिरूप से दिग्दर्शन कराया गया है, वे तीनों तत्त्वात्मक वेद तो मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डलरूप दिक्-देश-प्रदेशात्मक लोकसर्गों में ही समन्वित हो रहे है। अतएव दिक्-देश-प्रदेशात्मक छन्दः-रस-वितान--रूपा वेदत्रयी तो लोकात्मिका वेदत्रयी ही प्रमाणित हो रही है। उधर हम इन तीनों के मूलाधार--सर्वाधार--लोकातीत--कालतत्त्व को भी वेदतत्त्व ही बतला रहे हैं। अतएव उक्त प्रश्नोदय सर्वथा न्यायसिद्ध बन जाता है। प्रश्न का समाधान--'अस्ति' रूप-में ही दिया जायागा, और कहा जायगा कि, वास्तव में तत्त्वा--

त्मक वेद दो ही विवर्त्त-भावों में परिणत है, जो क्रमशः **अपौरुषेय-कालवेद, पौरुषेय-यज्ञवेद**, इन नामों से व्यवहृत होगा। अपौरुषेय-कालात्मक वेद ही **'ब्रह्मनिःश्वसितवेद'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं पौरुषेय-यज्ञात्मक वेद ही-**'गायत्रीमात्रिकवेद'** नाम से उपवर्णित है। दिक्-देश-प्रदेशानुबन्धी-मूर्त्ति-पिण्ड-मण्डल-भावों का सर्जक छन्दः-रस-वितान-रूप पौरुषेय-यज्ञवेदात्मक गायत्रीमात्रिकवेद है, एवं तत्सहित भूत-भौतिक सम्पूर्ण सर्गों का आवपनभूत लोकातीत अव्यक्त-अमूर्त्त-कालात्मक लोकातीत-अपौरुषेयवेदात्मक-ब्रह्मनिः-श्वसितवेद है। इसी रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के माध्यम से अब हमें पौरुषेय गायत्रीमात्रिकवेदात्मक-दिक्-देश-प्रदेश-भावों के आधारभूत, एवं अपौरुषेय-ब्रह्मनिःश्वसितवेदात्मक लोकातीत 'काल' तत्त्व के स्वरूपान्वेषण में ही तटस्थबुद्ध्या प्रवृत्त होना चाहिए, जिस इस तटस्था प्रवृत्ति का केन्द्रबिन्दु माना जायगा निम्नलिखित आर्षवचन—

ततः स्वयम्भूर्भगवान्-अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ —मनुः १।६।

१५४—लोकातीत कालपुरुष के स्वरूप-समन्वय के लिए प्रतीकविधि से लोक का आश्रय—

अव्यक्तमूर्त्ति, अतएव लोकातीत, अतएव च 'स्वयम्भूः' नाम से प्रसिद्ध, वृत्तौजा [वर्त्तुलभावापन्न-गोलाकार]-महाभूतादि [पञ्चमहाभूतों से प्रथम-आदि में रहने वाला] जो कोई विलक्षण तत्त्व है, उसे ही हम लोकातीत **'कालपुरुष'** कहेंगे, जो वेदानुबन्ध से—**'ब्रह्मनिःश्वसित'** नाम से प्रसिद्ध है वेदशास्त्र में। इस लोकातीत अव्यक्तकाल की औपासनिकी-सफलता के लिए सर्वप्रथम हमें उसके नैदानिक लोकरूप को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा। क्योंकि लोकातीत भावों की तटस्थ स्वरूप-बोधात्मिका उपासना लोकप्रतीकों के माध्यम से ही हुआ करती है। अतएव सर्वप्रथम लोक को ही लक्ष्य बनाया जारहा है।

१५५- लोकातीत कालपुरुष से अभिव्यक्त 'लोक' के महिमामय विवर्त्त, एवं काल से काल का उत्पीड़न—

श्रौती-परिभाषा के अनुसार व्यक्तभावापन्न लोक चार माने गए हैं, जो कि क्रमशः **पृथ्वीलोक- अन्तरिक्षलोक-द्युलोक-दिक्-लोक** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। **पृथिव्यन्तरिक्षं-द्यौर्दिशः'** रूप से उपवर्णित पृथिव्यादि चारों लोको में से आरम्भ के तीन लोक तो अपने व्यक्तभाव से जहाँ सर्वविदित हैं, वहाँ चौथा दिक्लोक व्यक्ताव्यक्त बनता हुआ विदिताविदित है। भूपिण्डोपलक्षित पृथिवी-लोक, चन्द्रपिण्डोपलक्षित अन्तरिक्ष-लोक, एवं सूर्य्यपिण्डोपलक्षित द्युलोक, ये तीनों लोक व्यक्तभावापन्न बने रहते हुए सुविज्ञेय हैं, यही तात्पर्य्य है। तीनों के वस्तुभाव क्रमशः **'भूतानि'-'पशवः'-'देवाः**-कहलाए हैं। देवप्राणानुगत सूर्य्य, पशुप्राणानुगत चन्द्रमा, एवं भूतप्राणानुगत भूपिण्ड, ये तीनों व्यक्तलोक ही 'रोदसी' नामकी 'सौरत्रिलोकी' है, जो महान् आपोमय पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र के गर्भ में बुदबुदरूप से अवस्थित है। यह आपोमय परमेष्ठी, किंवा पारमेष्ठ्य आपः ही चौथा **'आपोलोक'** है, जिस का असुर-गन्धर्व-प्राणान्वित पितरप्राण से सम्बन्ध माना गया है। **'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'** से इसी आपोलोक का ग्रहण हुआ है, जो अपने सोम भाग से सौर

सावित्राग्निमय देवदेवताओं का स्वरूप–रक्षक बनता हुआ 'देवलोक' भी बना हुआ है। पितृप्राणधान, सौम्य–भावापन्न यह पारमेष्ठ्य आपोलोक ही **'पारमेष्ठ्यलोक'** है, देवप्राणप्रधान द्युलोक ही **'सूर्य्यलोक'** है, पशु–प्राणप्रधान अन्तरिक्षलोक ही **'चन्द्रलोक'** है, एवं भूतप्राणप्रधान पृथिवीलोक ही **'भूलोक'** है। चारों हीं वस्तु-भाव व्यक्तभावापन्न हैं। व्यक्तता ही इन की मूर्त्तता है, मूर्त्तता ही अवलोकनरूपा लोकता का आधार है। यही चतुर्विध मूर्त्त–व्यक्त–प्राजापत्य सर्ग क्योंकि अवलोक्यते अस्माभिः, अतएव इस अवलोकनाधारभूत मूर्त्तभावानुबन्ध से इन्हें–**'लोक'** कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। चतुर्लोकरूपा चतुर्लोकात्मिका यही सृष्टि प्रजापति की **'मूर्त्तसृष्टि'–(क्षरसृष्टि--व्यक्तसृष्टि--विकारसृष्टि--भूतसृष्टि)** कहलाई है। इस मूर्त्तसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल–रूप वस्तुभाव ही पूर्व में दिक्–देश–प्रदेश–रूप से उपवर्णित हुआ है। चतुर्लोकात्मिका, मूर्त्ति–पिण्ड–मण्डल–भावापन्ना--गायत्रीमात्रिकवेदमयी इस मूर्त्तसृष्टि के सर्वान्त के पामेष्ठ्य आपोलोकरूप दिग्लोक को मध्यस्थ बना कर ही अब हमें--**'ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्ज--यन्निदम्'** इत्यादि मूलक कालात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति उस अमूर्त्त–अव्यक्त काल की आराधना में प्रवृत्त होना है, जो अव्यक्तकाल ही दिक्--देश--प्रदेश--रूप से व्यक्तकालरूप में परिणत हो रहा है, जिस व्यक्तकाल को यज्ञ कहा गया है। **अव्यक्तकाल से पीड़ित व्यक्तकाल ही कालात्मक प्राजापत्यसर्ग का चिरन्तन इतिवृत्त है,** जिस का राजर्षि ने इन शब्दों में संस्मरण किया है—

> **एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, मां चाचिन्त्यपराक्रमः।**
> **आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन्॥** (मनुः १।५१)

१५६–अनन्तब्रह्म--अनन्तकाल--व्यक्तकाल--मनु, एवं भूत--भौतिक विकारों का स्वरूप--दिग्दर्शन·—

राजर्षि कहते हैं कि, "इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इस सम्पूर्ण भूत--भौतिक विश्व को, तथा विश्व की केन्द्रप्रतिष्ठारूप मुझे (मनुतत्त्व को) उत्पन्न कर अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–पराक्रम–महिमा–शाली वह तत्त्व पुनः अपने आत्मस्वरूप में हीं अन्तर्लीन होगया काल से काल को पीड़ित करता हुआ"। बड़ा ही रहस्यपूर्ण, अतएव अत्यन्त ही दुर्बोध्य है राजर्षि का उक्त आर्ष वचन। **अचिन्त्यमहिमा–शाली तत्त्व, मनुतत्त्व, सृष्टिप्रपञ्च, सृष्टि का प्रवर्त्तक कालतत्त्व, सृष्टि का स्वरूपव्यवस्थापक कालतत्त्व,** ये पाँच प्रकम लक्ष्य बने हुए हैं उक्त वचन के। दिक्–देश–प्रदेशात्मक भूतभौतिक प्रपञ्च ही 'सृष्टिप्रपञ्च' है, जिस के लिए **'इदं'** रूप से अङ्गुलिनिर्देश हुआ है–(सृष्ट्वेदम्)। इस सृष्टिप्रपञ्च का मूलधार–केन्द्रप्राण ही **'मनु'** है, जिस के रश्मिभोगात्मक **'मन्वन्तर'** से ही सर्गपरम्पराएँ व्यवस्थित हुईं हैं, जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में मन्वन्तरानुगत–कालगणन–प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। मन्वन्तरप्रवर्त्तक हृत्प्राणात्मक इस मनु के लिए ही राजर्षिने अपने आप को उसका नैदानिक प्रतीक मानते हुए **'मां'** कहा है। दिक्–देश–प्रदेशात्मक **वस्तुभावलक्षण सर्ग** का आदिभूत दिग्भाव ही छन्दोरूपा व्यक्ता सीमा है, और यही है व्यक्त–मूर्त्तकाल, जो विष्कम्भ–परिणाहादि–धर्म्मों से मानो पीड़ित होता हुआ ही उत्तरोत्तर संसृष्टिभाव में परिणत होरहा है। बलों का उत्तरोत्तरभावी दृढ–दृढतर–दृढतम–ग्रथिबन्धन ही संसृष्टिरूप सृष्टिधर्म्म है। यह बलग्रन्थिबन्धनता ही व्यक्तकाल का उत्पीड़न है, जिस से यह अपने मूलभूत–उन्मुक्त–विकसित तत्स्वरूप से आवृत होरहा है।

इसी पीड़ित (बलग्रन्थि से अनुगत) व्यक्तकाल के लिए 'कालम्' यह द्वितीयान्त पद प्रयुक्त हुआ है। स्वयं वह–अव्यक्त–अमूर्त–ग्रन्थिबन्धनभाव से असंस्पृष्ट, किन्तु ग्रन्थिबन्धनप्रवर्त्तक काल का प्रेरकाधार काल ही यहाँ–'कालेन' इस तृतीयान्त पद से परिगृहीत है, जिस की आराधना का ही हम उपक्रम करने जारहे हैं। पीड़ित होता है व्यक्त लोककाल, एवं इसे पीड़ित करने वाला काल है अव्यक्त–अमूर्त-लोकातीत काल।

अब शेष रह जाता है महामहिमशाली–अचिन्त्यपराक्रम वह तत्त्व, जिसे इस अव्यक्तकाल से भी अतीत एक पृथक् तत्त्व घोषित किया है राजर्षिने, जो अपने एकांशरूप अव्यक्त-काल से व्यक्त–काल के परिपीड़न–द्वारा सम्पूर्ण सर्ग का सर्ज्जन कर स्वयं अपने अंशी–अनन्त विभूतिभाव में विलीन होजाता है, सदा ही विलीन ही रहता है। यह अचिन्त्यतत्त्व है वह अनन्त–अपरिमेय–सनातन–मायातीत–परात्पर परमेश्वर ब्रह्म, जिसकी अनन्तता के तटस्थ समन्वय के लिए ही यहाँ तत्प्रतीकभूत अनन्त–अव्यक्त–काल की आराधना प्रक्रान्त हो रही है। तत्त्वभाषानुसार–**मायातीत परात्पर परमेश्वर ही अचिन्त्यपराक्रम तत्त्व है। षोडशीप्रजापति नाम से उपवर्णित वृक्ष इव स्तब्ध महामायी महेश्वराव्यय ही अनन्त–अव्यक्तकाल है। इस महेश्वराव्यय का परिवर्त्तनशील आत्मक्षरब्रह्म हीं व्यक्तकाल है, जो गुणाणुरेणुमहा–भूतादि परम्परया व्यक्तसृष्टि का सर्ज्जक बन रहा है। एवं विकारक्षरात्मक-भूतभौतिक प्रपञ्च ही 'इदं' रूपेण निर्दिष्ट सृष्टिप्रपञ्च है**। यों मनुने एक वचनमात्र से पाँच विवर्त्तों के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान का संग्रह कर लिया है, इति नु आर्षवचनानां महनीयं गरिमा–महिमा–महदाश्चर्य्यान्विता मुकुलितनयनैः-प्रज्ञाशीलै-रेवाकलनीया।

१–अचिन्त्यपराक्रमः कश्चित्	—मायातीतः--परात्परः--अनन्तब्रह्म
२–'कालेन' इति तृतीयान्तेन सूचितः कालः कश्चित्	—मायीमहेश्वरः-अव्ययः-अनन्तकालः
३–'कालम्' इति द्वितीयान्तेन सूचितः कालः कश्चित्	—योगमायी—आत्मक्षरः-व्यक्तकालः
४–'मां' रूपेण सूचितः-मनुः कश्चित्	—हृद्यः-अव्यक्तमूर्त्तिः-—मनुः
५–'इदं' रूपेण सूचितः सर्गः कश्चित्	—वैकारिकभूतभौतिकभावाः

१५७–अचिन्त्य-पराक्रमशाली अनन्तब्रह्म के एकांश से आविर्भूत सर्वप्रपञ्च—

सबकुछ है उसी अचिन्त्यपराक्रम के एकांश से महिमारूपेण आविर्भूत। किन्तु वह अपने महिमारूप एकांश से सबकुछ आविर्भूत कर आविर्भावानन्तर आविर्भूत सर्गधारा-परम्पराओं को यथापूर्व प्रक्रान्त रखने का उत्तरदायित्व अपने प्रतीकभूत अनन्तकाल के ऊपर छोड़ कर स्वयं अपनी अनन्तमहिमा में हीं विलीन रहता है। एवं इस अद्भुत–अप्रतर्क्य–अचिन्त्य तत्त्व का ही तटस्थ नाम है अनन्तब्रह्म, जिस के आनन्त्यानुमान के लिए तत्प्रतीकरूप अव्यक्तकाल की आराधना हीं पर्य्याप्त होगी मानवप्रज्ञा के लिए, **इतिनु कालाय तस्मै नमो नमः–महेश्वराय अव्ययात्ममूर्त्तये**।

१५८–एकांशरूप अनन्तकाल के माध्यम से सृष्टि के मूलबीजरूप 'शुक्रम्' का संस्मरण—

अचिन्त्यपराक्रमशाली अनन्तब्रह्म का वह एकांश कौनसा है, जिसे अग्रणी बना कर वह अपने महिमात्मक विवर्त्त से विश्वरूप में परिणत होकर अपने अनन्तरूप से स्वयं अपने आप में हीं विलीन हो

जाता है ?, इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाला 'एकांश' ही अव्यक्त–अनन्तकाल है, जो व्यक्तकाल के परिपीड़न से विश्वरूप में परिणत हो रहा है। इस के स्वरूप--दिग्दर्शन के लिए ही पूर्व में चार लोकों का दिग्दर्शन कराया गया है, जिन चार लोकों में सर्वान्त का चौथा लोक माना गया है आपोमय परमेष्ठी, जो कि पितृप्राणमय है। अब इस दिगात्मक आपोलोक को, किंवा आपोमय परमेष्ठी को आधार बना कर ही हमें अव्यक्तकाल की स्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है। इस आपोलोक का पारिभाषिक नाम है--'**शुक्रम्**', जिसका अर्थ है--'**बीज**'। वह बीज, जो अपनी महिमा से संसारमहीरुह (संसारवृक्ष) रूप में परिणत होने वाला है, जिसका कि ऋषिने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपं, आपो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं, सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥

—गोपथब्राह्मण पूर्वभाग ./ १।३९।

१५६–भृग्वङ्गिरोमय शुक्रबीज के द्वारा कालसाक्षी में लोकसर्ग का आविर्भाव—

शुक्ररूप आपः तत्त्व अपनी मौलिक बीजावस्था में जहाँ भृग्वङ्गिरोरूप है (भृग्वङ्गिरोघन है), वहाँ यही वृक्षावस्था में (सृष्टिस्वरूपावस्था में) भृग्वङ्गिरोमय है। * '**सर्वमापोमयं जगत्**' का अर्थ है--'**सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्**'। सम्पूर्ण विश्व भृग्वङ्गिरोरूप आपः का ही वैकारिक विवर्त्त है। स्नेहगुणक सौम्य भृगुतत्त्व, एवं तेजोगुणक आग्नेय अङ्गिरातत्त्व, दोनों ही लोकात्मक विश्व के उपादानकारण हैं, जैसाकि **सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या** में विस्तार से उपबृंहित है। कारणदशा में भृग्वङ्गिरोरूप आप: 'शुक्रम्' कहलाया है, एवं कार्य्यदशा में यही शुक्र भृग्वङ्गिरोमय बन रहा है, जिस इस भृग्वङ्गिरोरूप--शुक्रात्मक--बीजात्मक आप: के गर्भ में भृगु--अङ्गिरा को अपनी आश्रयभूमि बनाते हुए ऋक्--यजुः--साम--नाम के वे तीनों पौरुषेय वेद प्रतिष्ठित हैं, जिनका छन्द:--रसः--वितानम्--रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है, एवं जिसे ही हमनें--लोकात्मक--पौरुषेय--गायत्रीमात्रिकवेद कहा है। भृग्वङ्गिरोरूप, एवं भृग्वङ्गिरोमय--स्नेह--तेजोगुणक--अग्नि--सोमात्मक–आपोमय इस पारमेष्ठ्य शुक्र से तद्गर्भीभूता 'गायत्रीगात्रिक' नाम की त्रयीविद्या से कैसे विश्व का स्वरूप–सम्पादन होता है ?, प्रश्न की मीमांसा प्रस्तुत निबन्ध के प्रथमखण्ड की–'**विश्वस्वरूपमीमांसा**' में विस्तार से की जाचुकी है। शुक्रमूलक आथर्वण–विश्वसर्ग के यथावत् समन्वय के लिए तो कालप्रेमी पाठकों को कालस्वरूपाराधन से पूर्व उसी प्रकरण को एकबार अवधानपूर्वक लक्ष्य बना लेना चाहिए।

---

* **अप्सु तं मुञ्च, भद्रं ते, लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।**
आपोमयाः सर्वरसाः,–'सर्वमापोमयं जगत्' ॥ —महाभारते

१६०–शुक्र के द्वारा अस्त्वण्ड-पोषाण्ड-यशोऽण्ड-रेतोऽण्ड-नामक चतुर्विध ब्रह्माण्डों का आविर्भाव—

पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय शुक्र से ही सर्वप्रथम उस **'अण्ड'** भाव का उदय होता है, जिससे विश्व-महिमामण्डल–'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह वही अण्ड है, जो प्रजापति के **'अस्तु'** कहने मात्र से **'अस्त्वण्ड'** बन रहा है, **'पुष्यतु'** कहने से–**'पोषाण्ड'**, **'यशो बिभृहि'** कहने से **'यशोऽण्ड'**, एवं–**'रेतो बिभृहि'** कहने से **'रेतोऽण्ड'** रूप में परिणत होता हुआ चार आण्डविवर्त्तों का संग्राहक प्रमाणित हो रहा है। इसप्रकार भृग्वङ्गिरोमय–पारमेष्ठ्य–'आपः'–शुक्र के आधार से ही चतुर्विध अण्डभाव निष्पन्न हो रहे हैं। यही **आण्डसृष्टि** का स्वरूप–दिग्दर्शन है, यही **चतुर्लोकसृष्टि** है, यही शुक्रमूला **मैथुनीसृष्टि** है, यही **शुक्रसृष्टि** है, जिसकी अण्डता त्रिकेन्द्रभाव पर ही प्रतिष्ठित मानी है वैज्ञानिकोंनें।

१६१–अक्ष-दक्ष-क्रान्ति-नामक-विवर्त्तों के द्वारा दीर्घवृत्त की अण्डवृत्तता का स्वरूप-समन्वय, एवं 'ब्रह्माण्ड' शब्द का वाच्यार्थ—

लोकप्रसिद्ध वह 'अण्डा' ही अण्ड है, जो लम्बाकार बनता हुआ मध्य में बड़ा होता है। जो स्वरूपस्थिति लोकप्रसिद्ध 'अण्डे' की है, प्रतीकन्याय से ठीक वही स्थिति त्रिकेन्द्रात्मक ब्रह्म के अण्ड की है। तीन वर्त्तुल (गोलाकार) वृत्तों को (पारस्परिक संस्पर्शभाव से) रख लीजिए। इन तीनों की परिधियों का स्पर्श कराते हुए एक मण्डल बना दीजिए। यही मण्डल **'दीर्घवृत्त'** कहलाया है, एवं इसीका नाम **'अण्डवृत्त'** है। पार्थिव-सम्वत्सरमूलक **अक्षवृत्त**, चान्द्रसम्वत्सरमूलक दक्षवृत्त, एवं सौरसम्वत्सरमूलक क्रान्तिवृत्त, इन **अक्ष–दक्ष-क्रान्ति**–नामक तीनों वृत्तों के त्रिकेन्द्रों से कृतरूप आपोमय परमेष्ठी के शुक्रभाव से समन्वित वृत्त का नाम हीं **'दीर्घवृत्त'** है, जो आण्डवृत्त कहलाया है, एवं इसी से विश्व 'ब्रह्माण्ड' कहलाया है, जिस के पारमेष्ठ्य सम्बन्ध से चार विवर्त्त हो रहे हैं। अतएव च एक ही ब्रह्माण्ड के चार अण्डवृत्त सम्पन्न हो रहे हैं, और यही चतुरण्डात्मिका चतुर्लोकसृष्टि का संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त है। स्वतन्त्र है यह विषय, जिसके समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र निबन्ध ही अपेक्षित है। प्रकृत में केवल तालिका उद्धृत करदी जाती है, जिसके माध्यम से प्रज्ञाशीलों को स्वयं ही अण्डविद्या के समन्वय में प्रयत्नशील बने रहना चाहिए।

ब्रह्म वै स्वयम्भूः–प्रजापतिरनन्ताव्यक्तकालमूर्त्तिः-वृत्तौजाः–नात्र अण्डभावः					
(१)	(२)	(३)	(४	प्रजापतेः स्वयम्भुब्रह्मणः–इमानि–अण्डानि इति–समष्टिरेव ब्रह्माण्डम्	गायत्रीमात्रिकवेदात्मको व्यक्तकालः–तस्यैतद्–विवर्त्तं–ब्रह्माण्डम्
(१) अग्निः	वायुः	आदित्यः	परमेष्ठी		
(२) अश्वः	वयांसि	अश्मापृश्निः	नक्षत्राणि		
(३) पृथिवी	मरीचयः	रश्मयः	अवान्तरदिशः		
(४) पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौः	दिशः		
(५) वाक्साहस्री	गौसाहस्री	द्यौसाहस्री	आपः		
(१) अरत्वण्डम्	(२) पोषाण्डम्	(३) यशोऽण्डम्	(४ रेतोऽण्डम्		
पार्थिवसम्वत्सरानुगतं	चान्द्रसम्वत्सरानुगतम्	सौरसम्वत्सरानुगतम्	परमेष्ठ्यनुगतम्		

१६२–ब्रह्माण्डप्रवर्त्तक-कारणभूत-कालात्मक ब्रह्म की असद्रूपता का समन्वय—

अण्डसृष्टि के मूलबीजात्मक आपोमय–पारमेष्ठ्य–'शुक्र' का उपादानकारण कौन ?, यह सहज प्रश्न उपस्थित है पूर्वोक्त वैकारिक–चतुर्लोकात्मक–अण्डचतुष्टयात्मक शुक्रात्मक सर्ग के सम्बन्ध में, जिस प्रश्न का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, जिस ब्रह्म के शुक्रमूलक चार अण्ड हैं, जिस ब्रह्म के सम्बन्ध से (समन्वय से–**'तत्तु समन्वयात्'**–व्याससूत्र) अण्डरूप विश्व **'ब्रह्माण्ड'** कहलाया है, वह 'ब्रह्म' क्या वस्तु-तत्त्व है ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए हमने पूर्व में–**'ततः स्वयम्भूर्भगवान्–अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्'** इत्यादि वचन का संस्मरण किया है (देखिए पृ० सं० ८८)। स्मृत्याधारभूत श्रुतिशास्त्र उस अव्यक्त–अचिन्त्य-कारणब्रह्म का अव्यक्तभाषा के द्वारा ही स्वरूपोपवर्णन करता हुआ कहता है–**'असद्वा इदमग्र आसीत्'**। अर्थात् "-'इदं' **रूपेण अभिनीयमान यह अण्डात्मक–लोकात्मक–विश्वविवर्त्त अपने इस मूर्त्त-व्यक्त–भौतिक–स्वरूप से पूर्वदशा में असत् ही था।"** अव्यक्तधर्म्म के कारण ही वह मूलकारण 'असत्' कहलाया है, जो अपनी इस व्यक्तमूला अमूर्त्तभावात्मिका अनन्तता के कारण हीं व्यक्ता मानवप्रज्ञा

के लिए सर्वथा तमोभूत (अज्ञात)–अप्रज्ञात–अलक्षण अप्रतर्क्य–अविज्ञेय–सर्वतः प्रसुप्तमिव–भावों से समन्वित मान लिया गया है । देखिए !

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १।५।)

१६३–असत् शब्द के तात्त्विक वाच्यार्थ का दिग्दर्शन—

प्रज्ञा से अतीत होने के कारण हीं तमोमय–अप्रज्ञात बने रहने वाले, अतएव अपने इस अव्यक्तरूप से ही–'असत्' नाम से व्यवहृत हो पड़ने वाले उस अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–अलक्षण–तत्त्व का उस ऋषिदृष्टिने क्या स्वरूपलक्षण किया है !, जो अपनी आर्षता से परोक्ष–अचिन्त्य–तत्त्वों का भी साक्षात्कार करने में समर्थ हैं *, प्रश्न का उत्तर है--**'ऋषितत्त्व'** । ऋषितत्त्व का अर्थ है–मौलिक विशुद्ध--**'प्राण'**, ऋषिप्राण का अर्थ है-**अव्यक्त-अक्षरात्मक-निरपेक्ष-गतितत्त्व**, जिस इस ऋषिप्राणरूप गतितत्त्व का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है छन्दोवेद-प्रसङ्गानुपात से । प्राणाक्षरमूर्त्ति यह अव्यक्त गतिभाव ही, किंवा निरपेक्ष गतिभावात्मक अव्यक्त--अमूर्त्त--प्राण ही वह 'असत्' तत्त्व है, जो अपनी सद्रूपा सद्घनता से--**'सामान्ये सामान्याभावः'** न्याय से--'असत्' कहलाने लग पड़ा है । 'सत्' ही इस 'असत्' का वास्तविक अर्थ है, जैसाकि **'सदेवेदमग्रे सोम्य असदासीत्'** इत्यदि वचनान्तर से स्पष्ट है । यही वह मूलब्रह्म है, जिसके द्वारा पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोमय शुक्र के माध्यम से लोकसृष्टि का वितान हुआ है । चतुर्लोकात्मक ब्रह्माण्ड का मूलकारणभूत ब्रह्म 'असत्' नामक 'ऋषिप्राण' है, जो कि सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) बल के द्वारा 'स्वयम्भू' रूप से सर्वप्रथम आविर्भूत होता है । स्वयं अपने स्वरूप से, विशुद्ध प्राणरूप से अभिव्यक्त होने के कारण हीं यह असत्प्राण-**'स्वयं भवति'** निर्वचन से--'स्वयम्भूः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । अभिव्यक्ति से पूर्व जो 'असत्' कहलाया है, निरपेक्षा प्रथमा अव्यक्तभावात्मिका अभिव्यक्तिदशा में वही 'स्वयम्भूः' कहलाने लगता है, यही तात्पर्य्य है ।

१६४--लोकातीत-अमूर्त्त-अव्यक्त-अनन्त-वेदमूर्त्ति कालपुरुष के महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

तत्त्ववेदपरिभाषा में असन्मूलक इस प्राणमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का ही नाम है-**'ब्रह्मनिःश्वसितवेद'**, जो किसी मायोपाधिक पुरुष से उत्पन्न होने के कारण अपने नित्य महिमाभाव से 'अपौरुषेय' ही कहलाया है । अण्डभाव का ही नाम 'पुर' है, पुर से सीमित प्राण ही पुरुष है--'पुरि शेते' निर्वचन से । असत् नामक मौलिक प्राण अपने वैय्यक्तिक स्वरूप से अण्डात्मक पुर से असंस्पृष्ट है अण्डसृष्टि की पूर्वदशा में । अतएव उसे अपुरुषविध ही कहा जायगा, एवं इस अपरुषतालक्षणा--निःसीमता से ही उसे **'ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेद'** माना जायगा तत्त्वभाषाप्रसङ्ग में । **अमूर्त्त** है यह ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्व । आण्डभावात्मक चारों लोकों से अतीत रहता हुआ **लोकातीत** है यह प्राणब्रह्म । अण्डरूपा पुरसीमा से असस्पृष्ट रहता हुआ अपुरुषविध

---

* **अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।**
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥